दो शब्द

सोमा बहन की इन कहानियों के लिए दो शब्द लिखने का जो अवसर प्राप्त हुआ उससे मुझे बहुत हर्ष हुआ। इसलिए अधिक हुआ कि नारी की लेखनी से निकली हुई नारी-हृदय की अभिव्यक्ति को इतने सरल और आडम्बरहीन रूप में देख पाया। 'धरती की बेटी' में सोमा बहन की ३३ कहानियाँ संगृहीत हैं। इन कहानियों में हिन्दू मध्यवित्त परिवार की नारी के अपमान, वेदना और पीड़ा के जो चित्र उभरे हैं वे मर्म को छूते हैं। नारी के इस दुखद इतिहास का वे जिस प्रभावशाली ढंग से चित्रण कर पाई हैं उतना शायद इतिहासकार नहीं कर पाता। उसके लिए सम्भव ही नहीं है। लेकिन ये कहानियाँ विवशता का चित्रण ही नहीं करतीं, विवशता से लोहा लेने की प्रेरणा भी देती हैं। वस्तुतः वह नवयुग के प्रकाश और शक्ति की सन्देश-वाहिका हैं।

हिन्दू घर में नारी को पत्नी के रूप में, बहू के रूप में, माँ के रूप में, सन्तान के रूप में जो लांछना पिछले युग में सहनी पड़ती थी या आज भी गाँवों और कस्बों में सहनी पड़ती है, उसका जितना परिचय नारी लेखिका को हो सकता है उतना किसी और को नहीं। ये कहानियाँ इस बात का प्रमाण हैं। लेकिन सोमा बहन हार मानने में विश्वास नहीं करतीं। वह चुनौती को स्वीकार करती हैं। उनकी लेखनी में जीने की तीव्र आकांक्षा है। इसीलिए वह प्रहार करती हैं। भले ही इन कहानियों में संघर्ष की उतनी पीड़ा न हो जितनी परिस्थितियों के दर्शन की लेकिन परिस्थितियों पर जय पाकर सोमा बहन की कहानियाँ सजल और सशक्त हो उठती हैं। 'सीमा' इसका स्पष्ट प्रमाण है। इस कहानी में सेठ निरंजनलाल अपनी क्रय करने की शक्ति के आधार पर एक नवयुवती सीमा को बुढ़ापे में पत्नी के रूप में वरण कर लाते हैं। घर में नवयुवक पुत्र भी है। ऐसी स्थिति में क्या हो सकता है उसकी कल्पना की जा सकती है। 'सीमा' को आत्महत्या की राह अपनानी पड़ती है। लेकिन लेखिका

जैसे इससे मर्माहत हो उठी। पुत्र के मुँह से वह कहलवाती है, 'उस चि
पिटी प्रथा का अनुसरण कर आत्महत्या की यह निकृष्ट राह अपना तुम
कौन-सा नूतन कार्य किया है! बोलो, तुम्हारे इस कृत्य का महत्त्व क्या है
जानती भी हो जब-जब वेदना का भार असह्य हो उठेगा अन्य कुलशील बाल
इसे सरल पथ समझ सहर्ष अपनाने को प्रस्तुत हो उठेंगी। बोलो माँ, बोल
क्यों किया तुमने ऐसा?...अपनी आँखें तुम फोड़ डालतीं तो दूसरे की आँखों
सहारे देख सकती थीं। अपने पैर काट डालतीं तो दूसरे पैर लगाये जा सकते
पर तुमने तो जिन्दगी के पैर ही काट डाले। बोलो माँ, बोलो, क्यों किया तुम
ऐसा! यदि तुम जीवित रहतीं तो...'

लेकिन माँ नहीं बच सकी। चली गई। और वह सौतेला पुत्र इत
पागल हो उठा कि उसने अपने पिता के सिर में पीतल का लोटा मारा
इतनी बार मारा कि उनके प्राण निकल गए। मानो लेखिका ने हिन्दू ना
की विवशता की हत्या कर दी।

अधिकांश कहानियों में दिन-रात के, घर गृहस्थी के जीवन की सरल झाँकि
हैं। ये झाँकियाँ मन को झकझोरने वाली हैं। हर कहानी नारी की विजय व
कहानी है। यह विजय आक्रोश और संघर्ष में से होकर कम है, हृदय-परिवर्तन
अधिक है। दुष्ट से दुष्ट चरित्र नारी के त्याग-तपस्या के सामने जैसे अन्त
पिघल जाता है; जैसे 'राख की पुड़िया' में सेठजी, 'अधूरी गाँठ' में रमेश, 'आत्म
हत्या' में सुमन्त, 'बिन्दिया' में सेठ किशोरीलाल, 'स्वर्ण दीप' में हिमांशु। य
हृदय-परिवर्तन इन कहानियों की सफलता भी है और दुर्बलता भी।

इस संग्रह की सशक्त कहानियों में हम 'सीमा', 'डगमगाते चरण'
'अवगुंठन', 'मिट्टी के खिलौने', 'बिन्दिया', 'लाल बोतल, पीले पत्ते' 'सुभागी'
'भग्न स्वप्न' और 'धरती की बेटी' आदि का नाम निस्संकोच ले सकते हैं।
'डगमगाते चरण' की रेणु शक्ति, साहस और स्नेह की मूर्त्तिमती प्रतिमा है
उसका सरल अदम्य विश्वास प्रगति और जीवन का प्रतीक है। उसके पति
के शब्दों में, 'बोलो, क्या बात है कि तुम्हारे मुख पर दृष्टि पड़ते ही मेरी
सारी व्यथा खो जाती है। तुम्हारी दृष्टि से दृष्टि मिलते ही मेरा मन कर
लगता है कि मैं बड़प्पन भूल बच्चों के समान तुम्हारे संग शरारत करने लगूँ।
इसी प्रकार 'अवगुण्ठन' में भाग्य की विडम्बना से डाकू जिसे ले भागे उसी नारी

की पीड़ा और त्याग की कथा लेखिका ने कही है। सुनन्दा और शान्ता में किसका त्याग बड़ा है यह निर्णय करना बड़ा कठिन है 'मिट्टी के खिलौने' में गरीब की बेटी कुन्द्र का सहज दर्प प्रकट हुआ है। 'सुभागी' उच्चवर्गीय समाज की नग्न क्रूरता की प्रतीकात्मक कथा है। बड़ी मार्मिक, बड़ी करुण।

कुछ कहानियाँ झाँकी-मात्र हैं लेकिन इन कहानियों का एक गुण यह है कि ये अन्त में उपदेश देने का प्रयत्न नहीं करतीं। विचार प्रधान है, घटना गौण। कहानी ऐसे स्थान पर समाप्त हो जाती है कि पाठक सोचता ही रह जाता है—आगे क्या हुआ। इन कहानियों में अनेक दुर्बलताएँ दिखाई दे सकती हैं लेकिन वे दुर्बलताएँ ऐसी नहीं हैं कि नजर-अन्दाज न की जा सकें। मूल रस को वे कहीं खण्डित नहीं करतीं।

सभी कहानियाँ नारी को लेकर ही हों, यह बात नहीं है। उदाहरण के लिए 'अम्मा, पापा कटारे ले!' अबोध शिशु के अकृत्रिम और अगाध स्नेह की बड़ी मार्मिक कहानी है। अनायास ही वह रूठे हुए माँ-बाप को पास लाने का कारण बन जाती है।

कहानियों में व्यंग्य की कमी भी नहीं है। भाषा सरल, अकृत्रिम और छटा के यत्न से अछूती है इसीलिए गहरा प्रभाव छोड़ती है। अभिव्यक्ति में भी व्यर्थ का आवेश नहीं है, अतिरेक और आडम्बर भी नहीं है इसीलिए वे अनायास ही मन को छू जाती हैं। ये कहानियाँ पढ़कर चित्त उदात्त होता है। लगता है जैसे स्वस्थ लेखनी से निकले कुछ प्रेरणादायक चित्र देख लिए हों। वस्तुतः सरलता इन कहानियों की बहुत बड़ी शक्ति है। इसीलिए यह विश्वास और भी प्रबल होता है कि लेखिका का भविष्य उज्ज्वल है। वह कई वर्षों से अमेरिका में अध्ययन कर रही हैं। उनका जीवन संघर्षों के बीच से गुजरा है। अपने पैरों पर खड़े होकर उन्होंने अन्धकार के बीच से राह बनाई है। ये सब अनुभूतियाँ और नई दुनिया के नए चित्र उनकी अगली कहानियों को और भी सशक्त बना देंगे इस आशा के साथ हम लेखिका को बधाई देते हैं। प्रकाशक भी बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने नारी-हृदय के ये सरल चित्र पाठकों तक पहुँचाने में सहायता की।

२४. अवगुंठन २०३
२५. स्वर्ण-दीप २१७
२६. घर की लाज २२७
२७. डगमगाते चरण २३५
२८. अम्मा, पापा कटारे ले ! २५०
२९. भाई-बहन २५८
३०. राख की पुड़िया २६५
३१. जन्म-कुण्डली २७५
३२. भग्न स्वप्न २८८
३३. धरती की बेटी २९६

दीदी रात रोई थीं। रात ही नहीं, कल दिन में भी, परसों भी, उससे पहले दिन भी, और अब भी वह रो रही हैं।

सदा हँसने वाली मेरी दीदी आजकल दिन-रात गुमसुम रोती क्यों रहती हैं?

कल रात वह जँगले के सहारे खड़ी सामने बहती गंगा की ओर ताक रही थीं—चुपचाप, एकटक। न जाने क्यों उन्हें देख मुझे उन लक्ष्मीजी की याद आ गई जिन्हें हम दीवाली पर धूमधाम से पूजते हैं। उतनी ही सुन्दर, उतनी ही मौन, मानो कोई जोगन हों।

ऐसा पहले तो कभी न होता था। वह धीरे से झुकीं···और झुकीं···और··· और एकाएक मुझे लगा कि वह अभी सामने बहती गंगा में लुढ़क पड़ेंगी।

क्या दीदी सो रही हैं? बेहोश हैं? क्यों वह ऐसे आगे को झुकती ही चली जा रही हैं? सामने कलकल बहती गंगा क्या उन्हें दिखाई नहीं देती?

एकाएक मुझे याद आ गई, कुछ दिन पहले की वह बात···

डूबता, उतराता वह आदमी बीच धार में बहा जा रहा था। "बचाओ! बचाओ! हाय, मैं मरा! बचाओ!" कितनी दर्दनाक थी वह पुकार, पीछे-पीछे एक नाव भागी आ रही थी—पानी को चीरती हुई। उसमें बैठे आदमी रस्से फेंक रहे थे, चीखकर न जाने क्या-क्या कह रहे थे, एक आदमी नंगे बदन तैरता चला आ रहा था। लगा कि अब वह उस डूबते आदमी को पकड़ लेगा, पर न जाने कैसे उसका हाथ छूट गया। लगा कि पानी का बहाव और भी तेज हो गया है। तभी हमारा तेजा भागा-भागा आया और छलाँग मार धड़ाम से नदी में कूद पड़ा। तभी बारिश आ गई, एकदम जोर से।

हम किनारे खड़े देखते रहे, जब तक वे आँखों से ओझल न हो गये। माँ ने भीगने पर मारा नहीं, डाँटा तक नहीं। आँखें पोंछती अन्दर चली गईं।

घण्टे-भर बाद तेजा लँगड़ाता हुआ लौट आया—तर-बतर। हाँफता हुआ बोला, "बच गया, माँजी।"

ओह! क्या मेरी दीदी भी?

मैं डर गया, घबरा गया। पुकारा, "दीदी

वह शायद सच ही सो रही थीं। एकदम चौंक उठीं और भागते हुए आकर

मुझे गोदी में उठा लिया।

"क्या है, बिन्नू? क्या है, भैया?"

"कुछ नहीं।" मैंने उनकी गोदी में मुँह छिपा लिया। दीदी से कहूँ कि मैं डर गया था तो मेरा मजाक उड़ायेंगी।

"बिन्नू, आज मैं तेरे पास सोऊँगी।" वह बोलीं।

मेरा दिल बल्लियों उछलने लगा, पर गुस्सा भी आया। कल मैंने कहा था तब मना कर दिया था। पूछा, "क्यों?"

दीदी तनिक हँसीं। बोलीं, "मुझे डर लगता है, रे!"

"डर? किससे?"

"अपने आपसे।"

अपने आपसे? क्या दीदी पहेली बुझा रही हैं? पर उन्होंने शायद सुना नहीं। मेरा सिर अपनी बाँह पर रख हौले-हौले गुनगुनाने लगीं मेरा प्यारा गीत।

* * *

दीदी आजकल पहेलियों में बातें करती हैं। हँसती हैं तो न-जाने कैसा डर-सा लगता है। माँ बात-बात पर बिगड़ती हैं। पिताजी हर समय किसी न किसी को डाँटते रहते हैं। भैया अलग मुँह फुलाये घूमते हैं। क्या हो गया है आजकल सबको!

न-जाने मुझे कैसा लगता है, खेलने में मन नहीं लगता, पाठ याद नहीं होता, खाना कड़वा लगता है। क्यों नौकर लोग दिन-रात कानाफूसी करते रहते हैं? मुझे देखते ही चुप हो इधर-उधर खिसक जाते हैं। पहले तो ऐसा कभी न होता था।

अक्सर दोपहर को मैं दीदी के पलंग के नीचे छिप जाता हूँ। यहाँ लेटना मुझे बड़ा अच्छा लगता है।

अक्सर दीदी मौज में आ गुनगुनाने लगती हैं, और तब न-जाने कैसे मुझे नींद आ जाती है। दीदी मुझे देख लेती हैं, तो हँसकर गाल पर चपत लगाकर कहती हैं, "शैतान, ऊपर पलंग पर नहीं सोया जाता तुझसे?"

और कभी-कभी मैं निवाड़ में दोनों पैर लगाकर उचका देता और दीदी चौंक जातीं। छलाँग लगाकर पलंग पर से कूद पड़तीं और कहतीं, "चोर! चोर!"

तब मैं हँसता हुआ नीचे से झाँकने लगता और दीदी देखकर खिलखिला उठतीं। कहतीं, "तू था, पाजी! मैंने समझा कोई चोर है।"

मैं कहता, "चोर होता तो क्या करतीं, दीदी?"

दीदी गरदन मटकाकर कहतीं, "क्या करती? तुझे पुकार लेती। तू अपनी बन्दूक से उसे मारकर क्या अपनी दीदी की रक्षा नहीं करता?"

"क्यों नहीं! मैं उसे एक ही गोली से ठाँ कर देता।" तब दीदी हँसते-हँसते लोट-पोट हो जातीं।

बात-बात पर फुलझड़ी-सी बिखरने वाली मेरी दीदी रो रही हैं। मेरा मन नहीं करता कि कोई शरारत करूँ।

संघर्ष

अरे ! यह क्या ? यह तो भैया के पैरों की आवाज है । हाँ, वही तो हैं । दीदी की सिसकियाँ एकदम थम गईं मानो किसी ने लैमनेड की उफनती हुई बोतल में डाट लगा दी हो ।

कमरे में सन्नाटा छा रहा है, मुझे बड़ा डर लग रहा है । इतना डर तो तब भी नहीं लगा था जब भैया पिताजी से ऐसे बोल रहे थे मानो लड़ रहे हों ।

अचानक भैया बोले, "अपने बाप-भाई की करतूत का बदला खूब ले रही हैं माँ हमसे ।"

* * *

दीदी एकदम से उठ बैठीं । "भैया, ऐसे नहीं कहते । कुछ भी हो, वह हमारी माँ हैं ।"

"माँ !" भैया ने मुँह बिचकाकर कहा, "हमारी माँ तो कब की हमें छोड़-कर चली गईं । क्या जरूरत थी हम दोनों के रहते पिताजी को दूसरी शादी करने की ?"

"भैया, आज तुम्हें हो क्या गया है ? तुम तो कभी ऐसी बातें न सोचते थे । वह हमारे पिता हैं, पूज्य हैं । उनकी आलोचना करने का अधिकार हमें नहीं है ।"

"अधिकार ! " भैया हँसे—"अधिकार भीख माँगने से नहीं मिलता, रेणु । अधिकार पाने के लिए लड़ना होता है ।"

"किससे लड़ोगे ? पिताजी से, माँ से, जिन्होंने..."

भैया कुरसी के हत्थे पर हाथ मारकर गरज उठे, "जिन्होंने अपनी इकलौती बेटी को चालीस साल के बूढ़े पर बलि चढ़ाने में तनिक भी संकोच न किया मेरे दिल में आग जल रही है । रेणु, तेरी मीठी-मीठी बातों से यह बुझने वाली नहीं तू क्यों सिर झुकाकर यह अत्याचार सहन कर रही है ? क्यों नहीं सिर उठाकर कहती..."

"क्या कहते हो तुम ? क्या भारतीय नारी का यही आदर्श है ?"

"हाँ, हाँ, सब जानता हूँ—सीता की महिमा, सती का गौरव, शैव्या की गरिमा ! राम का स्वार्थ, शंकर का हठ, हरिश्चन्द्र की मूर्खता कहना क्या अधिक उचित न होगा ?"

"भैया !"

"युग बदलता है । युग के साथ-साथ विचार बदलते हैं । उस युग की शकुन्तला आज भी पूज्य मानी जाती है । उसके सम्मान में हमने अपने देश का नाम उसके वीर पुत्र के नाम पर रखा । पर आज की शकुन्तलायें समाज में मुख दिखाने का साहस तक नहीं कर सकतीं, आज के भरत सूर्य का प्रकाश देखने से पहले ही, अनन्त में विलीन हो जाते हैं !"

"पर भैया, मेरी भी तो सुनो ।"

"क्या सुनूँ ? आज हफ्ते-भर से तू जिस ज्वाला में जल रही है, क्यों मैं उस

अनभिज्ञ हूँ ? यदि बहन को सुखी तक न कर सका तो मेरा भाई कहलाना व्यर्थ है। मैंने आज पिताजी से कह दिया है। यदि हफ्ते-भर के अन्दर उन्होंने अपना विचार न त्यागा तो मैंने भी संकल्प कर लिया है कि हम दोनों भाई-बहन इस घर से निकल जायेंगे।"

"पर, भैया, तुम्हारा उज्ज्वल भविष्य ?"

"उज्ज्वल भविष्य क्या नरम-नरम गद्दों पर सोकर और दोनों समय चुपड़ी खाकर ही बनता है ? क्या तू भी भाग्य पर विश्वास करती है ? हमारे कर्म ही हमारा भविष्य बनायेंगे, रेणु। तू तैयार रहना, मैं यही कहने आया था।"

भैया खट-खट करते चले गये।

मेरा दिल धक-धक करने लगा। चले जायेंगे ? कहाँ ? क्यों ? क्या किया है माँ ने ? क्या किया है पिताजी ने ? क्यों भैया इतने नाराज हैं ? क्यों दीदी इतना रोती हैं ? मुझे इतना प्यार करती हैं, पूछने से क्या बतायेंगी नहीं ?

मैं चुपचाप बाहर निकलकर खड़ा हो गया। आज उन्होंने शैतान नहीं कहा। गाल पर चपत नहीं लगाया। मेरी ओर देखा तक नहीं। न-जाने कहाँ से मेरी आँखों में आँसू भर आये। पुकारा, "दीदी !"

उन्होंने घूमकर मेरी ओर देखा। देखते ही चौंक गईं, हाथ पकड़ उठाना चाहा, पर मैंने हाथ छुड़ा लिया।

"तुम इतना रोती क्यों हो, दीदी ? भैया तुम्हें कहाँ ले जा रहे हैं ? मुझे छोड़ जाओगी तुम ?"

"नहीं रे, जंगली !" उन्होंने जबर्दस्ती मुझे उठा गोदी में लिटा लिया—"मैं तुझे छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगी। रोता क्यों है, पगले ?"

"रोता हूँ ?" मुझे गुस्सा आ गया। "मैं कब रोया ? स्वयं तो दिन-रात रोती रहती हैं, दूसरे के सिर दोष मढ़ती हैं।"

"अच्छा, बिन्नू, तू मेरी जगह होता तो क्या करता ?"

गर्व से मेरी छाती फूल उठी। इस घर में जब-तब केवल दीदी ही मेरी सलाह लेती हैं। केवल वही जानती हैं कि मैं कितना बुद्धिमान् हूँ। और सब तो मुझे बच्चा समझते हैं।

"मान ले माँ तुझसे कहें कि पड़ोस के सुरेश से दोस्ती कर ले—तब ?"

"सुरेश से ?" मुझे गुस्सा आ गया, "उस चुगलखोर, झूठे, गाली बकने वाले बेवकूफ से ? माँ कभी ऐसा न कहेंगी।"

दीदी जरा हँसीं। "मान ले कहें—तब ? या सुरेश ही अड़ जाये—तब ?"

"तब ?" मैं सोच में पड़ गया—"तब मैं उसे एक खुट्टी का खत लिख दूँगा। जानती हो, दीदी, जब मेरी मुकुल से लड़ाई हो जाती है, तब एक कागज पर खुट्टी लिखकर मैं उसके डैस्क पर रख देता हूँ। फिर जब हमें दोस्ती करनी होती है, तो एक कागज पर लिख देते हैं : मेल—बस, झगड़ा खतम !"

आज बहुत दिन बाद दीदी हँसीं, वही पुरानी हँसी। बोलीं, "हाँ, रे, यदि मैं तेरे बराबर होती तो मैं भी यही करती, पर मुश्किल तो यह है···"

वह एकदम रुक गईं और सीधी हो उठ बैठीं। न-जाने क्या सोचने लगीं चुपचाप।

मैंने कहा, "दीदी, मैंने सुना है तुम्हारी भी शादी होगी। तेजा कह रहा था।"

दीदी की आँखों में फिर आँसू चमकने लगे। मुँह घुमाकर बोलीं, "जा रे, बिन्नू, भाग यहाँ से! मुझे पढ़ने दे।"

ओह! यह बात है! अब समझ में आया। शादी होगी, इसीलिए दीदी रोती हैं। पर क्यों? दीदी की सहेली की शादी थी तब वह कितनी खुश रहती थी।

दीदी की भी शादी होगी। बाजे बजेंगे। नये-नये कपड़े मिलेंगे, बढ़िया-बढ़िया मिठाई। पर दीदी इतना रोती क्यों हैं? रोयेंगी तो क्या मजा आयेगा!

* * *

मैंने कहा, "दीदी, तुम इतना रोती हो पर हमारे जीजा जी तो बहुत खुश हैं।"

"तुझे कैसे मालूम?"

"वाह! मालूम नहीं होगा! हमारे बसन्त के ही तो चाचा हैं वह। जानती हो, दीदी, बसन्त क्या कहता था? कहता था, तुम्हारी जीजी हमारी चाची बनेंगी। अब वह तुम्हें छोड़कर हमारे पास रहेंगी। मैंने उसे कसकर चपत लगाया और लँगड़ी देकर गिरा दिया। उसने मेरे से खुट्टी कर दी।"

दीदी बोलीं, "चल, पागल! जरा-सी बात पर कोई दोस्त से लड़ता होगा! कल ही दोस्ती कर लेना। और हाँ, बिन्नू, यदि मैं एक पत्र दूँ तो क्या बसन्त अपने चाचा को दे देगा?"

"क्यों नहीं देगा! जरूर देगा। मैं भी तो उसकी जीजी के लिये बाजार से आलू की चाट और पकौड़ी ला देता हूँ।"

"पर माँ को पता चल गया तो बहुत मारेंगी। वह मुझे किसी को पत्र नहीं लिखने देतीं।"

"वाह! पता चलेगा ही कैसे! मैं कहूँगा ही नहीं किसी से!"

दीदी चली गईं। कुछ देर बाद एक खत लिखकर मुझे दे दिया।

चिट्ठी लेकर मैं बाहर आया। चिट्ठी ठीक लिखी है या नहीं यह देखने को खत खोला तो चकरा गया। लिखा था:

"मान्यवर,

आप अवस्था में मुझसे बड़े हैं, पूज्य हैं। यह ढिठाई जो कर रही हूँ, उसे भूलकर, केवल एक बार ठंडे मस्तिष्क से सोचकर देखें कि जो-कुछ मैं कर रही हूँ, उसमें कितना तथ्य है, यही मेरी विनीत प्रार्थना है।

आदि युग से ही नारी पुरुष के संरक्षण में रहती है, और रहेगी। कारण ? केवल उसका शारीरिक दौर्बल्य।

पर युग बदलता है। उसके साथ-साथ समाज बदलता है, उसकी रीति-नीति, नियम बदलते हैं। यदि ऐसा न होता, तो आज भी लोग गुफा-कन्दराओं में रहते होते, और कच्चा माँस खाया करते। परिवर्तन में ही जीवन है।

युग-युग से सोई नारी की निद्रा आज टूट रही है। उसकी अलस अँगड़ाई से, सदियों पुरानी जंग-खाई बेड़ियाँ चरमरा रही हैं। हुँकार भरने की देर है, पुरानी श्रृंखलाएँ छिन्न-भिन्न हो बिखर जायेंगी।

समाज की ये खोखली दीवारें जब गिरेंगी, तब न-जाने कितने घायल होंगे, कितने चोट खायेंगे। अबला कहलाने वाली अजेय शक्ति की अपरिमित शौर्य-गाथा दोहराना आवश्यक नहीं। उसकी प्रशंसा स्वयं पुरुषों ने, अनेक बार, अनेक तरह से गाई है।

विवश हो नारी कभी-कभी आत्महत्या की बात सोचने लगती है। पर वह क्षणिक उत्तेजना तुरन्त ही दब जाती है। उसका कोमल हृदय सदा-सदा के लिए पितृकुल और पतिकुल पर काला धब्बा लगाने की कल्पना से ही सिहर उठता है।

नारी पराजिता है, पर कायर नहीं। वह जीते-जी सौ-सौ मौत मरेगी, पर मुख से उफ़ तक न करेगी।

पर क्यों सहे वह इतना अत्याचार, इतनी पराधीनता ? सहन की जब सीमा आ जाती है तब प्रकृति तक विद्रोह कर उठती है। रात्रि के घोर निस्सीम अन्धकार के बाद ही भोर का उजाला दीप्तिमान हो, उसका सारा कलुष धो-पोंछ साफ कर देता है।

एक प्रश्न का उत्तर यदि आप सच्चे दिल से दे सकें तो सारी नारी जाति, समस्त पुरुष वर्ग को, सम्पूर्ण उत्तरदायित्व से मुक्त कर देगी।

यदि आपका प्रथम विवाह एक तीस वर्ष की प्रौढ़ा, दो नन्हे बालकों की माँ से होना निश्चित हुआ होता, तो क्या आप सहर्ष उस विवाह की अनुमति दे देते ? और क्या आज आप ऐसी एक दुखिया को सहर्ष अंगीकार करने को तैयार हैं ?

यदि, हाँ, तो फिर आप ऐसा क्यों नहीं करते ? यदि, नहीं, तो आप एक बालिका का जीवन नष्ट करने पर क्यों तुले हैं ? क्यों आप एक अविकसित कली को मसलकर निर्जीव फूल बना देना चाहते हैं ? जो सुरभि उसके मानस में अभी समाई भी नहीं, उसी को लूट लेना चाहते हैं आप ? पर याद रखिये, उसके साथ-ही-साथ आप भी सुखी न रह सकेंगे, केवल वही दुःखी नहीं रहेगी, आपका जीवन भी घोर नरक बन जायेगा। आपकी वासना भले ही तृप्त हो जाये, पर आपके मन का सुख और शान्ति आपको कहीं खोजे भी न मिलेगी।"

* * *

लम्बे-चौड़े शब्द, निरर्थक वाक्य ! इस चिट्ठी का न सिर समझ में आता है न पैर, पर क्या जाने शायद बड़े ऐसे ही खुट्टी करते होंगे।

चौथे दिन बसन्त बोला, "चाचा खत पढ़कर जोर से हँस पड़े। फिर गुमसुम हो गये। फिर कमरे में चक्कर काटने लगे। फिर एकदम बाहर चल दिये। रात गये लौटे। खाना भी नहीं खाया। दो दिन से यही हाल है। मैंने खत का जवाब माँगा तो मारने को दौड़े।"

मैं चकित रह गया। घर जाकर दीदी से सब कहा। सोचा—'वह हँसेंगी, कहेंगी—और पागल किसे कहते हैं ? उनके सिर पर क्या सींग होते हैं !'

पर कहाँ ! वह चुपचाप सुनती रहीं। फिर एकदम उठकर चल दीं। पीछे-पीछे जाकर देखा तो तकिये में मुँह छिपाये रो रही थीं। दो दिन से दीदी रोई नहीं थीं।

अगले दिन मंगल को मेरी आठवीं सालगिरह है। माँ की गोदी में लेटा-लेटा उसी का प्रोग्राम बना रहा था कि पिताजी दनदनाते हुए आ पहुँचे और माँ के आगे एक खत फेंक उससे भी फुरती से लौट गये।

मेरी बोलती बन्द हो गई।

माँ ने खत देखा और गुस्से में भर गईं। न-जाने क्या-क्या बड़बड़ाने लगीं। फिर पुकारा—"रेणु !"

"आई, माँ !"

दीदी को खत देते समय माँ ने उनकी ओर घूरकर देखा। पूछा, "किसका पत्र है ? किसी सहेली का तो लगता नहीं।"

न-जाने क्यों आज दीदी भी चिढ़ गईं। बोलीं, "बिना देखे ही कैसे जान लूँ कि किसका है ! देखकर ही तो बताऊँगी !"

और उन्होंने चर्र से लिफाफा फाड़ डाला। पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखें चमकने लगीं।

माँ ने फिर पूछा, "किसका है ?"

"अधीर क्यों होती हो ? लो।" और माँ की गोदी में खत फेंक दीदी चपल गति से वहाँ से भाग गईं।

तभी पिताजी आ धमके। पूछा, "किसका खत है ? क्या लिखा है ?"

"लो, स्वयं पढ़ लो न अपनी लाड़ली की करतूत !"

पिताजी खत पढ़ने लगे :

*

"बहन,

वशिष्ठ मुनि ने कहा था : 'हानि-लाभ, जीवन-मरण, यश-अपयश विधि हाथ', पर आज मुझे यश तुम्हारी बदौलत मिलेगा। तुम्हारी सीख ने मेरे रोम-रोम को हिला दिया है। मैं यदि विवाह करूँगा तो किसी विधवा से ही, अन्यथा नहीं।

इतने दिन जो तुम्हें दुःख दिया, उस पाप की वजह से यद्यपि मैं तुम्हारे

क्षमादान का अधिकारी नहीं, पर सोचता हूँ जहाँ तुमने मुझे कुएँ में कूदने से बचा लिया, वहाँ क्या क्षमा भी न करोगी ?

तुम्हारा भाई,
दिलीप।"

दिलीप ? दिलीप तो हमारे जीजाजी···

पिताजी गुस्से से पैर पटककर बोले, "पर ये दोनों मिले कब ? बातें कहाँ हुई इनकी !"

माँ ने गरजकर उत्तर दिया, "पूछो न उसी कुलच्छिनी से !"

ओह ! तो यह जीजाजी का ही खत है !

पर माँ इतनी नाराज क्यों हैं ? तो क्या सचमुच छुट्टी हो गई ? कितने दिन की ?

दीदीसे पूछूँ। वह ही बतायेंगी।

दीदी के कमरे में पहुँचते ही मैं भौंचक्का हो खड़ा रह गया। दीदी हँस रही थीं, बुरी तरह हँस रही थीं। आँसू उनके गालों पर बह रहे थे, टपक रहे थे। यह कैसी हँसी है ! ऐसे तो मैंने किसी को भी हँसते न देखा था !

मुझे देखते ही उन्होंने गोदी में उठा लिया। गाल खींचती हुई बोलीं, "भोला बिन्नू !"

मैं खीझ उठा। इतना बड़ा हूँ, जब देखो तब गोदी में उठा लेती हैं, स्वयं तो पागलों की तरह हँस रही हैं, और कहती हैं···छूटने की कोशिश करते हुए मुँह बिगाड़कर कहा, "दीदी पगली !"

उनकी हँसी फिर बिखरने लगी। मेरे दोनों हाथ पकड़, मुझे फिरकनी देती हुई चक्कर खाने लगीं।

ढहती कगारें

थकी-हारी मंजु स्कूल से लौट रही थी। दूर से ही अपने कमरे का ताला टूटा देख वह सन्न रह गई। उसके पैर वहीं-के-वहीं चिपक गये। रोम-रोम जड़ीभूत हो उठा।

एक फ्लैट में दो कमरे किराये पर ले वह रहती है। सामान के नाम पर केवल दो-चार बरतन, एक ट्रंक और छोटा-सा बिस्तर है। इसमें से भी किसी को कुछ चुरा ले जाने योग्य वस्तु मिल गई—वह भी दिन-दहाड़े!

जाने दो। जो गया सो गया। यहाँ खड़े-खड़े शोक मनाने से अब कुछ वापस तो मिल नहीं जायेगा।

खुले द्वार के सामने पहुँचते ही उसे दूसरा धक्का लगा—सामने ही एक सूटकेस पड़ा था। उसकी शैया अस्त-व्यस्त हो रही थी और उस पर कुछ वस्त्र बिखरे पड़े थे—कोट, टाई, मोजे! सामने ही एक जूता पड़ा था। दूसरा खाट के नीचे से झाँक रहा था।

खाट पर पड़े वस्त्र मंजु ने उलट-पलटकर देखे। चोर कुछ ले ही जाते हैं—उन्हें अपना सामान छोड़ जाते तो कभी सुना नहीं। यह क्या गोरख-धन्धा है?

उसने सूटकेस का ढक्कन उठाकर देखा। ताला खुला हुआ था। ढक्कन ऊपर उठ गया। दो-चार पतलून, कमीजें, तौलिया, कंघा, टूथब्रुश...

तभी किसी ने पीछे से उसकी आँखें बन्द कर लीं। मंजु जोर से चीख उठी।

उसकी आँखों पर दबाव और भी बढ़ गया। पीछे कोई अपनी हँसी रोकने का असफल प्रयत्न कर रहा था।

बलपूर्वक हाथ छुड़ाने का प्रयास करते हुए, मंजु क्रुद्ध हो बोल उठी, "यह क्या बदतमीजी है? कौन हो तुम?"

हाथ तो न छूटे, किन्तु एक खरखरा स्वर सुन पड़ा, "पहचान सको तो पहचानो!"

बोलने वाला स्पष्टतः जान-बूझकर घुटे गले से बोल रहा था। मंजु का भय धीरे-धीरे कम होता जा रहा था। बोली, "मैं कहती हूँ हट जाओ, नहीं तो अभी शोर मचा दूँगी।"

"अपने किये कुछ बना नहीं तो बस शोर मचा दूँगी! यही है तुम्हारी बलबीरता?" मधुर स्वर में खिलखिलाते हुए, आँखें छोड़, युवक सामने आ खड़ा हुआ।

"अरे ! तुम !" मधुर विस्मय से पुलक मंजु बोल उठी, "कब आये, रंजीत ?"

"जब तुमने देखा ।"

"डाकू कहीं के ! ताला तोड़कर घर में घुस आये; क्या-क्या चुराया है, तुमने ?"

"सच-सच बता दूँ, भाभी ?"

मंजु लजा गई । फिर कहा, "तुम हाथ-मुँह धो आओ । इतने मैं चाय बनाती हूँ ।"

"हाथ-मुँह धोने तो गया ही था । इतनी देर में ही तुमने मेरा सारा सामान उलट-पलट कर डाला । तुम तो चाय नित्य ही बनाती हो । चलो, आज मैं तुम्हें पिलाकर लाऊँ ।"

"कहाँ ?"

"डेविको में ।"

मंजु को हँसी आ गई । बोली, "और मैंने समझा था कि···अच्छा, चलो । पर मैं भी जरा हाथ-मुँह धो आऊँ ।"

*　　*　　*

हाथ-मुँह धो मंजु जल्दी से लौट आई । पूछा, "अचानक कैसे चले आये, रंजीत ?"

"अचानक कतई नहीं, कितने दिन से तैयारी हो रही थी ! शुभ संवाद डाक से भेजने से क्या लाभ था ! हाथों-हाथ लाया हूँ ।"

"शुभ संवाद ? कौन-सा ?"

"सब-कुछ अभी सुन लोगी । चलो, पहले चाय···"

"बताओ न । तुम तो बहुत तंग करते हो, रंजीत ।"

"अब कभी तंग करने न आऊँगा, भाभी ।" सहसा रंजीत का स्वर बुझ-सा गया—"यह अन्तिम अवसर है, इसीलिए जी भरकर तंग कर लेना चाहता था ।"

"क्या कह रहे हो तुम ! हाथ जोड़ती हूँ मैं, पहेली न बुझाओ, ठीक-ठीक बता दो ।"

मंजु की अनुनयभरी वाणी सुन रंजीत की आँखें भर-सी आईं । उसने चुपचाप जेब से एक लिफाफा निकालते हुए कहा, "यह देखो, भाभी, यह है भैया के विवाह का निमंत्रण-पत्र ।"

मंजु का मुख राख के समान सफेद पड़ गया । बोली, "इसका अर्थ ?"

"अर्थ-अनर्थ नहीं जानता, भाभी । संदेशवाहक का कार्य मुझे सौंपा गया था—सो मैंने पूरा कर दिया । तभी तो कह रहा था कि पहले चाय-पी आओ । अब चार दिन तक तुम कुछ खाओगी थोड़े ही ।"

"नहीं, रंजीत, तुम्हारी यह धारणा निर्मूल है । तुम्हारे भैया से नाता छूटे तो एक वर्ष से भी ऊपर हो गया । मैं और अधिक शोक क्यों मनाऊँगी ।"

"भाभी!" रंजीत अगाध विस्मय से बोल उठा।

"सब-कुछ तो जानते हो, रंजीत। फिर इस प्रकार अनजान बनकर विस्मय क्यों प्रकट करते हो?"

"सच कह दूँ?"

"कहो न।"

"भैया को अभी तक यही आशा है—और मुझे भी—कि तुम लौट आओगी। इसीलिए उन्होंने यह निमंत्रण डाक से न भेज मेरे हाथों भेजा है। चलते समय उन्होंने कहा था—'रंजीत, मैं नहीं चाहता कि तुम्हारी भाभी को मँझधार में बहते छोड़ दूँ। यदि अब भी वह क्षमा माँगने को तैयार हो तो उसे लौटा लाना।'"

मंजु हँसी—"मँझधार में बहते प्राणी को बचाने के लिये रस्सी फेंकी जाती है या ढेले फेंके जाते हैं, रंजीत? क्षमा? दोष किसी का और क्षमा माँगूँ मैं! अच्छा, रंजीत, तुमने तो सब सुना ही होगा। तुम्हीं न्याय करो, अधिक दोष किसका था? क्षमा किसे माँगनी चाहिये?"

"भाभी, कैसी बातें करती हो! तुम लोगों की बातों पर मैं विचार करूँगा! क्षमा करो मुझे। यह मेरे बस की बात नहीं। हाँ, यदि चाहो, तो कुछ सम्मति दे सकता हूँ।"

पलक मारते मंजु का भाव बदल गया। मुसकराकर बोली, "हाँ, देवर राजा, भाभी तो पगली है ही। नहीं, तुम्हें न्याय करने की जरूरत नहीं, न सम्मति ही देनी होगी। आओ, चलें।"

बाहर आ मंजु बोली, "ताला तो तुमने तोड़ दिया। बोलो, अब क्या बन्द करूँ?"

उस अनोखे स्वर को सुन रंजीत ने चौंककर उसकी ओर देखा। क्या था उन नयनों में! स्नेह? शैतानी? कौतुक?

अभी-अभी मंजु ने कहा था—'पहेली न बुझाओ, रंजीत, मैं हाथ जोड़ती हूँ।' किन्तु यह भाभी स्वयं रंजीत को पहेली-सी लगती है। और कोई नारी होती तो अपने पति के पुनर्विवाह की बात सुन, अपने क्रन्दन से धरती हिला देती, और यह स्नेहशीला मंजु है कि···

वह कुछ मुसकराकर बोला, "दिन-दहाड़े ताला ठोंकने की जरूरत ही क्या है? हीरे-पन्ने नहीं टँके हैं तुम्हारे इन फटे-पुराने कपड़ों में, जो कोई तोड़ ले जायेगा।"

"न सही हीरे-पन्ने। रात को इन्हीं के बिना जाड़े में ठिठुरना पड़ेगा, हजरत। देखती हूँ, तुम तो बिस्तर तक नहीं लाये। अच्छा ठहरो, मैं अभी आई।"

"बिस्तर इसलिए नहीं लाया था कि सात बजे वाली ट्रेन से मुझे वापस जाना है।"

"ठहरो, बाबा, जाने की बात पीछे सुनूँगी, पहले काम···"

बात अधूरी ही छोड़ वह पड़ोसिन के घर से ताला माँग लाई और द्वार बन्द

कर ताली की जंजीर घुमाते हुए बोली, "चलो।"

पूरे तीन वर्ष बाद आज भाभी से भेंट हुई है, किन्तु रंजीत देख रहा है कि उसमें तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ। वही हास-परिहासभरी चंचल आँखें, वही सुकोमल शरीर, वही स्नेह, वही अपनत्व और वही दूरी। इतने समीप होते हुए भी वह न जाने कितनी दूर है! यही दूरत्व रंजीत को खलता है, पीड़ा पहुँचाता है। किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी वह इस अलंघ्य दीवार को फाँद नहीं पाता।

*　　　*　　　*

आधी रात होने को आई। कमरे के एक कोने में चटाई पर बैठी मंजु अपनी छात्राओं की कापियों से उलझ रही थी, और समीप ही शैया पर लेटा रंजीत पुस्तक में आँखें गड़ाये पड़ा था। रह-रहकर उसकी दृष्टि कार्यरत भाभी की ओर भटक जाती।

मंजु के झुके हुए माथे पर बालों की एक लट झूल आई थी। रंजीत ने धीरे से हाथ बढ़ा उसे एक ओर उठा दिया।

मंजु चौंक उठी। मुसकराकर बोली, "तुम सोये नहीं अभी तक? क्या सोच रहे हो?"

"सोच कहाँ रहा हूँ! पढ़ रहा हूँ।" उसने पुस्तक अपनी ओर खींचते हुए कहा।

"हाँ, सो तो देख ही रही हूँ। उलटी किताब पढ़ने की कला अब तुमसे सीखूँगी।" हँसी दबाते हुए वह बोली।

रंजीत ने लजाकर देखा—सच ही पुस्तक उलटी रखी हुई थी। झट से सीधी करते हुए कहा, "अच्छा, भाभी, एक बात बताओगी?"

"उहूँ!" अधरों पर आई हँसी समेटते हुए वह बोली।

हठात् रंजीत शैया छोड़ उसके समीप आ बैठा। कलम छीनते हुए बोला, "आज सोओगी नहीं? कब तक इन नालायक लड़कियों की लायकी जाँचती रहोगी?"

"नालायक तो होंगी ही, भाई—लड़कियाँ जो ठहरीं!"

"हटो, फिर मजाक! अच्छा, भाभी, जब तुम्हारा विवाह होने वाला था तब तुम्हें कैसा लगा था?"

"लगा था कि गले में पत्थर बाँध आँगन वाले कुएँ में कूद पड़ूँ।"

"फिर मजाक!"

"तुम्हें हर बात मजाक ही सूझती है! पैंतीस साल के बूढ़े से विवाह करने में और कैसा लगता! अच्छा हटो, काम करने दो मुझे!"

रंजीत अप्रतिभ हो उठा था। किन्तु न तो वह उठा ही और न उसने कलम ही छोड़ी। पूछा, "और?"

"और क्या! यह भी कोई कहानी है!"

"नहीं, तुम कहो।" नन्हे शिशु के समान हठ करता हुआ वह बोला।

"क्या कहूँ? मृत्यु की विभीषिका से भी बढ़कर कोई और भीषण यंत्रणा है?

अच्छा, उठो अब, आधी रात ये क्या बातें लेकर बैठ गये ! सोने दो मुझे भी ।"

रंजीत को सहसा मानो होश आया । "हाँ, भाभी, तुम सोओगी कहाँ ?"

"सो जाऊँगी कहीं भी—तुम्हें मतलब ? बिस्तर नहीं लाये तो क्या हुआ—तुम्हारी नींद में बाधा न पड़ने दूँगी ।"

रंजीत अनुतप्त हो उठा । बोला, "सच मानो, भाभी, बिस्तर इसीलिए नहीं लाया कि मेरा ठहरने का विचार ही नहीं था । अभी भी समय है । दो बजे ट्रेन जाती है, उससे चला जाऊँ ?"

"अच्छा, रंजीत, तुम्हारे भैया सम्बन्ध-विच्छेद कर रहे हैं, तो क्या तुम भी मुझसे नाता तोड़ लोगे ?"

"कैसी बातें करती हो, भाभी !"

"जब से तुम आये हो, तुम्हारी बातों से यही तो लग रहा है—लौट जाऊँ··· चला जाऊँ···ठहरने नहीं आया···यही अन्तिम अवसर है···हाँ, भाई, मुझ अभागिन से स्नेह क्यों रखोगे ?"

रंजीत का हृदय उसे धिक्कार उठा । भाभी को इतना दीन होते उसने कभी न देखा था । इस परदेश में किसी स्वजन को पा वह दो क्षण को अपना दुःख भूल जाना चाहती है और वह है कि···

हँसने का प्रयत्न करते हुए बोला, "तुम झट बुरा मान जाती हो, भाभी, बस, यही तो तुममें दोष है । अच्छा, अब जाने का नाम न लूँगा । जब तक तुम स्वयं निकाल बाहर न करोगी, यहाँ से एक पग न हिलूँगा ।" और उसने झट शैया में घुस लिहाफ सिर तक तान लिया ।

"सिटकनी बन्द कर लो पहले, तब सोना," मंजु हँसते हुए बोली, "दिन में डाकू चाहे न आयें पर रात को आ सकते हैं । मैं उषा दीदी के बिस्तर में घुसने जा रही हूँ ।"

रंजीत उठा और किवाड़ बन्द कर, बत्ती बुझा लेट रहा । किन्तु केवल लेटे रहने से ही तो नींद नहीं आ जाती । उसके विचार अतीत में खो गये···

सन्तानहीन भाई के पुनर्विवाह में उसे कोई बुराई न दिखी थी । नई भाभी का नवल स्नेह मिलेगा, यह सोच वह पुलकित हो उठा था । उसने सोचा था—माँ की मृत्यु के बाद से ही मेरे जीवन में जो अभाव भर गया है, अब वह पूर्ण हो सकेगा ।

उसका वह अनुमान सच ही निकला था । मंजु ने अपने हास-परिहास से घर का वातावरण ही बदल डाला । बीच-बीच में उसकी भैया से खटक जाती थी, इसे भी दाम्पत्य जीवन का एक मधुर अंग समझ रंजीत मन-ही-मन मुसकरा देता था ।

दो वर्ष झट से बीत गये, किन्तु तीसरा न बीतने पाया । बड़े दिन की छुट्टियों में होस्टल से घर आते ही वह यह सुनकर अवाक् रह गया कि मंजु बिना कहे-सुने घर छोड़कर चली गई । कहाँ गई, यह कोई नहीं जानता ।

पर रंजीत सिर थामकर बैठना न जानता था। उसने भाभी की खोज में आकाश-पाताल एक कर डाला। पहले-पहल जिस दिन उसे भाभी का पता लगा था, उसने भागे-भागे बड़े भाई के पास जाकर कहा, "भैया, भाभी का पता लग गया। जाइये, भैया, ले आइये उन्हें।"

"नहीं!" वह गरजकर बोले थे।

उस कठोर मुख और उससे भी भीषण मुद्रा को देख वह सहम गया था। फिर भी धीरे से पूछा था, "मैं ले आऊँ?"

"नहीं, हरगिज नहीं! जो एक जरा-सी बात पर घर छोड़कर निकल जाये, मैं उसका मुख भी नहीं देखना चाहता। अब कभी मेरे सामने उसका नाम न लेना।"

तब क्या करता रंजीत! मन मार चुपचाप लौट आया।

एक दिन पड़ोस में बसने वाले मुँह-बोले चाचाजी ने उसे बुलाकर कहा था, "अपने भैया को समझाओ, बेटा! अब इस उमर में तीसरी बार ब्याह करना क्या अच्छा लगता है! लड़ाई-झगड़े किस घर में नहीं होते! उससे कहो, समझा-बुझाकर बहू को लौटा लाये।"

उसकी विस्मयभरी दृष्टि से चकित हो, उन्होंने कहा था, "तो क्या तुम्हें कुछ मालूम नहीं? नये विवाह के लिए लड़की भी देखी जा चुकी है। अगले महीने की सात तारीख का लग्न है।"

सुनकर रंजीत हक्का-बक्का रह गया था। किन्तु भाई के पास जाकर कुछ कहने की उसकी हिम्मत न हुई। अपने पिता की उसे याद नहीं, सदा भाई को ही जाना था। उन्हीं पिता-तुल्य भाई से जाकर वह कैसे कहे कि···

तब एक दिन भैया ने स्वयं ही उसे बुलाकर कहा था, "मैंने साइकिल सीखने को कहा, इस जरा-सी बात पर ही वह घर छोड़कर चली गई। खैर, कोई बात नहीं। यदि वह सच्चे दिल से क्षमा माँगे और आगे से मेरे आदेशानुसार चलने का वचन दे तो मैं अभी भी उसे क्षमा करने को तैयार हूँ। जाओ, तुम वहाँ हो आओ।"

सुनकर रंजीत को विश्वास नहीं हुआ था। उसकी लक्ष्मी-स्वरूपा भाभी इस जरा-सी बात पर घर छोड़कर कदापि नहीं जा सकती। पर भैया क्या झूठ कहेंगे?

धीरे से कहा, "भाभी ऐसी नहीं हैं, भैया। वह अवश्य लौट आयेंगी। मुझे पक्का विश्वास है।"

"विश्वास है, तो फिर हो आओ न। कह तो रहा हूँ।"

"तो फिर इस विवाह के लिये मना करवा दिया जाये?"

"पागल हुआ है! विवाह के लिये मना कैसे किया जा सकता है? वचनबद्ध हो चुका हूँ। उस बेचारे बूढ़े बाप को तो संकट से अब मुझे उबारना ही पड़ेगा। यह भार तो सिर पर पड़ ही गया। हाँ, देखो, यदि उसे आना हो, तो जल्दी आ जाये। माँ हैं नहीं, विवाह के घर का काम-काज कौन सँभालेगा, यही सोच-सोच मेरी जान सूखी जा रही है।"

फिर रंजीत मुख उठा भाई की ओर न देख सका था। यह मृत्यु-संदेश ले वह भाभी के पास कैसे जाये! और उसने मन-ही-मन दृढ़ निश्चय किया—अब वह इस घर में कभी पैर न रखेगा, यहाँ का अन्न-जल न छुएगा।

किन्तु सदा-सर्वदा के लिये सम्बन्ध टूट जाने से पहले वह एक बार भाभी से मिलने को अकुला उठा था...

* * *

अगले दिन रविवार था। इधर-उधर घूम-फिरकर अन्यमनस्क-सा रंजीत घर लौटा तो मंजु भोजन बनाने में संलग्न थी।

वह उसके निकट जा बैठा और बोला, "अच्छा, भाभी, तुमने साइकिल क्यों नहीं सीखनी चाही?"

हलकी हँसी मंजु के अधरों पर दौड़ गई। मृदु स्वर में बोली, "क्योंकि मुझे अकेले बाजार घूमने का साहस नहीं होता था।"

"फिर मजाक!"

"मजाक नहीं, सच ही कह रही हूँ। जब मैं दस साल की थी तभी चाचाजी ने मेरा घर से निकलना बन्द कर दिया था। भाइयों के संग भी खेलने निकलती तो नाराज हो कह उठते—'क्या हर समय बछड़े की तरह छलांगें मारती रहती है! अपनी चाची के पास बैठ, कुछ काम ही सीख।' चार कदम पर सहेली के घर जाती तो भी घर की महरी मेरे संग जाती। डरपोक बनाने का इससे अच्छा और कोई उपाय है, रंजीत!"

रंजीत को हँसी आ गई।

मंजु भी हँसने लगी। बोली, "केवल यही नहीं, आज तुम्हारे भैया मुझे साइकिल पर सवार हो बाजार से साग-भाजी लाने की सलाह दे रहे थे; कल जब सब नाते-रिश्ते के सास-ससुर घर आने वाले होते, तो वही मुझे गज-भर का घूँघट निकाल रसोई में घुस जाने का आदेश दे डालते मानो मैं कोई जापानी मोटर हो गई कि जब उसके शिशु स्वामी की इच्छा हुई, उसने चाबी भरी और मोटर घर-बाहर, आँगन-सड़क पर उछलने लगी, और जब उसकी इच्छा न हुई तो घर के किसी कोने में पड़ी धूल खाती रही।"

मंजु के बात कहने का ढंग देख रंजीत जोर से हँस पड़ा। मंजु भी हँसने लगी। बोली, "हँसते हो? हँसने की बात ही है। उस दिन मैं भी खूब हँसी थी, और मैंने साफ कह दिया कि साइकिल पर चढ़ने की मेरी जरा भी इच्छा नहीं। जानते हो इस पर तुम्हारे भैया क्या बोले?"

"क्या?"

"बोले, 'जो मेरा जरा-सा भी कहना नहीं मान सकता, उसके लिये मेरे घ में स्थान नहीं। जाओ, अभी निकल जाओ यहाँ से!'

"मैंने इसे बहुत बढ़िया परिहास समझकर कहा, 'निकल जाऊँगी तो चौबी

घण्टे आपकी सेवा कौन करेगा ?'

"इस पर वह क्रुद्ध सर्प की भाँति फुँकार उठे, 'सेवा कौन करेगा, यह तुझे चार दिन में ही दिखा देता हूँ। तुझे भी उसकी सेवा करनी होगी।'

"मैं तब भी असल बात न समझ सकी। हँसी में ही कहा, 'कौन है वह भाग्यशाली ?'

"इस पर उन्होंने मुझे धक्का दे गिरा दिया और कहा, 'तू यहाँ से जाती है या नहीं ?'

"मुझ पर भी क्रोध का भूत सवार हो चुका था। उठते हुए बोली, 'यदि आपको मुझसे इतनी नफरत हो गई है तो मैं चली जाती हूँ।'

"उन्होंने तीखे व्यंग्यभरे शब्दों में कहा, 'कहाँ जायेगी ? मायके ?'

"तब मैं हताहत ज्ञान-शून्य हो उठी, रंजीत। मेरी असमर्थता का यह उपहास ! मेरी माँ जीवित नहीं, इसलिए क्या संसार में मेरा कोई भी नहीं ? मेरे चाचा यदि मुझे सहारा न देंगे, तो क्या मुझे कहीं आश्रय ही न मिलेगा ? पर मेरे कुछ कहने से पूर्व ही उन्होंने मुझे दरवाजे के बाहर धकेल दिया। साथ ही कहा, 'जाओ, हो आओ मायके ! जब मन भर जाये तो आ जाना।'

"मैं खून का घूँट पी, आँगन वाले दरवाजे से अन्दर आ गई। पर मेरा किसी काम में मन न लगा। रह-रहकर वही लाल-लाल आँखें और वही तीखा व्यंग्य मेरे हृदय को छेदने लगा।

"मैं सभ्य परिवार में पली थी, रंजीत। यह मार-पीट देखना छोड़ मैंने कभी कानों से सुनी भी न थी। मेरे चाचा कितने ही पाषाण-हृदय क्यों न हों, पर उनका यह स्वभाव न था। उनकी वह थोड़ी-बहुत कठोरता केवल मेरे ही लिये थी। मैं बैठी यही सोच रही थी कि इतने में वह अन्दर आये। मुझे देखते ही बोले, 'तुम गईं नहीं ?'

"मैंने धीरे से कहा, 'क्यों जरा-सी बात पर इतना तूमार मचा रहे हैं आप ? क्या सभी-कुछ आपकी ही इच्छा से होना चाहिये ? मेरी इच्छा कुछ भी नहीं ? साइकिल चलाती क्या मैं अच्छी लगूँगी ? मुहल्ले वाले...'

"उन्होंने बात पूरी होने से पूर्व ही मेरे, कसकर एक लात मारी—'कह तो रहा हूँ, अपने घर जाओ और अपने सब शौक पूरे करो। यहाँ तुम्हारी नहीं, मेरी इच्छा चलेगी !'

"मैंने उठना चाहा, पर उठ न सकी। कहा, 'चली जाऊँगी पर याद रखना फिर लौटकर न आऊँगी।'

"लौटाना चाहता ही कौन है !' कहते हुए वह बाहर चल दिये।

"मैं वैसे ही उठी और पैदल ही स्टेशन की ओर चल दी। उस समय मुझे होश नहीं था कि मैं क्या हूँ, कहाँ हूँ, क्या कर रही हूँ। केवल एक ही विचार मेरे मस्तिष्क में चक्कर काट रहा था—किसी तरह इस व्याध से अपनी रक्षा करनी होगी।

"इस स्कूल में मैं पढ़ी थी। यहाँ की अध्यापिकायें मुझे जानती थीं। बिना टिकट

मैं यहाँ तक आई। इन सबने मुझे आश्रय दिया और यह नौकरी भी दिलवाई।"

* * *

रंजीत की आँखों से टप्-टप् आँसू गिर रहे थे। उसकी ओर देख मंजु जरा हँसी—"रोते हो, रंजीत ! यह तो मेरे वैवाहिक जीवन की दैनिक घटनाओं में से केवल एक है। इनसे जूझते-जूझते मेरा मन जर्जर हो उठा, पर तन का कुछ भी न बिगड़ा। दिन में मेरे हँसते मुख को देखकर क्या कोई कह सकता था कि रात में मैं कितना रोई थी, कितना डरी थी ! पन्द्रह साल की लड़की विवाह के विषय में जानती ही क्या है !"

रंजीत सनाका खा गया।

पर मंजु का उस ओर ध्यान न था। मानो अपने से ही बात कर रही हो, ऐसे बोली, "गगन में घन घिरते रहते हैं, विरते रहते हैं, सहसा एक बड़ा-सा घनखण्ड आ उन सबके ऊपर छा जाता है। लोगों की आशाभरी दृष्टियाँ उस ओर उठ जाती हैं। सहसा रिमझिम-रिमझिम वर्षा होने लगती है। सब एक स्वर से उस विशाल मेघखण्ड की स्तुति कर उठते हैं।"

रंजीत और न सुन सका। उठकर बाहर चल दिया।

अपने उदास मन का रंजीत क्या करे ? सन्ध्या को वह घर में घुसा तो मंजु फिर अपनी कापियों पर झुकी बैठी थी।

कापियाँ एक ओर खिसकाते हुए वह बोला, "चलो, भाभी, सिनेमा चलें।"

हठात् मंजु का मुख काला पड़ गया। सिर झुका, स्वरों पर जोर देती हुई बोली, "नहीं, नहीं, कदापि नहीं।"

आश्चर्यचकित हो रंजीत दो पग पीछे हट गया। उसकी रहस्यमयी भाभी का यह कौन-सा नया रूप है !

पर तब तक मंजु सँभल चुकी थी। सिर ऊपर उठा, मुसकराते हुए बोली, "अच्छा, चलो।"

"भाभी !" रंजीत मानो रो देगा—"क्षमा करो, भाभी। मुझे ध्यान न था, मेरे साथ जाने से लोग तुम्हें अपयश देंगे। यही न।"

सहसा मंजु उठी और उसकी ओर पीठ कर खिड़की के सामने जा खड़ी हुई।

रंजीत को लगा यह नारी कितनी अकेली है, कितना सूना है इसका जीवन ! इतने बड़े इस विश्व में इसका दुःख बँटाने वाला कोई नहीं।

वह धीरे से उसके पीछे जा खड़ा हुआ। "मैं बहुत लज्जित हूँ, भाभी। मैं भूल गया था कि अब वह पहले वाली परिस्थिति नहीं रही। भैयारूपी कवच नहीं रहा। मुझे क्षमा कर दो, भाभी। अब कभी ऐसी धृष्टता न करूँगा, भाभी।" उसकी सघन केशराशि में हाथ उलझा वह बोला।

"दोष तुम्हारा नहीं, रंजीत।" अश्रु विजड़ित कंठ से वह बोली, "दोष मेरे इस हठीले मन का है जो पिछली बातें भूलना ही नहीं चाहता। बात उठी है तो अब सुन ही लो। कहने से हृदय का भार बढ़ेगा नहीं, हलका ही होगा।"

कुछ रुककर बोली, "मेरे रहने का ढंग देख कोई नहीं कह सकता था, पर मन-ही-मन मैं तुम्हारे भैया से बेहद डरती थी। उनसे कभी कुछ कहने की मेरी हिम्मत न होती थी। शादी के चार-छः महीने बाद की बात है। उस दिन मेरा मन बहुत उचाट था। वह कमरे में बैठे थे। मैंने उनके हाथ से अखबार छीन लिया और कहा, 'चलो, आज सिनेमा चलें।'

"जानते हो, वह क्या बोले ? कहने लगे, 'बहुत सिनेमा देखे। मन तो कभी का मर चुका। अब इच्छा नहीं होती।"

रंजीत को लगा मानो वह अन्धकार के गहन गर्त्त में डूबता चला जा रहा है। उसके कानों में एक वीणा-विनिन्दित स्वर गूँज उठा : 'गगन में घन घिरते रहते हैं, घिरते रहते हैं...'

* * *

न जाने कितना समय ऐसे ही बीत गया। शायद और भी बीत जाता क्योंकि रंजीत में तो इतनी भी चेतना शेष नहीं रही थी कि उँगली भी हिला सकता। तभी मंजु ने कहा, "चलो, रंजीत, कहीं घूम आयें।"

रंजीत ने दृष्टि ऊपर उठाकर देखा।

मंजु ने फिर पूछा, "चलते हो ?"

"चलो।"

यन्त्रचालित-सा रंजीत मंजु के संग-संग चल दिया। मंजु के अनिश्चित-से पग किस ओर बढ़े चले जा रहे हैं, यह पूछने का भी उसे होश न था।

सन्ध्या की भीनी-भीनी हवा के थपेड़े खा उसकी चेतना जागी। उसने देखा वे दोनों गोमती के किनारे खड़े थे।

मंजु का अनुसरण करते हुए उसकी निढाल देह भी बालू में लुढ़क गई।

"क्या सोच रही हो, भाभी ?"

"मैं सोच रही थी कि उस अभागिन लड़की के निस्तार का क्या कोई भी उपाय नहीं ?"

"उपाय है, भाभी।"

मंजु सजग हो उठ बैठी। पूछा, "क्या ?"

"तुम घर लौट चलो। भैया अवश्य ही यह विचार छोड़ देंगे।"

"भूलते हो, रंजीत। मेरे घर छोड़ने के पहले ही जो विचार उनके हृदय में स्थान जमा चुका था, वह मेरे लौटने पर भी दूर न होगा। परिहास में पूछे गये मेरे उस प्रश्न का वह कटु उत्तर आज भी रह-रहकर मेरे कानों में गूँज उठता है—'सेवा कौन करेगा यह चार दिन में ही दिखा देता हूँ, और तुझे भी उसकी सेवा करनी होगी !' नहीं, रंजीत, वह राह मेरे लिए सदा-सदा के लिए बन्द हो चुकी है।"

"भाभी !"

"तुम भी पुरुष हो न, रंजीत। इसी कारण आज मेरे लौट चलने की बात तुम

कह सके। किन्तु उस दिन यदि तुम वहाँ होते, तो यह बात तुम्हारे भी मुख से न निकल पाती।

"तुम्हारे भैया का वह उठा हुआ पैर आज भी मेरे नेत्रों के आगे वैसे ही उठा हुआ है, और पदतल में लोट रही है एक अभागिन लड़की, जो मुझसे भी अधिक निरुपाय है, निराश्रय है, भीरु है, असहाय है। उस निर्बोध की रक्षा हमें करनी ही होगी, रंजीत। चलो, हम दोनों कल ही चलें।"

"कहाँ ?"

"उस अभागिन के पिता के पास। अपनी बेटी को राजरानी बनाने के लोभ में, जो उसका सम्पूर्ण जीवन नष्ट किये डाल रहा है। उस मूढ़ को समझाना ही होगा, रंजीत। उसे बताना होगा कि यदि वहाँ विवाह न कर, वह अपनी बेटी का हाथ किसी गरीब किसान या मेहनती मजदूर के हाथ में भी पकड़ा देगा, तो भी उसकी बेटी अधिक सुखी रहेगी। अपनी टूटी-फूटी उस झोंपड़ी में, दो समय रुखी-सूखी खा, दिन-रात जी-तोड़ मेहनत करने के बाद भी वह मनलुभावने गीत गा सकेगी।"

"किन्तु भाभी, हमारे इस देश में नित्य ही ऐसे सैकड़ों विवाह होते रहते हैं। एक विवाह यदि रोक भी लोगी तो उससे क्या लाभ होगा ?"

"लाभ ?" मंजु तनिक हँसी। सहसा उसे कुछ सूझा। उसने एक कंकड़ उठा गोमती के शान्त जल में फेंक दिया।

लहरों पर लहरें उठ-उठकर तट से टकराने लगीं। मंजु बोली, "देखा ?"

"हाँ, भाभी !"

"क्या ?"

* * *

निमग्न [illegible] रंजीत उसी भँवर पर दृष्टि गड़ाये बोला, "बहुत-कुछ। इस छोटे से कंकड़ ने नदी के शान्त हृदय में उथल-पुथल मचा दी है। एक आघात से ही इसका हृदय अतल तल तक प्रकम्पित हो उठा है। एक चोट से ही इस शान्त जल में विप्लवकारी आन्दोलन आलोड़ित हो उठा है।"

सहसा रंजीत उठ बैठा, "तुम्हारी बात मैं समझा दूँ, भाभी। यह आलोड़न क्षणिक ही सही, पर व्यर्थ नहीं ! यदि हम ऐसे दस-बीस आघात भी पहुँचा सकें, तो उनकी चोट से हमारे समाज की ये युगों पुरानी जीर्ण कगारें ढहती ही नजर आयेंगी।"

रंजीत ने मुट्ठी-भर कंकड़ अपनी पूरी शक्ति से नदी में उछाल दिये। नदी के अभ्यन्तर में एक अदम्य ज्वार उठ खड़ा हुआ। उसके एक-एक भँवर में सौ-सौ लहरें बल खाने लगीं।

छप ! छप !

सहसा दोनों ने चौंककर देखा—सामने के कगार का एक बड़ा-सा खण्ड नदी-तल में ढह पड़ा था। ढहकर न जाने कहाँ विलीन हो गया था। नभ में चमकते चाँद की चाँदनी और भी उज्ज्वल हो उठी थी।

२

दृष्टिदान

पुत्रवधु की बात सुन लक्ष्मी गर्व से फूल उठी। स्नेहपूर्ण दृष्टि से उसे निहार उन्हें पुत्र को पुकारा : "आनन्द ! भाभी के मायके एक पत्र तो लिखकर डाल दे बेटा। लिखना कि भगवान् की कृपा से वे लोग शीघ्र ही नाती का मुख देखेंगे।"

"सच !" हर्ष से उछल, ताली बजाते हुए, आनन्द ने कहा। फिर भाभी का घूँघट उठा, आँखें नचाते हुए बोला, "भाभी, शिशु की छवि ऐसी सुन्दर होनी चाहिये कि चन्दा भी लजा जाये। इतना सुन्दर, इतना सुन्दर, जैसा···कि मैं।"

लाज से झुके उन नयनों में हास झिलमिला उठा। सास उपस्थित न होती तो शुभा कहती : 'बड़ा गर्व है अपने रूप का !'

पर सास के सामने वह देवर से ठिठोली कैसे करती !

उपेन्द्र के कानों में भी बात पड़ी। उसका हृदय धक-धक करने लगा। मन-ही-मन वह खीझा भी : देखो तो शुभा की शरारत ! आने दो रात—कसकर खबर न ली तो बात।

उमंगों के घोड़े दौड़ाता वह अपने कमरे में पहुँचा। शीशे के सामने खड़े हो, अपने प्रतिबिम्ब को देख, वह आप-ही-आप मुसकराया। मूँछें हलके से मरोड़, आँखें चौड़ा-चौड़ा कर अपनी छवि देखी।

मन-ही-मन सोचा : मैं भी अब पिता बनूँगा। एक नन्हा-सा शिशु मचल-मचलकर मेरी गोद में किलकारी भरा करेगा। उसके डगमग-डगमग करते नन्हे-नन्हे पैरों से मेरा घर डोल उठेगा।

प्रत्येक दम्पति जिस अवसर की आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा करता है, प्रत्येक नारी के जीवन की जो चरम साध है—वही प्रतीक्षा, वही साध पूर्ण होने जा रही थी। शुभा विभोर थी। उसके हृदय में अनजानी भावनायें मचल-मचल उठती थीं।

पर रह-रहकर वह उदास हो जाती थी। किसी अज्ञात आशंका से उसका हृदय काँप-काँप उठता था, रोम-रोम सिहरने लगता था।

ईंधन की कोठरी के बगल में बनी उस सील-दुर्गन्ध भरी कोठरी पर दृष्टि पड़ते ही आतंक से उसका दिल बैठने लगता था।

उसकी आँखों के सामने एक नवजात शिशु का शव मूर्त हो उठता था। कानों में किसी बेबस, निरुपाय नारी का मूक करुण क्रन्दन गूँजने लगता था।

झट से वह अन्यत्र खिसक जाती। वह शिशु मानो उसके आगे-आगे चलता। वह करुण पुकार पग-पग पर उसका पीछा करती। घबराकर वह आँखें मूँद लेती, तो वही बड़ी-बड़ी कटोरा-सी आँखें अन्तस्तल में से झाँकने लगतीं। रोम-रोम में बस चुके उस मार्मिक क्रन्दन की वह उपेक्षा न कर पाती। घबराकर रह जाती।

मन की बात कहे भी तो किससे! उसकी बात यहाँ समझेगा ही कौन?

बहुत सोच-समझकर, साहस करके आज उसने सास के सामने बात उठाई थी। पर कहाँ कह सकी! पूरी बात सुनाने का उन्होंने अवसर ही कहाँ दिया?

इसी चिन्ता में दिन बीत गया और रात आ गई।

व्यथित-सी शुभा घुटनों में सिर दिये बैठी थी कि द्वार पर जूतों की खटपट हुई।

उपेन्द्र आ रहा था। वह हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई। द्वार जरा-सा खोल उपेन्द्र ने अन्दर झाँका, और लपककर उसे अपने भुजपाश में समेट लिया।

आलिंगन को और भी दृढ़ करते हुए वह बोला, "तुम दिन-दिन बिगड़ती जा रही हो, शुभा। अब मैं तुमसे कभी न बोलूँगा।"

शुभा ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें पति के मुख पर गड़ा दीं। पूछा, "मेरा अपराध?"

हलकी हँसी उपेन्द्र के अधरों पर दौड़ गई। कहा, "जो बात सर्वप्रथम मुझे ही पता लगनी चाहिये थी, वह मैं दूसरों के मुख से सुनूँ—यह अपराध नहीं है?"

शुभा ने पलकें झुका लीं। "हाँ, उपेन्द्र, मेरी भी यही इच्छा थी कि मेरे तुम्हारे सिवाय हवा तक को भी पता न लगे; किन्तु मेरे मन में यह भय जो समा गया है, उसने मुझे विवश कर दिया, कि..."

"भय? कैसा भय?"

"दो वर्ष पहले की वह बात तुम भूल गये क्या? चाचीजी की बीमारी याद है तुम्हें? उस नन्हे-से शिशु की याद है जो दो घण्टे अपनी लीला दिखाकर चल बसा था?"

"पागल हुई हो! ऐसी बातें तुम्हें नहीं सोचनी चाहियें। इससे शिशु के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ सकता है।"

"जानती हूँ, उपेन्द्र। मैं और भी बहुत-कुछ जानती हूँ। उस शिशु को हम बचा सकते थे। प्रसूति-ज्वर में ग्रस्त उस नारी ने छः महीने जो पीड़ा भोगी, उससे हम उसकी रक्षा कर सकते थे।"

"व्यर्थ की बातें सोच-सोच क्यों दिमाग खराब करती हो, शुभा? मरना-जीना तो भगवान् के हाथ में है। उसमें कोई क्या कर सकता है!"

शुभा की आर्द्र आँखें भक से जल उठीं। बोली, "अपना अपराध भगवान् के मत्थे थोप देना तो हम भारतीयों की विशेषता है। उस शिशु की मृत्यु का उत्तर-दायित्व भगवान् पर नहीं, हमारे ऊपर है, उपेन्द्र—हमारी इन सड़ी हुई प्राचीन

कुरीतियों पर।"

"तुम्हारा तो दिमाग खराब हो गया है!"

"शायद यही बात हो। उफ़, उस दिन का वह दृश्य मैं मृत्यु-पर्यन्त नहीं भूल सकती। प्रसव-वेदना आरम्भ होते ही एक मैली-कुचैली धोती पहना चाचीजी को उस सड़े कमरे में भेज दिया गया, जहाँ एक टूटी झँगोला चारपाई के अतिरिक्त और कुछ भी न था।"

"शुभा...!"

"जाने कहाँ से वह बुढ़िया दाई आ पहुँची। उसकी एक आँख में जाला पड़ा था। उसके बड़े-बड़े नाखूनों में मैल भरा था। उसके दुर्गन्ध-युक्त बालों में जूँ रेंग रही थीं। उसके तन पर लिपटी काली चीकट धोती से दुर्गन्ध आ रही थी।"

दोनों हाथों में सिर दबा शुभा लड़खड़ा उठी। उपेन्द्र पकड़ न लेता तो वह गिर ही पड़ती।

पर शायद उसे इसका भी भान न था। बेहोश-सी वह बोलती ही जा रही थी, "एक हाथ में पानी भरी गन्दी चिलमची और दूसरे में एक चाकू ले उसने अन्दर घुस भड़ाक से द्वार बन्द कर लिये—उस कोठरी के जिसमें एक झरोखा तक नहीं। उफ! यदि चाचीजी के स्थान पर मैं होती तो; मैं...मैं..." शुभा के दोनों हाथ अपने गले पर कस गये, मानो वह अपने हाथ, अपना गला घोंट देना चाह रही हो।

उपेन्द्र एकदम घबरा गया। जोर लगा, उसने शुभा के हाथ उसके गले पर से छुड़ा दिये। निढाल-सी शुभा उसके वक्ष पर लुढ़क गई।

दोनों हाथों से उसे सँभालते हुए हँसी-भरे स्वर में उसने कहा, "पगली, डॉक्टरी पढ़ने का यही परिणाम है। अरे, हम सब उसी कोठरी में, उसी दाई के हाथों जन्मे हैं—मेरे बाबा, मेरे पिता, मैं, आनन्द, अखिल, दीदी।" वह खिल-खिलाकर हँस पड़ा।

वे शब्द शुभा के कानों में पड़े या न पड़े, पर वह हँसी उसके रोम-रोम को बेध गई।

जलते-बुझते नयनों से शुभा ने उसकी ओर देखा। कहा, "हँसते हो! हँसो, अवश्य हँसो। अब कुछ न कहूँगी।"

वह तकिये में मुख गड़ा पड़ रही। उपेन्द्र ने उसे बहुत पुकारा, बहुत झकझोरा, तरह-तरह से मनाया। पर वह न उठी।

* * *

शुभा के घर पत्र जो पहुँचा तो सारे घर में हलचल मच गई। हर्ष का प्रथम आवेग तनिक थमा तो शुभा की माँ सत्यवती के मुख पर चिन्ता की रेखाएँ उभर आईं।

उन्होंने पति से कहा, "उन्हें लिख दो—शुभा को यहाँ भेज दें।"

राम बाबू ने पत्र मोड़कर जेब में रखा। चश्मा नाक पर खिसकाया और पत्नी को घूरते हुए बोले, "वे भला क्यों भेजने लगे!"

सत्यवती जल ही तो गई। कहा, "भेजेंगे क्यों नहीं! बेटी का विवाह किया

है, कोई सदा के लिए उससे नाता तो नहीं तोड़ा !"

राम बाबू ने चश्मा हाथ में उतार लिया। रूमाल से शीशा रगड़ते हुए बोले, "तुम तो बेकार नाराज़ होने लगती हो। तुम्हें उनके यहाँ की रीति-नीति भली-भाँति मालूम है—पहला बच्चा होता है ससुराल में। फिर भला वे क्यों भेजने लगे ?"

सत्यवती के नेत्रों में अश्रु छलक आये। बोलीं, "चूल्हे में जाये ऐसी रीत ! मेरी लाड़ली वहाँ भूखी पड़ी रहेगी, पर लाज के मारे किसी से एक प्याला दूध या दो बादाम तक न माँग सकेगी।"

पत्नी के आँसू देख राम बाबू तिलमिला उठे। व्यग्र होकर बोले, "बस रोने बैठ गईं ! मुझे तुम्हारी यही आदत पसन्द नहीं। अभी लिखता हूँ चिट्ठी। लिखने में क्या देर लगती है ! अभी लो !" वह खड़ाऊँ चटखाते हुए चल दिये।

किन्तु पति के आश्वासन देने पर भी सत्यवती की आँखों से बहते हुए आँसू न रुके। ढाई वर्ष पूर्व का वह दिन उनकी स्मृति में कौंध गया जब उनकी बेटी पहली बार ससुराल से घर लौटी थी...

उसके निस्तेज, श्रीहीन नेत्र; निष्प्रभ पीला पड़ता चेहरा देख सभी अवाक् रह गये थे।

सहेलियों ने गुदगुदाते हुए पूछा था, "क्यों री, जरा देर भी न ठहर सकी ?... इतनी जल्दी तैयारी कर ली क्या ?"

उत्साहहीन, थके स्वर में उसका बुझा-सा उत्तर सुन, फिर किसी को परिहास करने का साहस न हुआ था।

* * *

एकान्त पा सत्यवती ने बेटी को गोद में खींच लिया। कहा, "सच-सच बताना, बिटिया। माँ से छिपाना अच्छा नहीं होता। उपेन्द्र से तेरी नहीं पटती क्या ?"

शुभा ने अपना आरक्त मुख माँ के वक्ष में छिपा लिया। बोली, "यह बात नहीं, माँ।"

सत्यवती के हृदय से मानो भारी पत्थर हट गया। फिर भी आशंका तो बनी ही रही। पूछा, "तेरी सास का व्यवहार अच्छा नहीं है ?"

"नहीं, माँ, नहीं !" वह उठ बैठी।

"फिर क्या है ? बताती क्यों नहीं ? अरे, यह क्या—तू रो क्यों रही है ?"

उमड़ते रुदन को शुभा प्राणपण से रोकने का प्रयत्न कर रही थी। यह सुनते ही माँ की गोद में मुख छिपा, वह फूट-फूटकर रो पड़ी। धीरे-धीरे बात खुली :

वहाँ अत्यधिक पर्दे का प्रचलन था। चौबीस घण्टे में किसी समय भी घूँघट उठाने की आज्ञा न मिलती थी। नौकर, दासी, सास, ननद, देवर—सभी के सामने घूँघट निकालना पड़ता।

कहीं आना नहीं, कहीं जाना नहीं। मनोविनोद का कोई साधन नहीं। घुटे-घुटे कमरों में दिन-रात बैठे रहने से उसकी आत्मा, उसका शरीर सब टूट चले थे।

जहाँ वह बारह वर्ष के देवर तक को नाम लेकर नहीं पुकार सकती, वहाँ···

पिता ने सुना तो गरजकर कहा, "तभी न कहा था कि बड़े घर के लोभ में मत पड़ो। तकरार और शादी सदा बराबरी में ही शोभा देते हैं।"

माँ के नेत्रों से गंगा-जमुना बह चली थीं। बोलीं—"तब क्या पता था! सोचा था कि सब पढ़े-लिखे लोग हैं। सभ्य, सुसंस्कृत, सुन्दर लड़का है। यह पता होता तो क्यों अपनी बिटिया की शादी वहाँ करती। इससे तो हाथ-पैर बाँध इसे गंगा में न बहा देती।"

शुभा भी तो यही सब सोचकर कुढ़ा करती थी। उसकी सहेलियाँ विवाह के पश्चात् काश्मीर और दार्जिलिंग गई थीं, हनीमून के लिए; और वह रात में, चोरों की तरह छिप-छिपकर पति से दो बात करने का अवसर पाती है मानो यह भी कोई पाप हो।

उसने मन-ही-मन दृढ़ निश्चय कर लिया था कि अब वह कभी वहाँ लौटकर न जायेगी।

बुलाने का पत्र आया। उदास मुख से पत्नी के हाथ में पत्र थमा राम बाबू बाहर चले गये।

शुभा ने सुना तो वह रो दी। रोते ही रोते उसने माँ को अपना निश्चय सुना दिया। माँ कब चाहती थी कि स्वतन्त्र वातावरण में पली अपनी आँखों की पुतली को उस घुटे-घुटे वातावरण में घुलने के लिए भेज दे।

किन्तु एक बार सम्बन्ध जुड़ जाने पर क्या ऐसी सरलता से तोड़ा जा सकता है! वह लाख अनुनय कर हार गईं, पर शुभा अपनी ही टेक पर अड़ी रही।

अन्त में झल्लाकर बोली, "यदि यही करना था, तो शुरू में मुझे इतना प्रोत्साहन क्यों दिया था, माँ? क्यों मुझे डॉक्टरी पढ़ने भेजा था? छः साल के उस परिश्रम का, उतने धन का, क्या यही उपयोग है?"

बेटी का एक-एक शब्द माँ के हृदय पर घन की-सी चोट कर रहा था। मन की पीड़ा वह चुपके-चुपके पी रही थी।

पर शुभा का उस ओर ध्यान न था। वह कहती रही, "जहाँ शिक्षा की तनिक भी कद्र नहीं, उस घर में तुमने मुझे क्यों बाँध दिया, माँ? मैंने सोचा था कि विवाह के बाद मैं दीन-दुखियों की सेवा करूँगी; पर घर की चौखट लाँघना तो दूर, वहाँ मैं अपने कमरे के बाहर भी पैर नहीं निकाल सकती।"

माँ की आँखों में आँसू छलछला आये थे, पर शुभा की क्षुब्ध दृष्टि उस ओर न थी। अपने दिल का गुबार आज वह जी भरकर निकाल लेना चाहती थी।

"यदि अन्त में यही करना था तो मुझे डॉक्टरी क्यों पढ़ाई थी, माँ? क्या केवल सहेलियों में बैठकर डींग हाँकने के लिए कि मेरी बेटी भी डॉक्टरी में पढ़ती है? बोलो, माँ! आज तुम्हें बताना ही होगा।" और उसने घूमकर माँ की ओर जो देखा तो सन्न रह गई।

आक्षेप इतना सत्य था कि सत्यवती तिलमिला उठीं। उन्होंने यह कभी नहीं चाहा था, कि उनकी बेटी घर-घर घूमकर रोगियों की परिचर्या करे। इसीलिए तो पढ़ाई पूरी होते ही उसका विवाह कर दिया था।

सब दुःख भूल वह तीव्र स्वर में बोली, "तेरी सब इच्छाओं को पूरा किया। तुझे हर प्रकार से योग्य बनाया। उसका बदला क्या यही देगी, शुभा, कि हमेशा के लिए हमारे माथे पर कलंक का टीका लगा दे? लोग उँगली उठाकर कहेंगे कि देखो, यही है राम बाबू की बेटी, जो पति को छोड़ आजाद बनी घूमती है। अधिक शिक्षा देने का यही परिणाम है। ये शिक्षित लड़कियाँ परिवार में मिलकर नहीं रह सकतीं।"

शुभा चीख उठी, "माँ!"

सत्यवती के नेत्रों से झर-झर आँसू झर पड़े। कहा, "बिटिया, तेरी इच्छा के विपरीत मैं तुझे बाध्य नहीं करना चाहती। यदि नहीं जाना चाहती तो···"

शुभा ने झुककर माँ के चरण छू लिये। काँपते स्वर में कहा, "मुझे क्षमा कर दो, माँ। तुम्हारी सीख मैं कभी न भूलूँगी। मैं··मैं जाऊँगी, माँ।" और उमड़ते हुए आँसुओं को रोकती वह अपने कमरे में भाग गई।

राम बाबू ने सुना तो चिढ़कर पत्नी से कहा, "अभी भी तुम्हारा मन नहीं भरा? वे बड़े होंगे तो अपने घर के! क्या बेटी के प्राण लेकर ही रहोगी?"

"तुम्हें क्रोध आता है, तो न जाने क्या-क्या कहने लगते हो," सत्यवती ने उन्हें झिड़कते हुए कहा, "बहू को झुककर रहना ही पड़ता है। बात पुरानी पड़ जायेगी, तब इतने बन्धन नहीं रहेंगे।"

फिर स्वर को तनिक धीमा करके कहा, "अरे, और साल-दो साल की बात है। उपेन्द्र की नौकरी लग जायेगी, फिर जैसे चाहेगी, रहेगी।"

अपना सामान सहेजती शुभा ने भी ये शब्द सुन लिये थे—उसकी डगमगाती नैया को मानो नई पतवार का सहारा मिला।

पति और बेटी से कुछ भी कहें, किन्तु सत्यवती स्वयं को धोखा कैसे देतीं! उनकी बेटी जिन परिस्थितियों में जीवन बिता रही थी, वह उनसे अधिक और कौन समझ सकता था!

आज ढाई वर्ष से वह इसी ज्वाला में जल रही थी। पवन की तरह उन्मुक्त चाल चलने वाली, चंचल चपला की भाँति चपल उनकी बेटी कैसे वहाँ चुप-चुप बैठी रहती होगी! बिना कुछ शरारत किये जिसे भोजन नहीं रुचता था, वह कैसे वहाँ जीवन के दिन काटती होगी!

आज ठेस खाकर वह दुःख, वह व्यथा, फिर उमड़ पड़ी। वह फूट-फूटकर रो पड़ीं।

तैंतीस करोड़ देवताओं की मनौती मना जो कामना की थी, वह पूरी न हो सकी। छठे दिन ही पत्र का उत्तर आ गया—बहू की विदाई न हो सकेगी।

पत्र पढ़कर राम बाबू गरज उठे, "कैसे नहीं होगी! क्या समझते हैं अपने

आपको ! अधिक नहीं, तो महीने-भर को भी नहीं भेज सकते थे ? मैं आज ही जाऊँगा, और उसे लेकर ही आऊँगा। फिर सम्बन्ध टूटे या रहे।"

काँपते हाथों से वह सामान बाँधते रहे। समीप खड़ी सत्यवती सूनी-सूनी आँखों से देखती रहीं। आज उन्हें पति की बातों का प्रतिवाद करने का विचार तक न आया।

*　　*　　*

समधी को आया देख, रायसाहब ने लपककर उन्हें गले से लगा लिया। हँसकर कुशल-क्षेम पूछी। कुछ इधर-उधर की बातें कीं।

फिर कहा, "बहूरानी से मिलने आये होंगे ? आइये, मिल लीजिये।"

अकेले कमरे में पिता और पुत्री का मिलन हुआ। राम बाबू ने उसे देखा।

शुभा ने पूछा, "कैसे आये, पिताजी ? लेने आये थे क्या ?"

बेटी का कम्पित स्वर सुन, उसकी क्षीण देह और उतरे हुए मुँह को देख उनके निश्चय को मानो नया बल मिला।

"चुप कैसे रह गये, पिताजी ? कुछ तो कहिये।"

वह आतुर स्वर सुन पिता की आँखें भर आईं। कहा, "हाँ, शुभा, तुझे लेने ही आया हूँ।"

"लेने आये थे तो लेकर ही जाइयेगा, पिताजी।"

"ऐसा ही होगा, बेटी।" पिता ने कहा, और सजल नेत्रों को पोंछते बाहर निकल आये।

विदा की बात सुन रायसाहब के खिले मुख पर सिकुड़नें पड़ गईं। चिढ़कर बोले, "मैंने तो पहले ही लिख दिया था, भाई साहब, कि विदा नहीं हो सकती। आदि-काल से चली आई परम्परा को आपके कहने से कैसे तोड़ दूँ ?"

राम बाबू की अनुनय-विनय से रायसाहब का हृदय न पसीजा।

मुसकराकर बोले, "बहुरानी का बाल भी बाँका नहीं हो सकता, भाई साहब! आप अपनी बेटी से जितना स्नेह करते हैं, अपनी पुत्र-वधु के लिए मेरे हृदय में भी उतनी ही ममता है।"

"इसमें मुझे सन्देह नहीं, पर दुख तो इस बात का है कि हमारे इस अभागे देश में बहू और बेटी की स्थिति एक समान नहीं। ईश्वर न करे कि यदि शुभा को कुछ हो गया, तो आपको तो झट दूसरी बहू मिल जायेगी, पर···पर···मैं अपनी बेटी को कहाँ पाऊँगा ?" उनके स्वर में व्यंग्य की तनिक-सी भी छाया न थी; केवल अगाध पीड़ा ही प्रस्फुटित हो उठी थी।

देखते-ही-देखते रायसाहब के नेत्र गीले हो उठे। आर्द्र कंठ से बेटे को पुकारते हुए बोले, "आनन्द, अपनी माँ से कहो, बहू की विदा की तैयारी करें। और जरा भाभी को यहाँ बुला तो लाना, बेटे।"

आदेश सुन आनन्द फौरन चल दिया था। आखिरी बात सुन उसके पैर ठिठक गये।

सहमकर बोला, "जी, यहाँ ?"

पिता ने केवल सिर हिला दिया। आनन्द दौड़कर अन्दर जा पहुँचा।

अन्तःपुर में हलचल मच गई। उस पुराने ठाकुर-घराने में यह असाधारण घटना थी—उस घर की किसी बहू ने आज तक मर्दानी बैठक में पैर नहीं रखा था।

तरुणियाँ और वृद्धायें—सब परदे के पीछे आ खड़ी हुईं।

उस निस्तब्धता में शुभा के पायल बज उठे। धीर भाव से हौले-हौले पैर रखती हुई वह ससुर के सामने आ खड़ी हुई।

उसे देखते ही वह बोले, "आज मैं हार गया, बेटी। तुम्हारे लज्जायुक्त संकोच-पूर्ण आचरण ने, व्यथा-भरे त्याग ने, इस घर की कुरीतियों पर सीधा प्रहार किया है, बहूरानी। भाई साहब की मीठी वाणी ने मेरे सुप्त मस्तिष्क को झकझोरकर जगा डाला है। मेरी बन्द आँखों को जबरन खोल डाला है। आज मैं हार गया, बेटी, क्योंकि मैंने तुझे बेटी नहीं, बहू समझकर रखा था।"

वृद्धाओं की साँस ऊपर-नीचे होने लगी। युवतियों के हृदय धड़कने लगे। पर शुभा उसी भाँति खड़ी रही, मानो कोई मूर्त्ति हो।

रायसाहब कहते रहे, "आज से मैं इस घर में बहू और बेटी का भेद मिटा देना चाहता हूँ। तुम्हें ही इसका प्रारम्भ करना होगा, बहूरानी। मिथ्या ढोंग के प्रतीक, लाज के इस झूठे आवरण को आँखों पर से हटा दो, बेटी।"

वृद्धाओं के हृदय क्रोध से फूल उठे। युवतियों ने आँचल मुख में दे अपना हर्ष छिपा लिया, पर शुभा के हाथ तनिक भी न हिले।

"बूढ़े बाप की बात नहीं मानेगी, बेटी ?" ससुर ने अनुनय-भरे आर्द्र कण्ठ से कहा।

समीप खड़े आनन्द ने पिता का असमंजस देखा, भाभी का संकोच समझा। वह मुसकराकर आगे बढ़ा। पीछे से भाभी की साड़ी का छोर पकड़, उसने आँचल मस्तक तक खींच दिया।

शुभा के गोरे-गोरे मुख पर मानो किसी ने लाल-लाल गुलाल जोरों से मल दिया। ससुर के चरणों में धीरे से झुककर प्रणाम करके, दोनों हाथों में अपना मुख छिपा, वह अन्दर भाग गई।

४

सूनी माँग

अच्छी-भली नौकरी है। खाने-पीने की सुविधा है। यथेष्ट अवकाश है। फिर भी कहीं कोई अभाव खटकता रहता है, कोई पीड़ा कसकती रहती है। इस अभाव में, पीड़ा की इस कसक में ही रंजीत को शान्ति मिलती है। वह नहीं चाहता कि यह घाव भर जाये। कुरेद-कुरेदकर उस सूखते घाव को वह फिर हरा कर देता है। फिर अश्रु-विहीन शुष्क नयन जलने लगते हैं, वेदना से प्राण व्यथित हो उठते हैं।

कल से रंजीत की चिन्ता-सरिता में एक और नई धारा आ मिली है। गिरीश बाबू ने कहा था—"रंजीत, अब तुम्हें विवाह कर लेना चाहिये।"

विवाह ! रंजीत मन-ही-मन कुढ़ा था। प्रत्यक्ष में बोल उठा था—"क्यों ?"

यह अनोखा प्रश्न सुन गिरीश बाबू की शृंखलित विचारधारा विशृंखलित हो उठी थी। तुरन्त ही सँभलकर बोले थे—"यही तो आजकल के युवकों को रोग है। अरे भई, चौबीस वर्ष की उमर होने को आई, नौकरी से भी लग गये। अब विवाह करके अपना घर बसाओ। गृहस्थी का सुख भोगो।"

"गृहस्थी का सुख !" रंजीत ठठाकर हँस पड़ा था—"गृहस्थों के चरणों में लाखों प्रणाम ! नहीं नानाजी, मैं तो अकेला ही अच्छा !"

उस शुष्क खोखले हास्य को सुन, वृद्ध गिरीश बाबू कुछ चिन्तित हो उठे थे। बोले—"कैसी बातें करता है ! मैं तेरे योग्य कन्या की खोज में हूँ। मिलते ही···"

रंजीत बीच में ही बोल उठा था, "नहीं, नहीं, नानाजी। यह विचार छोड़ दीजिये। मैं विवाह कभी भी न करूँगा। कला की आराधना को ही मैंने अपने जीवन का ध्येय बनाया है।"

गिरीश बाबू जरा हँसे थे। "अरे पगले, नारी को प्राप्त कर ही पुरुष पूर्णता की प्राप्ति करता है। संगिनि के अभाव में, तेरी कला भी अधूरी ही रहेगी।"

"यदि लक्ष्य-प्राप्ति में सन्देह लगेगा, तो अवश्य आपकी बात मान लूँगा, नानाजी। अभी मुझे क्षमा करिये।" विवाद का अवसर न दे रंजीत वहाँ से उठ आया था।

दरवाजे पर थपथपाहट हुई। दृष्टि घुमाये बिना ही उसने पूछा—"कौन ?"

धीरे से दरवाजा खोलकर जीवन अन्दर आया। उसके हाथ में एक लिफाफा था। अपराधी के समान बोला—"सवेरे यह चिट्ठी आई थी, मालिक। देना भूल गया था।"

रंजीत ने मुसकराकर उसकी ओर देखा, उसके दयनीय भाव को देखा—तनिक-सी भूल हो जाने पर ही क्यों मानव, मानव के आगे घिघियाने लगता है !

उसने पत्र ले लिया। कहा—"भूल गया तो क्या हुआ ? भूल तो सभी से होती है।"

जीवन कृतज्ञ हो उठा। मन-ही-मन वह गर्व से फूल उठा। ऐसा मालिक किसे मिलता है ! वह लौटा तो उसकी चाल में अहंकार था।

रंजीत ने पत्र पर दृष्टि डाली। वह चौंक उठा—भैया का पत्र ! आँखों के आगे मंजु का स्नेहिल मुखड़ा तैर उठा—कानों में भैया की कठोर वाणी गूँज उठी। उसका हृदय ग्लानि से भर उठा। उसने पत्र के दो टुकड़े करके नीचे फेंक दिये।

दूसरे ही क्षण वह अनुतप्त हो उठा। महीनों बाद आज भैया का यह पहला पत्र आया है। उसने झुककर दोनों टुकड़े उठा लिये। सहसा उसे ध्यान आया—भैया को ब्लड प्रेशर है। हो सकता है उनकी बीमारी बढ़ गई हो। उसके अन्तर में सुप्त स्नेह जाग उठा। लिफाफे के टुकड़ों में से, उसने पत्र के दोनों भाग निकाले। मेज पर रख उन्हें जोड़ा।

संक्षिप्त-सा वह पत्र पढ़ते ही वह चौंक उठा—आज रात की ट्रेन से भैया आ रहे हैं ! साथ में भाभी भी होंगी !

उसका सिर चक्कर खाने लगा। दोनों हाथों से माथा पकड़, वह वहीं धरती पर बैठ गया। कहाँ गई मंजु की वह आदर्शवादिता ! कहाँ गया वह नवीन विचारों का ढोंग ! अन्त में वह भैया के पास ही लौट गई न ?

अपने विचारों पर उसे स्वयं ही अचरज हुआ। मंजु भैया के पास लौट गई—इसका अर्थ है कि उन दोनों में मेल हो गया। यह जानकर उसे प्रसन्न होना चाहिए, न कि...

तब उस दिन मंजु नहीं, केवल उसका आवेश बोल रहा था ! वह आदर्श भारतीय नारी है। ठोकर खा-खा फिर उन्हीं चरणों में लौट जाना उसकी विशेषता है। वह सती सावित्री की वंशजा है, मृत पति के शव से चिपटकर, सौ-सौ युग जीवित रहने की अभिलाषा करना, सौ-सौ पुत्रों की कामना करना, उसका वंशगत स्वभाव है।

वह ठठाकर हँस पड़ा। हाथ में बँधी घड़ी पर उसने दृष्टि डाली। अभी सात बजे हैं। ट्रेन आने में सवा घंटा है। मजे से टहलते-टहलते स्टेशन जाया जा सकता है।

उसने जीवन को पुकारकर कहा कि वह घूमने जा रहा है। भोजन के समय शायद दो जने और होंगे।

खोया-खोया-सा रंजीत चला जा रहा था। सूनी, निर्जन सड़क। दूर-दूर लगे बिजली के खम्भे। खम्भों की पड़ती छाया। छाया और रोशनी। छाया और रोशनी। छाया और...

सहसा कोई चीख उठा। रंजीत की विचारधारा को ठेस लगी। उसने दृष्टि

बातों से कुछ ऐसा ही आभास मिला था। नानाजी भी कल यही कह रहे थे।

भैया की बात को मजाक समझकर टाल दिया था। नानाजी को नव-वधु पसन्द नहीं आई थी, इसलिए उनके मन्तव्य को भी महत्त्व नहीं दिया था। परन्तु आज स्वर्णा जो कुछ कह गई है—वह सच ही है।

सामने खिंची उन रेखाओं में मंजु की छवि मूर्त्त हो उठी। रंजीत ने कहा—"क्यों, भाभी, धन के लिए नारी अपनी आत्मा तक बेच सकती है क्या? शारीरिक सुख के लिए अपनी देह बेच सकती है? आधुनिक नारी का यह कौन-सा नया रूप है, भाभी?"

रंजीत को लगा—मानो मंजु मुसकरा रही है। परन्तु उस रहस्यमयी मुसकान का अर्थ वह समझ न सका। एकाएक उसे ध्यान आया—उसने भाभी के माथे पर बिन्दी तो लगाई ही नहीं।

कुछ भी क्यों न हो, माथे पर बिन्दी और माँग में सिन्दूर लगाना मंजु कभी न भूलती थी। आज भी नहीं भूलती, यद्यपि अब उस बिन्दी का कुछ अर्थ नहीं, माँग सदा के लिए सूनी हो चुकी है।

साथ ही उसे ध्यान आया—स्वर्णा सिन्दूर नहीं लगाती। बिन्दी कभी लगाती है, कभी नहीं। इसी पर नानाजी कल कितने नाराज हुए थे। उसने मन ही मन सोचा था कि भाभी को समझा देगा—जब तक वह यहाँ हैं, नित्य नियम से बिन्दी और सिन्दूर अवश्य लगा लिया करें। फिर अपने घर जाकर कुछ भी करें।

चित्र के माथे पर बिन्दी लगाकर रंजीत स्वर्णा के कमरे की तरफ चल दिया। वह चारपाई पर औंधी पड़ी कुछ पढ़ रही थी। उसे देख वह उठ बैठी।

रंजीत ने कहा—"आप सिन्दूर क्यों नहीं लगातीं?"

स्वर्णा हँस पड़ी। बोली—"मानस में सुहाग की लाली न बिखरी हो तो माँग में सिन्दूर भर लेने से ही क्या होगा?"

रंजीत क्षण-भर को अप्रतिभ हो गया। दूसरे ही पल उसका हृदय कठोर हो उठा। मन में आया कि कहे—'मन में सुहाग की लालिमा न सही, धन की आभा तो बिखर रही है। जो चाहा था वह पाया, तब माँग क्यों सूनी रहे?'

परन्तु उसे कुछ कहने का अवसर न मिला। भैया वहाँ आ गये। बोले—"स्वर्णा, वियना से तार आया है।"

भाभी की ओर देख रंजीत भौंचक्का रह गया—आनन्द की ऐसी अपूर्व दीप्ति, उल्लास की ऐसी अनुपम विभूति, उसने कभी किसी के मुख पर नहीं देखी थी।

"सच? देखूँ, क्या लिखा है?" स्वर्णा ने तार लेते हुए कहा।

"तुम्हारे भाई की एक आँख बिलकुल ठीक हो गई। छः महीने बाद दूसरी आँख का भी आपरेशन हो जायेगा।"

स्वर्णा ने झुककर पति के चरणों की धूल माथे पर चढ़ा ली और बोली—"आपका यह उपकार मैं कभी नहीं भूल सकूँगी।"

उसके दोनों हाथ पकड़, उसे ऊपर उठाते हुए भैया ने कहा—"कैसा उपकार ! मेरा सब धन तुम्हारा ही तो है। पति पत्नी के लिए यदि कुछ करता है, तो इसलिए कि वह उसका संरक्षक है, न कि उपकार की भावना से।"

रंजीत के हृदय में सैकड़ों शूल आ बिंधे। उसके मानस में मंजु की भरी माँग लहरा गई, और आँखों के आगे स्वर्णा की सूनी माँग कौंध उठी। वह बोला—"परन्तु कितना अच्छा होता, यदि रक्षक होने के साथ ही, पति पत्नी का साथी भी होता। तब मन में दया, स्नेह, उपकार की भावना बनी रहती और यह अनर्थ न हो पाता।"

बिजली की-सी तेजी से स्वर्णा के हाथ छोड़, भैया ने तीखे स्वर में पूछा—"कैसा अनर्थ ?"

"कुछ नहीं," रंजीत ने धीमे से कहा, और धीरे-धीरे बाहर चला गया।

५

आँधी का आम

आँधी आती है, तो पेड़ का पत्ता-पत्ता डोल उठता है। न जाने कब कौन-सा आम टूट पड़े, कौन जानता है! रखवाले की निगाहों से छिपती-छिपती पारो अमराई में घूम रही थी। आम खाने को उसका बड़ा मन था, पर ढेला मारने से या पेड़ पर चढ़कर तोड़ने से पकड़े जाने का डर था। उसके नन्हे-से मन को बस आँधी में टपके आम का ही सहारा था।

आम न मिला। निराश पारो घर लौट आई। उसकी लाल, सुर्ख आँखों पर दृष्टि पड़ते ही लछमनिया का दिल सूख गया। बेटी का हाथ पकड़कर गोदी में जो खींचना चाहा, तो उसके मुँह से चीख-सी निकल गई—पारो का शरीर भट्टी की तरह जल रहा था।

दवा-पथ्य के लिए पास में पैसा भी न था। निरुपाय लछमनिया डरते-डरते मालकिन के पास गई। बीना ने पैसे तो दे दिये, पर साथ ही चार खरी-खोटी भी सुना दीं। कहा—"बुखार नहीं होगा तो क्या? दिन-भर अनाप-शनाप खाती है, धूप और लू में घूमती है। कितनी बार तुझसे कहा कि उसे स्कूल में दाखिल करा दे! पर तुम लोगों को तो भले के लिए कहो तो बुरी लगती है।"

लछमनिया आँसू पोंछते चुपके से लौट आई।

जो गाय दूध देती है, उसकी मार भी सह ली जाती है। उसका बीरू आज होता तो वह क्यों घर-घर जूठे बर्तन माँजती। उसकी स्मृति बस यह नन्ही-सी पारो ही तो है। उसकी रक्षा के लिए, उसका पालन-पोषण करने के लिए, लछमनिया दुनिया के सारे दुःख सह लेगी, मामूली-सी दो-चार धमकियों की तो बात ही क्या है।

लछमनिया को फटकार कर भी बीना का रोष शान्त न हुआ था। मन ही मन सोच रही थी—'अच्छा हुआ जो पारो का इधर आना बिलकुल बन्द कर दिया, नहीं तो उसके साथ रहकर ज्योति भी धूल-मिट्टी में खेलना सीख जाती। सफाई तो ये लोग जानते ही नहीं। इनके मैले-कुचैले वस्त्रों और गन्दे, सीलन से भरे घरों में लाखों तरह की बीमारियों के कीटाणु भरे रहते हैं। उनसे बच्चों की जितनी रक्षा की जाये, उतना ही कम है।'

तभी ज्योति स्कूल से आई।

बस्ता एक ओर फेंकते हुए बोली—"सिर बड़ा दुःख रहा है, माँ।"

बीना ने उसकी लाल-लाल आँखें देखी, तो चौंक गई। माथा छूकर देखा—ज्योति को तेज ज्वर चढ़ आया था।

बेटी को शैया में लिटाकर, उसने तुरंन्त हरीश बाबू को फोन किया। सुनते ही वह भी घबरा गये। इकलौती बेटी थी। प्राणों से भी प्यारी थी। दफ्तर छोड़, वह उसी समय मोटर लेकर चल दिये और सिविल-सर्जन को अपने साथ लेकर घर पहुँचे।

इलाज शुरू हो गया।

सिविल-सर्जन तो आते ही थे, मिलिट्री के बड़े डॉक्टर हरीश बाबू के मित्र थे, वह भी आते थे। पड़ोस के बंगाली डॉक्टर भी जब-तब आ जाते और अपनी सलाह दे जाते; पर बीना परेशान थी—लछमनिया काम पर नहीं आ रही थी।

मालिन आकर कह गई—'उसकी बेटी को माता निकली है। वह दो-तीन दिन काम पर नहीं आयेगी।'

सुनते ही बीना का रोष, धरती पार कर आकाश तक जा पहुँचा। गरजकर बोली—"माता निकली है, तो क्यों ? दो घण्टे अकेली पड़ी रहेगी, तो मर नहीं जायेगी उसकी बेटी ! जा-जा, उसे काम पर बुलाकर ला। देखती नहीं, ज्योति का क्या हाल है ! मैं क्या पल-भर को इसके पास से उठ सकती हूँ !"

जाते-जाते मालिन ठिठक गई। बोली—"मालकिन, डॉगदर साहब इस बार आवें तो पारो को भी लाकर दिखा दूँ ? बेचारी बिना दवा-दारू बुरी तरह तड़प रही है।"

सुनकर बीना और भी गरम हो उठी, "हाँ, हाँ, डॉक्टर साहब तेरे नौकर लग रहे हैं न, जो मुफ्त मरीज देख लेंगे ! सोलह रुपया और पच्चीस रुपया फीस है देने के लिए ? दवा खिलाने का ऐसा ही शौक है तो ले जाओ न खैराती अस्पताल !"

नयनों के आँसू, पलकों में छिपाकर, मालिन चुपके से लौट गई। दस मिनट बाद ही लछमनिया काम पर आ गई।

उसी दिन सन्ध्या तक ज्योति की देह पर भी लाल-लाल दाने उभर आये। भय और आशंका से बीना अधीर हो उठी—नगर में शीतला का भयँकर प्रकोप था।

सन्तोष केवल इतना ही था कि स्कूल में ज्योति को टीका लग चुका था। बीना को पूर्ण विश्वास था कि वह अवश्य अच्छी हो जायेगी। उससे कुछ भी न हो सकेगा। टीके की औषधि व्यर्थ कभी नहीं जाती।

बेटी की सेवा-ममता में बीना खाना-पीना भी भूल गई। हरीश बाबू ने दफ्तर से छुट्टी ले ली। दिन-रात वह उसी की चारपाई से लगे बैठे रहते।

आज ज्योति की तबीयत कुछ अच्छी थी। कई दिन बाद आज बीना के मुख पर तनिक मुसकान आई थी।

तभी लछमनिया आकर बताशे दे गई। उसने शीतला मैया की मन्नत मानी थी। उसकी पारो ठीक हो गई थी। वह उसी का प्रसाद लाई थी।

यों बीना को नौकरों की वस्तु छूने से भी घृणा थी, पर आज उसने बताशा

स्वयं भी खाया और हरीश बाबू को भी खिलाया।

मन ही मन कहा—'शकुन अच्छा है। मेरी बेटी भी अब झट से ठीक हो जायेगी।'

तभी ज्योति ने पुकारा—"माँ!"

बीना स्नेह से बेटी के ऊपर झुक गई। बोली—"क्या बात है, बेटी?"

"अभी कितनी रात बाकी है, माँ?"

"रात कहाँ, अब तो दिन है, बेटी। देख तो, दोपहरी का समय है।"

"फिर यह चारों तरफ अँधेरा-ही-अँधेरा क्यों हो रहा है? मुझे तो कुछ भी दिखाई नहीं देता, माँ!"

बीना के प्राण सूख गये। उसने बेटी की आँखों में झाँककर देखा—उन नयनों में ज्योति न थी।

शीतला मैया ने उसके नयनों की ज्योति को ज्योतिहीन कर दिया था—बीना कसकर चीख उठी।

बगिया में घूमती पारो के कानों में वह चीख पड़ी, तो वह डरकर एक वृक्ष की ओट हो गई। माँ की नजरों से छिपकर वह भाग आई थी—आँधी जो आ रही थी। न जाने कब कौन-सा आम टूट पड़े, कौन जानता है!

अधूरी गाँठ

संध्या होने आयी, ललिता अभी भी अपने कमरे में घुसी बैठी थी। माँ को कुछ विस्मय हुआ, कमरे के द्वार पर खड़े होकर कहा—"ललिता, आज तू जायेगी नहीं ?"

ललिता ने पाठ्य-पुस्तक बंद कर दी, अँगड़ाई लेते हुए कहा—"आज वे सब यहीं आयेंगे, माँ।"

शैल ने कुछ घबराकर कहा—"और तूने पहले से कहा भी नहीं ! जलपान की कुछ भी तैयारी नहीं करवायी मैंने तो !"

"सब कुछ तो याद हो गया है, माँ। एक बार मिलकर दोहरा लेंगे, बस। आध घण्टा लगेगा अधिक-से-अधिक। इसलिए वे लोग देर में ही आयेंगे। जलपान की आवश्यकता न पड़ेगी।" ललिता बोली।

शैला ने उत्साहित होकर कहा—"याद तो हो ही जाना चाहिए, बेटी। अब केवल दो ही दिन तो शेष रहे हैं। फिर भी लापरवाही मत करना। कहीं ऐसा न हो कि समय पर सब कुछ भूल जाओ।"

ललिता हँस पड़ी। बोली—"ऐसा कदापि नहीं हो सकता, माँ। पहली बार हम नाटक कर रहे हैं, तो क्या ! सारी नगरी पर अपनी प्रवीणता की धाक न जमा दी तो कहना !"

शैला कुछ कहने जा रही थी, परन्तु उसे बोलने का अवसर न मिला। बाहर द्वार पर कोलाहल मच उठा था। दूसरे ही क्षण द्वार खोल, किशोर-किशोरियों का दल अन्दर आ घुसा।

शैला को चारों ओर से घेरकर कहा उन्होंने—"चलो माँ, आज हमारी रिहर्सल देखो। कल चन्द्रकान्तजी के सामने करना है हमें।"

शैला हँस दी। कहा—"उन्हीं के सामने करना ठीक होगा बेटा, मैं क्या तुम्हारे अभिनय की बारीकियाँ समझ सकती हूँ !"

उपेन्द्र ने उनका हाथ पकड़कर खींचते हुए कहा—"बहाना बनाने से काम नहीं चलेगा, माँ। आज तुम्हें चलना ही होगा।"

विवश-सी शैला, हँसते-हँसते उसके संग खिंची-खिंची चली गयी।

परसों वसंत-पंचमी थी। नगर में धूम-धाम से वसन्तोत्सव मनाने की तैयारियाँ

की जा रही थीं। कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। उच्च, सम्भ्रान्त पदाधिकारी और प्रमुख नागरिक, सभी उत्साहपूर्वक इस समारोह में भाग ले रहे थे।

कालिज के विद्यार्थियों ने मिलकर 'चित्रांगदा' नाटक अभिनीत करने का निश्चय किया था। नगर-सेठ अमरनाथ की पुत्री ललिता चित्रांगदा की भूमिका करने जा रही थी। नगराधीश चन्द्रकान्तजी का पुत्र उपेन्द्र नायक का पार्ट कर रहा था। शेष भूमिकाएँ अन्य कुशल किशोर-किशोरियों ने सँभाल रखी थीं। रिहर्सल जोरों से चल रहा था।

मुग्ध-सी शैला, इन नवीन अभिनेताओं की प्रवीणता को तल्लीन होकर देख रही थी, कि दीनू ने एक तार लाकर थमा दिया हाथ में।

अब तार हमारे दैनिक जीवन का एक अंश बन चुका है। फिर भी उस पर दृष्टि पड़ते ही, एक बार सबके हृदय धड़क-से उठते हैं। पल-भर को रिहर्सल थम गया। ललिता आकर माँ के पीठ पीछे खड़ी हो गयी। उपेन्द्र उनके पार्श्व में आ खड़ा हुआ। सभी की उत्सुक दृष्टि, तार खोलती उन उँगलियों पर ही स्थिर हो गयीं।

माँ के साथ ही ललिता ने भी वह सन्देश पढ़ा। उसका मुख आरक्त हो उठा। माँ कुछ बोल सकें, इससे पूर्व ही उसने तार उनके हाथ से छीन, उसके सौ-सौ टुकड़े कर कोने में फेंक दिये।

विस्मित-सी शैला बोल उठी—"यह क्या किया, बेटी?"

आहत, अपमान से ललिता का हृदय क्षुब्ध हो उठा था। बोली—"जो करना चाहिए था, माँ।"

उपेन्द्र ने चाहा कि पूछ ले, तार में क्या लिखा था। परन्तु एक का रोष, और दूसरे का विस्मय देख, उसे कुछ पूछने का साहस न हुआ।

रिहर्सल फिर प्रारम्भ हुआ। परन्तु अब मानो उसमें वह उत्साह शेष नहीं रहा था। शैला की भावशून्य-सी आँखें, ललिता के मुख पर न जाने क्या खोजने का प्रयत्न कर रही थीं। और ललिता की दृष्टि चारों ओर फिसल रही थी, परन्तु माँ की दिशा में एक पल को भी नहीं।

एकाएक शैला उठकर चली गयी। रिहर्सल बन्द हो गया। दीवार से सिर टेक, शिथिल स्वर में ललिता बोल उठी—"ओह! आज तो बहुत थक गये।"

ललिता को थकान की दुहाई देते, कभी नहीं सुना था किसी ने। परन्तु कुछ कहकर वे उसके क्लेश को और बढ़ाना नहीं चाहते थे। किसका तार था वह? क्या लिखा था उसमें जिससे कि चंचल-चपल ललिता यूँ क्रुद्ध हो उठी है, सरल-स्नेहातुरा शैला यूँ उद्विग्न हो उठी है, यह जानने की उत्सुकता सभी के मन में थी। परन्तु वे कुछ पूछना नहीं चाहते थे।

एक-एक कर सब चले गये। रह गया केवल उपेन्द्र। कमरे को व्यवस्थित करने में, ललिता की सहायता करते हुए उसने कहा—"ललिता, किसका था वह तार!"

ललिता डिब्बे में घुँघरू रख रही थी। दृष्टि बिना घुमाये ही भावविहीन स्वर में बोली—"किसी का हो! तुमसे मतलब?"

वीणा के तार छेड़ते हुए उपेन्द्र ने धीमे स्वर में कहा—"न बताओ, किसका था, यह तो मैं समझ ही चुका हूँ। क्या लिखा था उसमें, यह मैं चाचाजी से पूछ लूँगा।"

घुँघरू का डिब्बा झनाके से अलमारी में पटकते हुए, ललिता बोली—"क्या समझे हो तुम? बोलो, बताओ!"

उपेन्द्र ने वीणा उठाकर कोने में खड़ी कर दी। ललिता के सम्मुख आ खड़े हो, आमोदमयी मुसकान-भरे मुख से कहा—"किसी का क्रोध मुझ पर क्यों उतार रही हो, ललिता! या विवाह के उपरान्त पति पर किस प्रकार क्रोध किया करोगी, इसका अभ्यास कर रही हो अभी से?"

रोष भूल ललिता हँसने लगी, बोली—"हाँ, रिहर्सल ही तो कर रही हूँ। जानते हो! कल वह महाराज स्वयं पधार रहे हैं यहाँ। और जो काम आज तक नहीं किया मैंने, वह कल विवश हो करना पड़ेगा मुझे।"

"वह क्या?"

ललिता ने मुँह बिचकाकर कहा—"अब सब बता दूँ!"

"जब इतना बता दिया है, तो वह भी बता दो।"

तानपुरा उठाने के लिए झुकते हुए ललिता ने ~~कहा~~—"अच्छा तो सुन ही लो। तुम भी क्या कहोगे कि किसी से पाला पड़ा था। आज तक पतिदेव का ठीक से मुँह भी नहीं देखा है मैंने, किन्तु कल माता-पिता की उपस्थिति में ही, उनसे अच्छी तरह झगड़ लेना पड़ेगा।"

"बेचारा!" तबले पर ठुमका मारते हुए उपेन्द्र ने कहा—"ऐसी लड़ाका पत्नी मिल रही है उसे! और लड़ाई का प्रारम्भ हो रहा है विवाह से पहले ही! यह शगुन अच्छा नहीं।"

ललिता गम्भीर हो उठी। तानपुरा उठा, झट से कोने की ओर बढ़ गयी वह। वीणा के समीप ही उसे टिकाते हुए कहा—"तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर। ईश्वर करे आज के तुम्हारे वचन सत्य हों।"

उपेन्द्र घबरा गया, परन्तु ललिता के सामने घबराहट प्रकट करना निरी मूर्खता है। वह ऐसी चिढ़ जायेगी कि बात करना तो दूर, फिर मुड़कर उसकी ओर देखेगी भी नहीं। तबले पर एक और चोट देकर कहा—"झगड़ा है किस बात पर?"

"कल तो रविवार है, दोपहर को आ जाना यहाँ। सब सुन लोगे।"

"सुन तो लूँगा ही," रोष व्यक्त करते हुए उपेन्द्र बोल उठा, "पर तुम कुछ मत कहना अपने मुँह से!"

तबले उठाकर यथास्थान रख, वह तेजी से बाहर निकल गया।

बिखरी कुर्सियाँ ठीक कर ललिता धीरे-धीरे अन्दर जा पहुँची। माँ के कमरे में

घुसते ही वह चौंक पड़ी। उपेन्द्र ठाठ से गुँजिया-मटरी पर हाथ साफ कर रहा था।

हँसकर बोली—"वाह रे लोभी! तुम यहाँ जमे बैठे हो—और मैं सोच रही थी कि अब तक तुम अपने घर के द्वार पर पहुँच गये होगे।"

उपेन्द्र ने शैला को लक्ष्य कर कहा—"देख लिया माँ! कैसी बेटी है यह तुम्हारी! घर आये अतिथि का सत्कार करना तो दूर, उसका तनिक-सा खाना भी बुरा लगता है इसे।"

"बुरा तो लगता ही है।" धम्म से उसके निकट बैठते हुए ललिता ने कहा—"स्वार्थी कहीं के! अकेले-अकेले खाने बैठ गये। एक बार सोचा भी नहीं, कि किसी और को भी भूख लगी होगी।"

कहते-कहते ललिता ने उसके सामने से प्लेट खींच ली, और खाना प्रारम्भ कर दिया।

उपेन्द्र ने प्लेट अपनी ओर घसीट ली, कहा—"यह तुम्हारा अत्याचार है, ललिता। यह मेरा हिस्सा है, इसमें तुम हाथ नहीं बँटा सकती।"

झट से प्लेट अपनी ओर सरका कर ललिता ने कहा—"अपने हिस्से से कहीं अधिक खा चुके तुम। अब यह सब मेरा है।"

उनकी लड़ाई देख, शैला मन-ही-मन प्रमुदित हो रही थी। झगड़ा बढ़ते देख वह उठ खड़ी हुई। बोली—"बिना लड़े तुम दोनों को भोजन नहीं पचता, क्यों! अभी लाती हूँ मैं प्लेट भरकर। देखूँ, ऐसा कितना खाने वाले हो!"

"लाकर देखो न।" उपेन्द्र ने कई शक्करपारे एक साथ मुँह में डालते हुए कहा।

लड़-झगड़कर, खा-पीकर उपेन्द्र जाने लगा। ललिता उसे द्वार तक छोड़ने आयी, बोली—"तो कल अवश्य आना उपेन्द्र, दोपहर को भोजन यहीं करना।"

जाते-जाते उपेन्द्र मुड़कर खड़ा हो गया। शरारत-भरे स्वर में बोला—"मियाँ-बीबी लड़कर फिर एक हो जाएँगे। बीच में मेरी कुटम्मस जो होगी वह मुफ्त में।"

"मत आना।" ललिता ने क्रुद्ध होकर कहा और धमाके से द्वार बन्द कर दिये।

"ललिता, ललिता, सुनो ललिता!" उपेन्द्र ने द्वार पीटते हुए कहा, परन्तु सुनने के लिए ललिता वहाँ न थी।

द्वार पीटे जाने की आवाज सुन शैला विस्मित हो उठी। सदा खुले रहने वाले द्वार आज बन्द किसने कर दिये? और कौन उन्हें यूँ भड़ाभड़ पीट रहा है?

वह उठकर आयी। द्वार खोल बाहर झाँका, परन्तु वहाँ कोई भी नहीं था। विस्मित-सी वह लौट आयी।

अगले दिन उपेन्द्र ने ललिता के घर में पैर रखा, तो वहाँ सन्नाटा छाया

हल्के-से धक्का देकर देखा—अन्दर से चटखनी बन्द थी।

"ललिता! ललिता!" पुकारते वह रसोई में जा पहुँचा। उसे देख शैला ने कहा—"कौन, उपेन्द्र! आओ बेटा, आओ।"

शैला चुपचाप बेसन भूनती रही। उपेन्द्र खड़ा-खड़ा पलटा चलाना देखता रहा। कुछ देर बाद पूछा—"ललिता घर में नहीं है, माँ?"

"है क्यों नहीं!" कड़ाही उतार धम्म से नीचे पटकते हुए शैला ने कहा—"कल से अपने कमरे में बन्द पड़ी है। न द्वार खोला, न जल की एक बूँद कण्ठ में उतारी।"

उपेन्द्र विस्मित हो उठा, पूछा—"क्यों?"

"हम भी कभी छोटे थे। माता-पिता के सामने कभी मुँह तक नहीं खुला हमारा। पिता की एक जरा-सी बात पर इतना मान करके बैठी है? दे दे न प्राण! ऐसी सन्तान का प्राण दे देना ही अच्छा है।"

उपेन्द्र उनके निकट जा बैठा। अधीर आग्रह से पूछा—"बात क्या थी, माँ? मुझे भी नहीं बताओगी?"

शैला के हृदय में रोष छलक रहा था। नयनों में जल भर आया था। बोली—"अरे बेटा, जो होने वाला है, वह मुझे साफ-चौड़े दीख रहा है। चार दिन बाद जिस बात को हथेली पर लेकर सारा नगर हँसी उड़ाएगा, उसे आज तुझसे छिपाकर करूँगी भी क्या!"

उपेन्द्र ने हाथ में एक चाकू उठा लिया था। उससे धरती पर आलू के छिलकों को कोंचता रहा। बोला कुछ नहीं।

आँचल के छोर से शैला ने अपनी आँखें पोंछ लीं। बोली—"अच्छा तू ही बता, उपेन्द्र। चार दिन बाद तो उसे उनके घर रहना ही है। अभी से उनकी बात मान कर नहीं चलेगी, तो काम कैसे चलेगा, बेटा!"

उपेन्द्र फिर भी चुप ही रहा। शैला पुनः बोली—"यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। यदि उन्हें पसन्द नहीं कि वह स्टेज पर अभिनय करे तो ठीक ही है। जीवन में फिर कभी तो उसे स्टेज पर जाना नहीं है। फिर व्यर्थ ही उन्हें रुष्ट करने से क्या लाभ?"

बात ठीक से समझ में नहीं आयी। उपेन्द्र ने पूछा—"क्या उन लोगों की इच्छा नहीं कि ललिता इस नाटक में भाग ले?"

"यही बात है बेटा," शैला ने सिर हिलाकर कहा—"न जाने, कैसे उन लोगों को पता लग गया कि ललिता इस नाटक में भाग ले रही है। और छिपाने की कुछ बात थी भी नहीं। कल उनका तार आया था। आज रमेश स्वयं ही आया है।"

उपेन्द्र विस्मित हो उठा, बोला—"विचित्र इच्छा है यह उनकी। ललिता को बुरा लगना स्वाभाविक ही है। क्या वे वास्तव में समझते हैं कि हम उनकी यह बात

मान लेंगे !"

"और सुनो !" शैला ने विस्मय से कहा—"मानने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या है ?"

"मानने योग्य बात तो है नहीं माँ, तीन महीने से हम साधना कर रहे हैं। नाटक में मुख्य भूमिका उसी की है। एक उनके वहम के कारण कितनों का उत्साह नष्ट हो जायेगा, यह भी सोचा आपने ?"

शैला ने कहा—"यह बचपन की बात है, बेटा। उसके संवाद की लाइनें तुम सभी को याद हैं। तुम लोगों में से कोई भी उसे कर सकता है।"

"नहीं कर सकता, कदापि नहीं कर सकता !" आलू के उस छिलके को बीच से चीरते हुए उपेन्द्र बोल उठा—"यदि और कोई इस योग्य होता, तो उसे यह भूमिका दी ही क्यों जाती ? अच्छा माँ, यदि हम उनकी बात मानना अस्वीकार कर दें, तब ?"

"तो वे यह सम्बन्ध तोड़ देंगे।"

"बस इतनी-सी बात पर ?"

"हाँ, बस इतनी-सी ही बात पर !" शैला ने धीर भाव से कहा।

क्या कहे उपेन्द्र ! वह समझ न सका। एक साँस खींच शैला उठ खड़ी हुई, बोली—"मैं तो कह-कहकर हार गयी। हो सकता है, तेरे कहने से वह द्वार खोल दे। प्रयत्न कर देखो।"

उपेन्द्र उठकर चला। बरामदे में ही मिल गये अमरनाथजी। उसे देखते ही वह बोल उठे—"कौन ! उपेन्द्र ! खूब आये बेटा, खूब आये ! अभी मैंने तुम्हारे घर पर ही फोन किया था।"

"क्या काम था, चाचाजी ?" उपेन्द्र ने पूछा।

"सब बताता हूँ, सब बताता हूँ। इधर आओ मेरे कमरे में, सब बताता हूँ अभी।" उसका हाथ पकड़कर चलते हुए वह बोले।

उपेन्द्र का हृदय भर-सा आया। उनकी मुख-मुद्रा से उनके हृदय की व्याकुलता स्पष्ट झलक रही थी।

बोले—"क्या बताऊँ, उपेन्द्र ! बड़ी मुश्किल में जान फँस गयी है, बेटा। समझ में नहीं आता कि तुम्हारे पिताजी को अब मैं क्या मुँह दिखाऊँगा अपना !"

"ऐसी क्या बात है, चाचाजी ?"

"ऐसी ही बात है उपेन्द्र, ऐसी ही बात है। तुम नहीं समझ सकते। ऐसी ही बात है।"

"बता दीजिये मुझे। शायद मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ।"

"बैठो उपेन्द्र, बैठो।" उसे एक कुर्सी पर बैठाते हुए बोले—"तुम्हारे अतिरिक्त और कोई मेरी सहायता नहीं कर सकता, और कोई नहीं।" और वह स्वयं कमरे में इधर से उधर चक्कर काटने लगे।

एकाएक वह उसके सामने आ खड़े हुए, बोले—"और कोई है तुम्हारे साथियों में जो 'चित्रांगदा' की भूमिका कर सके ?"

"उसकी क्या आवश्यकता है, चाचाजी ?"

"आवश्यकता है उपेन्द्र, आवश्यकता है। रमेश की बिलकुल इच्छा नहीं कि ललिता नाटक में भाग ले, बिलकुल भी नहीं।"

"जिस दिन ललिता उनके घर जायेगी, उस दिन वे उसके सामने अपनी इच्छा-अनिच्छा प्रकट कर सकते हैं, अभी वह हमारी है। अभी आप उसके अभिभावक हैं, यदि आपको कुछ आपत्ति नहीं, तो उन्हें इतनी चिन्ता क्यों ?"

इस तर्क ने अमरनाथजी को प्रभावित न किया हो, सो बात नहीं। सारे कमरे में चक्कर खाते उनके कदम रुक गये। उपेन्द्र के सम्मुख खड़े हो, एकटक उसकी ओर ताकने लगे।

एक साँस भरकर बोले—"परन्तु मैं कर क्या सकता हूँ, उपेन्द्र, मैं कर ही क्या सकता हूँ! यह सच है कि ललिता पर अभी तक उनका अधिकार नहीं है, परन्तु चार दिन बाद तो उन्हीं के घर में जीवन बिताना होगा उसे। उनकी इच्छा का हमें पालन करना ही होगा। मैं कर ही क्या सकता हूँ ? मैं बेटी का बाप जो हूँ।"

"बेटी के पिता ही तो हैं आप, कसाई के हाथों सौंप दी गयी बकरी के स्वामी तो नहीं! उनका बेटा है तो क्या! आपकी एक बेटी उनके सौ बेटों के समान योग्य है।"

"ठीक कहते हो तुम उपेन्द्र, ठीक कहा तुमने। फिर भी बेटा, इस बात से अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मैं लड़की वाला हूँ, और वे लड़के वाले। उनकी इच्छा मुझे माननी ही होगी।"

"क्यों माननी होगी ?" उपेन्द्र ने तनकर कहा—"न मानें हम तो क्या करेंगे वे ? अधिक-से-अधिक यह रिश्ता ही तो तोड़ देंगे, सो तोड़ दें। अपनी बहन के लिए उससे लाख गुना अधिक योग्य पात्र खोज कर ला दूँगा मैं।"

"इसमें मुझे सन्देह नहीं, बेटा ! इसमें मुझे सन्देह नहीं। परन्तु केवल सम्बन्ध की ही तो बात नहीं है। यदि यह रिश्ता टूट गया, तो कितनी जग-हँसाई होगी हमारी !"

रोष में उपेन्द्र भूल गया कि वह किससे बातें कर रहा है। व्यंग्यपूर्वक बोला—"ओह ! तो अपनी बेटी के सुख-सौभाग्य से, आपको जग-हँसाई की चिन्ता अधिक है ?"

"छिः, छिः, उपेन्द्र ! यह क्या कह रहे हो, बेटा ! बेटी के सुख-सौभाग्य का ध्यान कर, उसकी सब प्रकार की सुख-सुविधाओं को ध्यान में रखकर ही तो मैंने यह सम्बन्ध किया था।"

"सुख-सुविधा आप किसे कहते हैं, चाचाजी ? दिन-भर आलस्यवश चारपाई पर पड़े रहने को ? और हाथ-पैर हिलाये बिना ही दो समय रोटी मिल जाने को ? क्योंकि मैं नहीं समझ सकता कि इतने संकीर्ण विचारों वाले घर में आपकी बेटी को इसके अतिरिक्त और क्या मिल सकेगा !"

"उपेन्द्र, तुम्हारा यह सोचना गलत है।"

"मैं ठीक ही तो कह रहा हूँ, चाचाजी। मेरी समझ में तो काम उल्टा ही हो रहा है। होना तो यह चाहिए था, कि उनकी यह असम्भव माँग सुन, हम उन्हें सम्बन्ध तोड़ देने की धमकी देते, उल्टा वे ही हमें धमका रहे हैं!"

"उपेन्द्र, अभी तुम बच्चे हो..."

"ठीक है चाचाजी, अभी मैं इस योग्य नहीं कि आपको सलाह दे सकूँ। पिताजी ही ठीक सलाह दे सकेंगे आपको। मैं उन्हीं को बुलाता हूँ।"

"नहीं, नहीं, उपेन्द्र! उन्हें न बुलाना बेटा, उन्हें न बुलाना। जब तक कुछ निश्चय न कर लूँ, तब तक उन्हें मुँह न दिखा सकूँगा मैं।" अमरनाथजी ने एकदम भयाकुल होकर कहा।

"वह आपके मित्र हैं। आज तक उनकी सलाह के बिना, आपने कभी कोई नया कदम नहीं उठाया। फिर यह तो ललिता के जीवन का प्रश्न है, जो उनको भी उतनी ही प्रिय है, जितनी आपको। फिर उनकी सलाह के बिना, आप उसके समस्त जीवन पर अन्तिम मोहर कैसे लगा सकते हैं!"

"तुम ठीक कहते हो उपेन्द्र, ठीक कहते हो तुम! उन्हें अभी बुला लो। अभी करता हूँ मैं फोन।"

"नहीं, आप रहने दीजिये चाचाजी,. मैं स्वयं ही सब कुछ कहे देता हूँ उनसे।" उपेन्द्र ने झपटकर बाहर जाते हुए कहा।

पिता को संवाद दे, उपेन्द्र ने ललिता के बन्द कमरे का द्वार खटखटाते हुए कहा—"ललिता! ललिता!! द्वार खोलो, ललिता!"

दूसरे ही पल द्वार खुल गया। सम्मुख खड़ी उस मूर्ति को देख उपेन्द्र सहम गया—सुर्ख गुलाब-सी लाल आँखें! सारे शरीर पर बिखरे हुए केश! म्लान मुख, शिथिल देह।

आँखों में आये अश्रुओं को आँखों में ही पी लिया उपेन्द्र ने। कम्पित स्वर को यथाशक्ति सँभालने का प्रयत्न करते हुए कहा—"नहा-धोकर दस मिनट में तैयार हो जाओ ललिता, अभी पिताजी आते होंगे। तुम्हें मेरे साथ ड्राइंग-रूम में चलना होगा।"

विद्रोह-भरी वाणी में ललिता ने पूछा—"क्यों?"

उसे कपड़ों की अलमारी की ओर धकेलते हुए उपेन्द्र ने कहा—"जो मैं कहता हूँ, वह करो ललिता। व्यर्थ में मुझे परेशान मत करो।"

ललिता ने वहाँ से हिलने की तनिक भी चेष्टा नहीं की। पूछा, "कौन-कौन होगा वहाँ?"

"सभी, जिन्हें-जिन्हें होना चाहिए।" उपेन्द्र ने कहा।

ललिता धप्प से खाट पर जा बैठी, बोली—"संसार इधर से उधर हो जाय, परन्तु मैं उसके सामने नहीं जा सकती।"

"परेशान न करो ललिता, ससुराल जाकर पति के सामने कितना ही पर्दा कर लेना। मेरे घर में यह सब नहीं चलेगा।"

ललिता के मलिन मुख पर हँसी की आभा छा गयी, बोली—"बड़े आये घर वाले ! क्यों आये तुम मेरे घर में ? किसने बुलाया था तुम्हें ?"

"इतनी जल्दी भूल गयी ? कल तुमने ही तो दिया था निमन्त्रण। मजाक में मेरे मना करते ही, तुमने घर के द्वार तक तोड़ डाले थे।"

ललिता अबकी सचमुच हँस पड़ी—"हाँ, तोड़ डाले। मेरा घर है। तुमसे मतलब ? तुम कौन हो बीच में बोलने वाले !"

"भगवान् ने ही मुझे यह अधिकार दे डाला है ललिता। अब तुम्हारे पछताने से कुछ न होगा। अच्छा, उठो अब। देर न करो।"

"परेशान न करो उपेन्द्र, जाओ तुम यहाँ से। अपनी उलझन मैं स्वयं ही सुलझा लूँगी। तुम्हें मध्यस्थ बनने की आवश्यकता नहीं।"

"जैसे तुम सुलझाओगी, वह मैं खूब जानता हूँ।" उपेन्द्र ने कुछ चिढ़कर कहा—"रो-धोकर, चार दिन भूखे रहकर, अन्त में चुपके से आत्म-समर्पण कर देने के अतिरिक्त, लड़कियों को और कुछ आता भी है ! मध्यस्थ बनने का यह कार्य कितना ही अरुचिकर क्यों न हो, परन्तु यह भार तो मुझे लेना ही पड़ेगा।"

ललिता ने चिढ़कर कहा—"क्यों उठाते हो इतना कष्ट ! किसने कहा तुमसे ?"

"कहेगा कौन ! इतना बड़ा होकर क्या अपना कर्तव्य भी नहीं समझ सकता मैं ?"

"क्या है तुम्हारा कर्तव्य, जरा मैं भी तो सुनूँ—दूसरों के झगड़े में पड़ना ?"

"तुम मुझे गैर समझना चाहती हो, तो समझ लो। क्या करोगी ? अधिक-से-अधिक रक्षा-बंधन पर राखी ही तो नहीं बाँधोगी !"

"हाँ, नहीं बाँधूँगी।"

"मत बाँधना। मैं इतना लोभी नहीं हूँ कि एक राखी के लोभ में, अनेक जीवन नष्ट हो जाने दूँ। अपनी बहन, बहनोई और भांजे को···"

उपेन्द्र की बात पूरी नहीं हो पायी कि ललिता ने दौड़कर उसके बाल पकड़ लिये। बोली—"क्या कहा तुमने, क्या कहा ?"

"देखो ललिता, अब तुम सचमुच झगड़ा आरंभ किये दे रही हो। अभी मैं तुम्हारे बाल खींचने लगूँगा, तो भागकर माँ की गोद में जा छिपोगी।"

ललिता खिलखिला उठी। बाथ-रूम का द्वार खोल, उपेन्द्र ने उसे अन्दर धकेल दिया।

शीशे के सम्मुख खड़ी हो, वह बाल सँवार रही थी कि नाश्ते की प्लेट हाथ में लिये, उपेन्द्र ने वहाँ प्रवेश किया। उसके सामने ही ड्रेसिंग-टेबिल पर उसे रख, उसने खाना प्रारंभ कर दिया।

ललिता ने कहा—"असभ्य कहीं के ! किसी और से पूछे बिना, अकेले-अकेले

ही खाना आरंभ कर दिया।"

उपेन्द्र ने प्लेट पर हाथ रखकर कहा—"देखो ललिता, मैं अभी कहे देता हूँ। माँ से अपने लिए माँगकर लाया हूँ मैं। तुमने इसमें हाथ भी लगाया तो ठीक न होगा।"

ललिता ने एक पूरा लड्डू अपने मुँह में ठूँसते हुए कहा—"तुमसे छीनकर अकेली ही खा जाऊँगी मैं सब, तब क्या करोगे तुम ?"

"खाकर तो देखो, मार पड़ेगी मार !" उपेन्द्र ने कहा।

"बड़े आये मारने वाले !" ललिता बोली और उसके हाथ से प्लेट छीन खाट पर जा बैठी।

"अभी करता हूँ माँ से शिकायत।" उपेन्द्र ने कहा और रोष का प्रदर्शन करते हुए वह बाहर निकल गया।

शैला के समीप न जा, वह बाहर बगिया में घूमने लगा। कुछ देर बाद, एक अति सुन्दर गुलाब का फूल चुन, वह कमरे में लौटा, तब ललिता कोई पुस्तक खोले बैठी थी।

चुपके से उसके जूड़े में फूल खोंसकर कहा उपेन्द्र ने—"पिताजी प्रतीक्षा कर रहे हैं तुम्हारी। चलो।"

ललिता तड़प उठी। बोली—"नहीं, मैं नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी, नहीं जाऊँगी।"

"आखिर क्यों ?" विस्मय से पूछा उपेन्द्र ने।

"उस व्यक्ति से मुझे घृणा हो गयी है। मैं उसका मुँह तक नहीं देखना चाहती।"

उपेन्द्र अवाक् रह गया। कहा—"कल जिस व्यक्ति से तुम्हारा विवाह होने जा रहा है, आज उससे घृणा करने से कैसे काम चलेगा ?"

"किसी को पसन्द करना या न करना अपने वश की बात तो नहीं, उपेन्द्र ! सीधी-सी बात यह है कि वह मुझे पसन्द नहीं, और यह आज नहीं, मुझे उसी दिन पता लग गया था, जिस दिन उसने पिताजी से मोटर की भीख माँगी थी। मैं चुप रही। मैंने कुछ नहीं कहा। मेरे पिता की मान-प्रतिष्ठा को आघात न लगे, इसलिए मुझे उससे विवाह करना ही होगा। परन्तु मुझे विश्वास है कि जीवन-भर संग रहकर भी मैं उसे पसन्द न कर सकूँगी, क्योंकि उसके और मेरे विचार, किसी बात में भी, नहीं मिलते।"

"बेवकूफ !" उपेन्द्र गरज उठा।

"बेवकूफ ही सही।" ललिता ने सिर झुकाकर कहा।

"अच्छा उठ, चल तो सही।" बाँह पकड़ उसे उठाने का प्रयत्न करते हुए उपेन्द्र ने कहा।

"क्यों तंग कर रहे हो, भैया ! कह तो दिया कि मैं उसके सामने बोल नहीं

सकूँगी।"

"मत बोलना। केवल बैठी रहना। मैं विश्वास दिलाता हूँ तुझे एक शब्द भी नहीं बोलना पड़ेगा।"

ललिता हँस दी। बोली—"तब जाकर ही क्या करूँगी?"

"केवल 'मौरल सपोर्ट' देना मुझे। चल, उठ।"

विवश हो ललिता को उठना ही पड़ा।

बिना किसी भूमिका के उपेन्द्र ने पूछा—"भाई साहब, आपको ललिता के अभिनय करने पर आपत्ति किसलिए है?"

रमेश ने तनकर कहा—"आपको पसन्द हो तो आप अपनी बहन को स्टेज पर नचा लीजिये। परन्तु मुझे यह पसन्द नहीं।"

उपेन्द्र ने उसे बीच में ही टोककर कहा—"देखिये, यहाँ मेरी बहन भी बैठी है और पिता-चाचा भी। बोलते समय किन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं आप, जरा इसका ध्यान रखकर बोलिये। हाँ तो कहिये, क्या कह रहे थे आप?"

रमेश सिटपिटा गया। कल रात इसी विषय पर अनर्गल-रूप से, धाराप्रवाह भाषण झाड़ दिया था उसने अमरनाथजी के सामने, परन्तु इस समय उसे कहने को कोई बात नहीं सूझी।

कहा—"मैं इस विषय पर आपसे विवाद नहीं करना चाहता। मुझे जो कुछ कहना था, और जिनसे कहना था, वह मैं कह चुका।"

"वह आपका भ्रम है, भाई साहब!" उपेन्द्र ने शान्त भाव से कहा—"अपनी आपत्ति का कारण आपको मुझे समझाना ही होगा।"

"क्यों?" उद्धत भाव से पूछा रमेश ने।

"यदि आपके पिता यहाँ होते, तो वह मेरे पिता-चाचा से विवाद कर सकते थे। परन्तु आप युवक हैं, बुजुर्गों से विवाद करने योग्य स्थिति आपकी नहीं। एक युग में, एक-सी शिक्षा का आधार पा, हम-आप संग-संग बड़े हुए हैं। पिता के और मेरे विचारों में अन्तर हो सकता है। हो सकता है कि हम दोनों को एक दूसरे की बात समझने के लिए खासा प्रयत्न करना पड़े, क्योंकि हमारी आयु के बीच तीस वर्ष का अन्तर है। क्योंकि हमारे बीच तीस वर्षों तक बदलते विचारों का संघर्ष है। परन्तु मैं आपका समवयस्क हूँ। जरा-सा प्रयत्न करने से ही, हम एक-दूसरे का दृष्टिकोण समझ सकते हैं। क्या आप मुझे बतायेंगे कि आपको आपत्ति क्यों है?"

"एक ही बात को मैं बार-बार नहीं दोहराना चाहता।"

"हठधर्मी करने से कैसे काम चलेगा! बताइये भला! अच्छा, न हो, पहले आप मेरा दृष्टिकोण समझ लीजिये। फिर मैं आपके विचार सुन लूँगा। बोलिए, आपको यह स्वीकार है?"

"कहिये," रमेश ने मन ही मन आत्म-गौरव का अनुभव करते हुए कहा।

उसके मुख पर अंकित आत्म-तुष्टि के भाव देख उपेन्द्र चिढ़ गया। परन्तु यह समय रोष प्रकट करने का नहीं, धैर्य से काम लेने का था। कहा—"ललिता के स्टेज पर जाने में हमें कोई आपत्ति क्यों नहीं हुई? केवल इसलिए कि यह नाटक, नगर के किसी खुले स्टेज पर, किसी अश्लील नाटक का अभिनय नहीं। बचपन से मेरी बहन जिनकी गोद में खेली है, जिनकी सन्तान उसकी सहेली हैं, जो उसे अपनी बेटी के समान ही मानते हैं, नगर के उन्हीं गण्यमान्य सज्जनों की उपस्थिति में, एक श्रेष्ठ नाठककार की यह अनुपम विभूति प्रस्तुत की जा रही है।

छः वर्ष संगीत की साधना कर, उसने जो कुशलता प्राप्त की है, उसी का छोटा-सा प्रदर्शन होगा यह—संगीत की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की अर्चना में, हमारे देश की अनूठी ऋतु वसन्त के शुभागमन के उपलक्ष्य में। मैं जानता हूँ कि आपको सब बातें ज्ञात नहीं थीं, इसी से आपने यह आपत्ति उठायी होगी और अब आप सहर्ष उसे वापस लौटा लेंगे।"

"जी नहीं!" रमेश ने तनकर कहा—"मेरी राय ऐसे सहज नहीं बदला करती।"

"परन्तु हम इतने दृढ़-चरित्र नहीं। हमारी राय सहज में ही बदल जाती है। घर लौटकर आप अपने पिताजी से कह सकते हैं कि वह आपके लिए कोई और लड़की खोज लें। मेरी बहन का विवाह आपके संग न हो सकेगा।"

"उपेन्द्र!" निकटवर्ती चार कंठ एक स्वर में चीख उठे।

उपेन्द्र उठ खड़ा हुआ। सिर झुकाकर उसने कहा—"आप हमारे पिता हैं, हमारे पूज्य हैं। सदा हमने सिर झुकाकर आपकी आज्ञा स्वीकार की है, आपके आदेशों का पालन किया है। आप हमें स्नेह करते हैं। आपका तन-मन सदा हमारी कुशल-कामना के लिए अधीर रहता है। आज हमारी बात मान, आपको यह सम्बन्ध तोड़ना ही पड़ेगा।"

"यह सम्बन्ध स्नेह का अमर नाता है, उपेन्द्र! बालू की भीत नहीं, कि ठोकर मार गिरा दें हम। सोच-समझकर ही हम अपनी सम्मति दे सकेंगे।" चन्द्रकान्तजी ने गम्भीर स्वर में कहा।

"मुझे आशा है कि आपका निर्णय हमारे ही पक्ष में होगा।" उपेन्द्र ने कहा और बहन का हाथ पकड़, कमरे के बाहर निकल गया।

चन्द्रकान्तजी ने रमेश के आरक्त हो उठे मुख की ओर देखा। कहा—"तुमने ललिता का मत सुन लिया। बोलो, क्या चाहते हो अब?"

रमेश ने चिढ़कर कहा—"ललिता का? कदापि नहीं, यह तो केवल आपके नादान पुत्र का ही मत था न?"

चन्द्रकान्तजी के अधरों पर हास उभरने लगा, बोले—"ललिता और उपेन्द्र मानो एक ही वृक्ष की दो डालियाँ हैं। वे छोटी-बड़ी हो सकती हैं। विपरीत दिशा में

ललिता के स्वर में तिरस्कार की छाया आ पड़ी। बोली—"यही उत्तर सुनने की आशा थी मुझे तुमसे। परन्तु मैं कहती हूँ कि यह नाटक तो क्या, तुम कोई भी नाटक या सिनेमा देखने के अधिकारी नहीं हो।"

विस्मय से रमेश को पाला मार गया, पूछा—"क्यों ?"

"यदि तुम अपनी पत्नी को रंगमंच पर देखना पसन्द नहीं करते, तो तुम्हें दूसरों की बहू-बेटियों को रंगमंच पर देखना भी पसन्द नहीं होना चाहिए। शुद्ध-निर्मल-सात्विक वृत्ति से अन्य ललनाओं की ओर देखना, यदि तुम सम्भव नहीं समझते, तब तुम इस योग्य नहीं कि दर्शकों में बैठ सको।"

रमेश निरुत्तर रह गया। उसे चुप देख ललिता ने कहा—"एक बात तुमने ठीक ही कही थी। यह बात इतनी छोटी-सी है, कि केवल इसी के आधार पर, विवाह का सम्बन्ध नहीं तोड़ा जा सकता। कृपा कर तुमने मुझे यह अवसर प्रदान किया, इसके लिए मैं हृदय से तुम्हारा आभार मानती हूँ; क्योंकि इधर आठ महीनों से तुम्हारी बातें सुन-सुनकर मैं भली-भाँति समझ चुकी थी, कि हमारा वैवाहिक जीवन सफल नहीं हो सकता।"

रमेश ने विस्मित हो उसकी ओर देखा।

ललिता कुछ हँसी। बोली—"नारी को पुरुष का सहारा चाहिए, और पुरुष को नारी का। इसीलिए न पुरुष और नारी को एक बन्धन में बाँध दिया जाता है—जिसका नाम विवाह है। परन्तु वह सहारा तो तभी मिल सकता है जब कि उनके आचार-विचार एक-से हों, रुचि में मेल हो। दिन-भर घर में क्लेश बना रहे, पति-पत्नी को गालियाँ देता रहे; पत्नी पति की परवाह न करे, बच्चे घर में भटकते रहें, उस घर को सराय भले ही कह लें, गृहस्थी कदापि नहीं। दिन-रात कुढ़-कुढ़कर, एक दूसरे से लड़-लड़कर जीवन बिताया जा सकता है, परन्तु वह जीवित मृत्यु है। उससे अच्छा है कि हम वास्तविकता का सामना करें। समय रहते ही उस भूल को सुधार लें।"

रमेश ने विस्मय-भरे स्वर में कहा—"मेरी ऐसी क्या भूल हुई ? किस बात के कारण तुमने मुझे इतना अयोग्य समझ लिया है, ललिता ?"

ललिता पर मानो बोलने का नशा सवार हो गया था। उसी तेजी से बोली—"आठ महीने हुए हैं केवल इस सम्बन्ध को जुड़े, परन्तु तब से अस्सी माँगें पेश हो चुकी हैं तुम्हारी ओर से। यदि तुम इतने अयोग्य हो, इतने असमर्थ हो कि स्वयं अपने आप इतना भी नहीं कमा सकते, कि अपनी गृहस्थी की साधारण-सी वस्तुएँ भी स्वयं खरीद सको, तो यह अधिक उचित होगा कि अन्तिम माँग यह कर लो कि मेरे पिता मुझे दान करते समय, तुम्हारे लिए तीन सौ रुपये महीने की पेंशन भी बाँध दें।"

इस तीखे व्यंग्य से रमेश तिलमिला उठा। एकदम फूटकर आक्रोश के स्वर में कहा—"ललिता !"

ललिता ने तनिक भी झुके बिना ही कहा—"क्या मैंने झूठ कहा, रमेश ? थाली-कटोरी से लेकर, रेडियो-मोटर तक कैसा होना चाहिए, यह सब तो मेरे पिता को बताया जा चुका है न ? उस पर से अपने समाज के विषय में तुम्हारे विचार इतने निम्नकोटि के हैं, कि तुम यह सोच भी नहीं सकते कि पुरुष वासना छोड़, नारी की ओर, किसी और दृष्टि से भी देख सकता है।

"स्पष्टतः जैसे तुम्हारे विचार हैं, वैसी ही तुम्हारी मित्र-मण्डली होगी, वैसा तुम्हारा समुदाय होगा। तुम यदि विवाहोपरान्त मुझे तलाक दो, तुम अन्य किसी लड़की से विवाह करने के इच्छुक हो उठो, तब मैं क्या करूँगी ? क्या इससे अच्छा यही नहीं होगा कि···"

रमेश और सहन नहीं कर सका। तड़पकर बीच में ही बोल उठा—"बस करो, ललिता। एक जरा-सी बात का इतना लम्बा-चौड़ा अर्थ लगाया जा सकता है, यह मैंने सपने में भी नहीं सोचा था।"

"जरा-सी बात ? देख रहे हो इस कंकड़ी को ? कितनी छोटी-सी है यह ! इसी को फेंक दो उस सामने वाले स्नान-ताल में। देखना, एक छोटे-से वृत्त के बाद, कितने बड़े-बड़े वृत्त बनते चले जायेंगे। ताल के समस्त जल में एक अनोखी व्याकुलता उत्पन्न हो उठेगी। मेरे मन में सोयी हलचल को भी तुमने ठेस लगा, जगा दिया है। लहरों का अस्तित्व मानना ही होगा। उनके विषय में सोचना ही होगा। लहर लहर से टकराकर, विप्लव मचा डाले, उसके निराकरण का केवल एक ही उपाय है।"

"हाँ, उसके निराकरण का केवल एक ही उपाय है, ललिता।" सहसा शान्त स्वर में कहा रमेश ने, "कि उस कंकड़ी को बाहर निकाल फेंकने का प्रयत्न न कर, एक अमूल्य रत्न समझ, ताल उसे अपने हृदय में छिपाकर रख ले।"

उसके इस भाव-परिवर्तन को ललिता सहसा समझ न सकी। विस्मित-सी बोल उठी—"इसका अर्थ ?"

"बहुत ही सरल और स्पष्ट है। कंकड़ी मार मैंने तुम्हारे सुप्त अभिमान को जगा डाला है। परन्तु उसकी अवज्ञा कर, तुमने भी मुझे कुछ कम ठेस नहीं पहुँचायी है। हम दोनों एक ही वृक्ष की दो टहनियाँ नहीं। पौधे को उसके जन्म-स्थान से उखाड़ जैसे माली क़लम लगा देता है, उसी तरह हम लोगों को एक सूत्र में बाँध दिया गया है। परन्तु यह गाँठ अधूरी ही है। जन्म से हमारे आचार-विचार एक नहीं। परन्तु अब हमें एक-दूसरे के अनुरूप बनना ही होगा।"

ललिता का मुख आरक्त हो उठा। सिर झुकाकर बोली—"आँधी आती है, तो पेड़ का पत्ता-पत्ता डोल उठता है। सदा एक ही टहनी के झुकने से काम नहीं चलता।"

"जो टहनी झुकना नहीं चाहती, उसे पेड़ से टूटकर अलग हो जाना पड़ता है; और मैं अपनी प्रिय हरियाली को छोड़ सूखी धरती पर सिर नहीं पटकना चाहता।" रमेश ने कहा, "मुझे गिरने से बचाने के लिए, माली द्वारा बाँधी गयी उस स्नेह-रज्जु

को, तुम्हें दृढ़ करना होगा। पहले ही झटके में टूटकर विलग होना तुम्हें शोभा नहीं देता।"

लाज-भरे मधुर हास से ललिता का मुखड़ा दमक उठा, बोली—"हारकर भी पुरुष अपनी हार नहीं मानना चाहता, अपने ही द्वारा किये गये झटके का दोष मुझ पर लादकर, क्या निर्दोष बन रहे हो तुम! यही सही, पुरुष की जीत में ही नारी का सम्मान है।"

उसके दोनों हाथ, रमेश ने अपने हाथों में थाम लिये। कहा—"नहीं, तुम जीतीं, मैं हारा। आज मैं हारकर ही सन्तुष्ट हो सकूँगा, सुख पा सकूँगा।"

७

भूख

रामेश्वर के आकुल-हृदय की मूक पुकार रह-रहकर, उसकी करवटों में बोल उठती है। राधा सुन रही है, समझ रही है और उसका हृदय काँप रहा है, रोम-रोम सिहर रहा है। कब तक वह इस पुकार की अवहेलना कर सकेगी ? कब तक !

कितने दिनों से उपेक्षित मौन द्वारा वह इस पुकार का विरोध करती आई है। परन्तु जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, दूसरे पक्ष का प्रबल आग्रह भी उसी वेग से बढ़ता जा रहा है।

ऐसे कब तक चलेगा ? कब तक !

उसके नयनों में अश्रु भर आये।

विवाह को कुल सात वर्ष हुए हैं। इस अल्प समय में ही वह चार जीवित और दो असमय काल-कवलित शिशुओं की माँ बन चुकी है।

कुल तेईस वर्ष की आयु है उसकी। इस वय में अन्य लड़कियों का विवाह भी नहीं होता। विद्याध्ययन में निमग्न वे बालिकाएँ सरल स्वच्छन्द जीवन में मुक्त हास्य बिखेरते जीवन को खेल की तरह बिता देती हैं।

और वह—उसके मुख की श्री और नयनों की ज्योति निस्तेज हो चली हैं। बालों में कहीं-कहीं सफेद बाल चमक उठे हैं। उसकी लतावल्लरी-सी वह सुकोमल देह-यष्टि, अपना समस्त व्यक्तित्व खो केवल एक निढाल अस्थि-पिंजर मात्र रह गई है। लेडी डॉक्टर की वह अन्तिम चेतावनी रह-रहकर उसके कानों में बज उठती है।

नहीं, वह मरना नहीं चाहती। धन नहीं, मान नहीं, पति से कुछ विशेष स्नेह नहीं; फिर भी उसे जीवन से मोह है। इन नन्हे-नन्हे चार बालकों से मोह है। अपने जीवन-काल में उन्हें फलता-फूलता देखने की चाह है। अपनी आँखों उनकी सुखी गृहस्थी देख मरने की आकांक्षा है।

जीवन के यौवन-काल में ही, बिना कुछ सुख भोगे, वह कैसे मृत्यु-आलिंगन को प्रस्तुत हो उठे ? कौन जाने, अभी भी उसके दिन फिर सकते हैं ? अभी भी शायद उसका भाग्य उसे हँसा सकता है। अरविन्द और मुकुल के बड़े होने पर···

और रामेश्वर···अपनी शैया पर पड़ा, वह अपनी ही चिन्ताओं में उलझ रहा है। क्या करे वह इस राधा का ?

क्या करे वह इस राधा का ? कैसे इसे समझाये, राह पर लाये ? लेडी डॉक्टर

का क्या है। ये विदेशी शिक्षा पाई हुई मेमें तो यूँ ही अनाप-शनाप बका करती हैं।

सन्तान-सृजन तो नारी का स्वाभाविक कार्य है। मातृत्व की कैसी भूख होती है, प्रत्येक नारी के मन में। देव के वरदानस्वरूप मिलता है उसे यह मधुर-पुनीत भार। सदा से वह यह भार सहर्ष ढोती चली आई है। अब ये नित नई आशंकाएँ क्यों? यही है इस विदेशी शिक्षा का परिणाम!

कोई पहले से ही कैसे बता सकता है कि अब की बार प्रसव में माँ की मृत्यु हो जायेगी? डॉक्टर ही सही, परन्तु वह लेडी डॉक्टर मानवी ही तो है, विधाता तो नहीं।

जीवन केवल एक ही बार जीने के लिए है। उसके अमूल्य क्षण बीते जा रहे हैं। रामेश्वर उन्हें गँवाना नहीं चाहता। परन्तु यह मूढ़ नारी...इसकी पत्थर-सी अकल भेदने का क्या कोई साधन नहीं?

वह कराह उठा। उधर से कुछ प्रत्युत्तर नहीं आया तो उसकी दूसरी कराह कुछ और जोर से उठी।

बीच में बच्चों के चार पलंगों का सेतु बना उस पार लेटी थी राधा। जिन्हें वह समझती थी सेतु, उन्हें रामेश्वर समझता था खाई। चार पलंग का वह व्यवधान मिटे तो कैसे!

उसकी कराह उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़ती गई।

राधा ने सुना और सोचा—पति कहाने वाला यह पुरुष, उसके प्रेम का दम भरने वाला उसका यह जीवन-साथी, क्या वास्तव में उसे स्नेह करता है?

नहीं, नहीं, कदापि नहीं! यदि स्नेह करता होता तो...

उधर जैसे-जैसे तन की भूख बढ़ती जाती थी, मन की हुंकारें भी तीव्र रूप से बढ़ती जा रही थीं।

नारी-हृदय आशंकित हो उठा तब—क्या सच ही तबीयत कुछ खराब है?

कोमल स्वर में पूछा राधा ने—"क्यों, तबीयत ठीक नहीं है क्या?"

रामेश्वर ने आहत स्वर में उत्तर दिया—"तुम्हें क्या मतलब?"

राधा क्षुब्ध हो उठी—प्रेम क्या है? प्रेम का अर्थ वह नहीं समझती—वह सोचती है कि इस पुरुष से वह तनिक भी प्रेम नहीं करती। फिर भी क्यों उसका हृदय जब-तब उसके लिए आकुल हो उठता है? उसकी पीड़ा की सम्भावना उठते ही, क्यों हृदय कसकने लगता है?

उधर अपने अव्यक्त प्रश्न का उत्तर न पा रामेश्वर पुनः कराह उठा था।

राधा और धीरज न रख सकी। चुपचाप उठ, धीरे से उसके सिरहाने आ खड़ी हुई। पूछा—"क्या बात है? कैसी तबीयत है?"

अभिमान-भरी वाणी में वह बोला—"घण्टे-भर से सिर-दर्द के मारे मरा जा रहा हूँ, पर तुम्हें क्या! तुम सोओ जाकर आराम से!"

"तुमने कहा कब कि सिर में दर्द है। मुझे यूँ ही क्या [illegible]

मैं अभी बाम मले देती हूँ।"

सिरहाने खड़ी हो वह बाम मलने लगी तो रामेश्वर ने हाथ पकड़ उसे बैठाना चाहा। राधा ने जोर लगा हाथ छुड़ा लिया।

रामेश्वर क्रुद्ध हो उठा। अपने माथे पर रखा उसका दूसरा हाथ झटकते हुए बोला—"ढंग से नहीं मलना है तो मत मलो। बेगार टालने की जरूरत नहीं।"

विवश हो राधा चुपके से पलंग की पाटी पर बैठ गई।

राधा का मौन विरोध सफल न हो सका। उसका मन हुआ चीख उठे, चिल्ला उठे। परन्तु यदि बच्चे जाग गये तो ? यदि पड़ोसियों के कानों तक आवाज पहुँच गई तो...

...मन मसोस, अधर दाँतों के बीच दबा, वह यातना सहने को प्रस्तुत हो चुप हो रही।

मन ही मन सोचा—यह उसके भोजन और वस्त्र का मूल्य है। यही उसकी जीविका है। पेट भरने के लिए, भूख मिटाने के लिए नौकरी करनी ही पड़ती है। नौकरी करते समय, स्वामी के उचित-अनुचित सभी आदेश, उसकी सभी ताड़ना, शीश झुका चुपके से स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं, हीन वेतन-भोगी के लिए।

रोटी-कपड़ा कमाने के लिए, उसके माता-पिता ने उसे जिस कसाई-से स्वामी के हाथों सौंप दिया है, उसका स्वामित्व उसे मानना ही होगा। भूख मिटाने के लिए जो भोजन वह इस घर में पाती है, तन ढाँकने के लिए जो वस्त्र उसे मिलते हैं, उनका मूल्य तो उसे चुकाना ही होगा।

हतभागिन...अभागिन...नारी...

लेडी डॉक्टर विधाता हो या न हो, परन्तु प्रकृति तो प्रकृति ही है। प्रकृति की उपेक्षा करेगा मानव तो उसे हाथ मल-मल पछताना ही पड़ेगा। फिर भी उस दिन प्रसव-पीर में छटपटाती पत्नी को मृत्यु-शैया पर तड़फड़ाते देख क्या मानव अपनी भूल समझ सका ?

सात महीने बाद राधा की निढाल, निर्जीव देह, उसी शैया पर पड़ी थी, जिस पर किसी दिन फूल सजाये गये थे। मानस में नूतन तरंगें भर, अभिमान-सहित जिस शैया को कभी निहारा था उसने तो मन ही मन सोचा था—घर की प्रत्येक वस्तु से विछोह हो जाये चाहे; दुर्दिन में यदि कभी अटक आ पड़े, तो घर के तिनके-तिनके को त्यागना पड़ जाये, परन्तु इस पलंग को कभी विदा न करूँगी।

आज उसी पलंग पर लेट, वह स्वयं ही उस घर से विदा ले गयी थी। और उसे चारों ओर से घेरकर खड़े थे वे नन्हे-नन्हे बालक, जो उसके कभी इस घर में होने के प्रतीक थे। उसके अस्तित्व के मूक परिचायक थे।

जीवन में मृत्यु से उनका यह प्रथम परिचय था। माँ के वियोग की अपरिमित, दारुण व्यथा से अनभिज्ञ वे बालक, अभी केवल मृत्यु की विभीषिका देख, अनिवर्चनीय

भय और विस्मयाकुल संशय से सिहर उठे थे। आतंकित हो, एक दूसरे से चिपटे, बड़ी-बड़ी आँखें फाड़े खड़े थे वहाँ।

महीना बीतते-न-बीतते विवाह-योग्य कुमारी कन्याओं के पिता रामेश्वर के द्वार के चक्कर काटने लगे।

भूल गया रामेश्वर कि वह दिवंगता राधा का पति है। भूल गया वह कि किसी दिन वह उसे स्नेह और आदर-सहित अपने घर में ले आया था। भूल गया कि वह उसकी सन्तान का, उन नन्हे-नन्हे अनाथ अभागों का पिता है।

उसे याद रहा केवल इतना कि उसके मन का आसन सूना हो गया है, तन-मन की उस भूख को मिटाने का अब कोई भी उपाय शेष नहीं रहा। घर का जो गृहिणी-पद रिक्त हो गया है, उसकी पूर्ति किये बिना काम नहीं चलेगा। परन्तु लोक-लाज का दिखावा करना भी तो आवश्यक है···

रामेश्वर ने दो-चार आतुर अभिभावकों को मना किया ही था कि उसके शुभचिन्तक, हितैषी मित्र उसे समझाने आ पहुँचे। अन्त में मानो उनसे हारकर, विवश हो, निरुपाय होकर उसने अपनी स्वीकृति दे दी।

और उसकी बहन रानी ने यह सुना तो उसका हृदय रो उठा।

अवसर, पा, उसने भाई के समीप आकर कहा—"इन चारों बालकों के मुख की ओर देखो भैया, और देखो अपने सफेद बालों को। यह विचार त्याग दो। इनका सुख और भविष्य तुम्हारे हाथ है; और तुम्हारे हाथ हैं किसी नव-कलिका के अनुराग-भरे अरमान। एक संग इतने जीवन विनष्ट करने से पहले···"

रामेश्वर ने तुरन्त उसे झिड़कते हुए कहा—"अरी, इन्हीं बालकों के सुख के लिए ही तो मैं दूसरा विवाह कर रहा हूँ; नहीं तो अब इस ढलती उमर में दूसरी शादी करने की मुझे क्या जरूरत पड़ी थी, बता?"

रानी संकुचित हो उठी। बोली—"यदि सच ही तुम्हें इन अभागों का ध्यान है तो यह विचार एकदम छोड़ दो। दूसरी माँ अपनी समान कैसे हो सकती है, भैया? और देख-भाल करने के लिए मैं हूँ ही। माँ के समान प्यार दे सकूँ या न दे सकूँ परन्तु विमाता से अधिक स्नेह मैं इन अनाथों को दे सकूँगी, इसका तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ।"

मन ही मन रामेश्वर क्रुद्ध हो उठा था; परन्तु ऊपर से शान्त भाव से बोला—"मैं कहना नहीं चाहता था रानी, परन्तु तू नहीं मानती तो सच बात कहनी ही पड़ेगी। सच तो यह है कि तेरे ही कारण, मुझे यह विवाह करना पड़ रहा है, नहीं तो दुनिया कहेगी कि जवान, विधवा बहन घर में बैठी थी इसीलिए तो रामेश्वर ने···"

रानी आगे न सुन सकी। दोनों हाथों में मुख छिपा गिरती-पड़ती वहाँ से भाग आई। अपने तकिये में मुख छिपा, वह फूट-फूटकर रो दी।

यह रामेश्वर बोल रहा था, उसका भाई?

इसके बाद भी क्या वह उसे मुख दिखा सकेगा अपना?

एक अभागिन के प्राण लेकर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। एक और निरीह बालिका को उसकी चिर अतृप्त लिप्सा की लपलपाती लपटों में जलना होगा? जल-जल कर मरना होगा?

रानी को लगा कि धरती फट जाती और वह उसमें समा जाती।

कितनी गहरी व्यथा पहुँचाई थी आज उसके सहोदर ने उसे। ससुराल में कोई नहीं। भाभी ने स्नेह से बुलाकर अपनेपन से उसे अपने घर में स्थान दिया था, सो इसी दिन के लिए? यही शब्द सुनने के लिए?

उसके मर्मभेदी करुण क्रन्दन से समीप खड़े बालकों के दिल डोल उठे। माँ के स्नेह के भूखे वे बालक, मातृ-समान बुआ का वह मर्मान्तक रुदन देख अतांकित हो उठे। उसी खाट के नीचे घुस वे भी रोने लगे।

बस, इतना ही तो। समाज का, समाज के पौरुष का, पुनीत भारत की पवित्र आत्मा का शेष भी तो न हिला।

सहसा आँसू पोंछ रानी उठ बैठी—नहीं! वह कायर नहीं बनेगी। भूख मिटाने के लिए, दो रोटी पाने के लिए ही तो वह इस घर में पड़ी है। वह आज ही, अभी, यह घर छोड़ देगी। मानव का शरीर मिला है उसे, तो इतनी योग्यता भी प्राप्त करनी होगी कि अपने शरीर का पालन करने के लिए दो पैसे जुटा सके।

और···और यदि किसी दिन इस योग्य बन सकी कि अतिरिक्त खर्चे भी सँभाल सके, तो भाई के इन चार बच्चों को अपने पास बुला, वह अपने मातृत्व की अपूर्ण कामना भी पूरी कर सकेगी।

दृढ़ निश्चय की अपूर्व दीप्ती से उसकी देह का रोम-रोम कँपकँपा उठा। आज ···हाँ, आज ही वह इस घर को सदा के लिए छोड़ देगी। कर्ज-स्वरूप संग ले जायेगी केवल तन पर पड़ी एक यही किनारी-विहीन धोती।

८ | अँगूठी

रूपला घर आई, तो उसकी उँगली में पड़ी अँगूठी दमदमा रही थी। बापू दालान में बैठे हुक्का पी रहे थे। माँ रसोई के आगे बैठीं दाल में से कंकर बीन रही थीं। माँ ने कहा—"बड़ी देर लगा दी, रुपिया। इतनी देर तक बाहर रहना ठीक नहीं।"

रूपला के नयनों में हास झूम रहा था। बालों में हाथ डाल उसने जूड़ा बिखेर दिया। लहराती हुई सघन केश-राशि सहसा बल खा, झुक-झूम, उसके घुटनों से जा लिपटी। माँ की बात का उत्तर न दे वह अन्दर कमरे में जा घुसी। पाँच मिनट बाद ही वस्त्र बदल वह बाहर आई और माँ के हाथ से थाली छीनने लगी।

चम्पा ने झिड़कर कहा—"हट परे, क्या करती है? आले में रोटी रखी है जा, पहले खाकर पानी पी ले।"

रूपला ने थाली छीन ली। कहा—"नहीं माँ, आज मुझे भूख नहीं। उठ तू शर्बत बना ले। भैया आता ही होगा। रसोई मैं चढ़ाये देती हूँ।"

विवश हो चम्पा उठ खड़ी हुई। सहसा उसकी दृष्टि अँगूठी पर पड़ी, तो वा चौंक उठी। पूछा—"यह अँगूठी कहाँ से आई, रुपिया?"

रूपला ने अँगूठी की ओर देखा, और मुसकरा दी। कहा—"एक सहेली क है, माँ। खेल-खेल में पहन ली थी। वापस करना भूल गई।"

माँ ने सन्दिग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखा। कहा—"कल याद करके वापस कर देना, भला।"

भली लड़की के समान सिर हिला रूपला ने कहा—"जरूर माँ, जरूर।" और जोर-जोर से दाल फटकने लगी। उसका यह अनावश्यक उत्साह देख माँ के अन्तर में कहीं कुछ खटका, पर मन को समझा वह वहाँ से चल दी। मन को समझाना सहज है, किन्तु आँखों को बहकाना सरल नहीं।

रतन घर लौटा, तो सर्वप्रथम उसकी दृष्टि पड़ी काली-काली दाल को बीनती उन गोरी-गोरी उँगलियों पर। देखते ही उसकी आँखों में खून उतर आया। उसने दृष्टि उठाकर देखा—बापू जी-जान से हुक्का पीने में जुटे थे। यदि उसने कुछ कहा, तो वह इसी दम उन दोनों की चमड़ी उधेड़कर रख देंगे। उसने उपले समेटती माँ की ओर देखा। यदि उसने कुछ कहा, तो माँ रो-रोकर और कोस-कोसकर बात-की-बात में सारा मोहल्ला इकट्ठा कर लेगी। नहीं...नहीं...नहीं! वह खून का घूँट पीकर

रह गया।

रूपला ने सिर उठाया—"अरे भैया, आ गया ?" वह चौंककर उठ खड़ी हुई। कहा, "बैठो भैया, मुँह-हाथ धोओ। मैं अभी शरबत लाई।"

परन्तु रतन वैसे-का-वैसे ही खड़ा रहा। स्थिर नयनों की उन गतिहीन पुतलियों को देख रूपला सहम-सी गई। समीप आ धीमे स्वर में बोली—"भैया !"

रतन की तन्द्रा टूटी। उसने बहन के चकित-भ्रमित स्वप्निल-से नयनों में झाँका। झाँककर पूछा—"तू होश में है कि नहीं, रूपा ?"

भय से रूपला दो पग पीछे हट गई और कम्पित स्वर में बोली—"क्या बात है, भैया ?"

रतन ने दृष्टि उठा बापू की ओर देखा और फिर माँ की ओर। किसी का भी ध्यान इधर न था। उसने बहन का हाथ पकड़ लिया और धीमे किन्तु दृढ़ स्वर में कहा—"सोच-समझकर जीवन-भँवर में पैर डालना चाहिए, रूपा। बिना सोचे-समझे कूद पड़ने वाला नादान सदा मँझधार में डुबकी खाता है।"

भोले-भाले नयन ऊपर उठा मीठे स्वर में रूपला बोली—"मैं समझी नहीं, भैया।"

रतन का धैर्य-रूपी बाँध जोर लगा-लगा उखड़ने का प्रयास कर रहा था। स्वर को यथाशक्ति संयत कर कहा—"पगली, जिन हाथों से तू यह अँगूठी पहन आई है, क्या वे हाथ हमारे द्वार पर बारात चढ़ा, तेरा हाथ पकड़ अपने घर ले जायेंगे ?"

रूपा चौंक उठी। झिझकते हुए कहा—"यह अँगूठी तो मेरी एक सहेली की है, भैया।"

"मुझे धोखा देने की कोशिश न कर, रूपला। मेरे प्रश्न का उत्तर दे, नहीं तो समझ ले कि मुझसे बुरा कोई न होगा।"

तभी चम्पा की दृष्टि उधर पड़ी। आश्चर्यान्वित हो बोल उठी—"तुम दोनों ऐसे तनकर क्यों खड़े हो—रतन, रुपिया ? आमना-सामना हुआ नहीं कि झगड़ा शुरू कर दिया, क्यों ?"

रतन ने तीखे स्वर में कहा—"रात तक मेरे प्रश्न का उत्तर मिल जाय, रूपा, नहीं तो···" और धमकी अधूरी ही छोड़ तेजी से पलटकर वह बाहर निकल गया।

पीछे से चम्पा पुकार उठी—"रतन ! अरे, कहाँ चल दिया रे ? रोटी खाकर पानी तो पीता जा। अरे, ओ रतन !"

किन्तु रतन ने पलटकर भी न देखा। चम्पा ने उपले की टोकरी वहीं पटक दी और रूपला के सामने आ खड़ी हुई। कहा—"क्यों री, यही हैं तेरे लच्छन ! दिन-भर का भूखा भाई घर आया था। यह तो नहीं कि उसे दो कौर कुछ खिला देती, उलटे लड़-झगड़कर उसे घर से भगा दिया। दूसरे के घर जायगी, तो···"

रूपला ने दृष्टि उठा माँ की ओर देखा और तेजी से अपनी कोठरी में जा भड़ाक से द्वार बन्द कर लिए।

नहीं चाहती, भैया। किन्तु अकस्मात् ऐसे अनोखे ढंग से तुम पूछ बैठे कि मैं बौखला उठी। तुम्हारा अनुमान ठीक था, भैया। यह···यह मेरी सगाई की अँगूठी है।"

आवेश में पुनः रतन के हृदय में तूफान उठने लगा था। उसने कहा—"पगली, तू एक धोबिन की लड़की, मजदूर की सन्तान और वह कुलीन ब्राह्मण का बेटा, लाखों का स्वामी! किसकी बात का विश्वास कर बैठी तू? ये धन-पिपासु प्रेम का अर्थ, प्रेम का मार्ग क्या जानें? इनके निकट प्रेम का अर्थ है केवल पैसा?"

आत्म-गौरव से रूपला का मुख दीप्त हो उठा। सिर ऊँचा कर बोली—"यह तुम्हारी भूल है, भैया। वह निरे शिशु नहीं हैं। वह भी जानते हैं कि हमारी स्थिति में कितना अन्तर है। एक दिन कहा था उन्होंने—'पगली, जिस कीच का तू यों निरादर कर रही है, उसी के बल पर तो कमल झूम-झूमकर लहराता है!"

रतन को हँसी आ गई। उसने कहा—"प्रेमीजनों की ये भावुकतापूर्ण बातें हृदयंगम करना मेरे वश की बात नहीं, बहन। मैं तो कठोर जगत् का प्राणी हूँ। कल तू उसे घर बुला ला। यदि हमारे माता-पिता के प्रति आदर-भाव रखते हुए वह सहर्ष हमारा आतिथ्य स्वीकार कर ले, तो मुझे तुम्हारे इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति न होगी।"

रूपला ने तनकर पूछा—"तो क्या तुम्हें विश्वास नहीं कि वह आयँगे?"

बहन के गाल पर धीरे से चपत जमाते हुए उसने कहा—"विश्वास न होता, तो बुलाने की बात ही क्यों कहता?"

बहन ने सशंक दृष्टि से भाई के नेत्रों में झाँका। वहाँ उपहास नहीं था, था केवल असीम स्नेह। कुछ लजाकर वह चट से भाग गई वहाँ से।

* * *

परितोष ने दूर से रूपला के घर को देखा। गोबर से लिपे-पुते उस घर की स्वच्छता का मूल्य वह आँक न सका। ठिठककर पूछा—"रूपला, यही है तुम्हारा घर?"

हँसती आँखें ऊपर उठा रूपला ने उसकी ओर देखा और कहा—"हाँ।"

परितोष को विश्वास न हुआ। पूछा—"यहीं रहती हो तुम?"

रूपला हँसी। कहा—"और कहाँ रहूँगी? यही तो है मेरे बापू की हवेली। वह देखो, सामने वह है हमारा घाट। जितने साफ कपड़े मेरे बापू धोते हैं, और कोई धो नहीं पाता। बड़ा मान है मेरे बापू का। अपने कार्य में इतना दक्ष चौधरी धोबियों की याद में दूसरा नहीं हुआ।"

"धोबी!" अवाक् हो परितोष ने पूछा—"तो तुम्हारे पिता धोबी का काम करते हैं? कपड़े धोते हैं?"

"अरे वाह! जैसे तुम्हें तो पता ही नहीं था!"

"अरे हाँ, रूपला।" एकाएक उसने व्यस्त भाव से कहा—"अभी याद आया। मुझे तो एक बड़े आवश्यक काम से जाना था। पहले ध्यान ही नहीं आया। फिर कभी मिलूँगा तुम्हारे बापू से।"

वह जाने लगा, तो उसका हाथ पकड़ते हुए रूपला ने कहा—"अरे वाह,

खूब हो तुम ! माँ तुम्हारी प्रतिक्षा में जलपान लिए बैठी होंगी और तुम यूँ द्वार से लौटे जा रहे हो ! भाड़ में जाय तुम्हारा काम ! मैं तुम्हें यूँ सूखे-सूखे न लौटने दूँगी।"

पर हाथ छुड़ा परितोष चला गया। आश्चर्य-विस्फारित नयनों से उसी ओर ताकती रूपला प्रस्तर-प्रतिमा-सी अचल हो रही।

* * *

परितोष ने बहुत छिपना चाहा, पर वह छिप न सका। रूपला ने उसे जा पकड़ा। कहा—"अरे वाह, कहाँ तो पीछे-पीछे घूमते थे और कहाँ अब दर्शन भी दुर्लभ हो गए तुम्हारे ! तुम्हारा काम का खुमार अभी तक खत्म नहीं हुआ ?"

परितोष ने हाथ छुड़ा लिया अपना। कहा—"जो समझना न चाहे, उसे समझाने का कोई उपाय नहीं। मैं नहीं चाहता था कि स्पष्ट कह तुम्हारे दिल को ठेस पहुँचाऊँ, किन्तु यदि···"

"ठेस !" रूपला समझ न सकी। पूछा—"कैसी ठेस ?"

"तुमने मुझे धोखे में रखा, रूपला। परन्तु मैं तुम्हें धोखे में नहीं रखना चाहता। हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध न हो सकेगा। इस खेल का बस यहीं अन्त हो जाना चाहिए, नहीं तो उँगलियाँ उठने लगेंगी चारों ओर से।"

रूपला अवाक् रह गई। कहा—"आज उँगलियाँ उठने का ध्यान आया है तुम्हें ! जब यह अँगूठी माँगकर लाये थे माँ से, तब यह बुद्धि कहाँ गई थी ?"

"अँगूठी ?" परितोष खिलखिला उठा—"पगली, माँ से माँगने की क्या आवश्यकता थी मुझे ? क्या मेरे पास अँगूठियाँ नहीं ?"

"ओह !" रूपला के मुख से निकल पड़ा। मूक-भाव से वह उसकी ओर ताकती ही रह गई। फिर कहा उसने धीरे से—"यह झूठ है, परितोष। मुझे विश्वास नहीं होता। सारा कालिज जानता था कि मैं धोबी की सन्तान हूँ, केवल तुम्हीं न जान सके ? मेरे घर का जलपान ग्रहण कर लेते, तो तुम्हारी जाति चली जाती ? पर मेरी देह का स्पर्श करने से तुम जाति-च्युत न हुए !"

परितोष चिढ़ गया। कहा—"बहुत बढ़-बढ़कर न बोलो, रूप। मैं जानता था कि तुम जात की धोबिन हो, पर मुझे यह ज्ञात न था कि तुम्हारे पिता हमारे टुकड़ों पर जीते हैं। मैं समझता था कि वह भी मेरे पिता की तरह कोई सफल व्यापारी होंगे अथवा···"

"तुम्हारे पिता सफल व्यापारी हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि तुम मेरे पिता का अपमान कर सको।" रूपला ने तीक्ष्ण स्वर में कहा—"कोई अधिकार नहीं तुम्हें कि तुम इस प्रकार हमारी मान-हानि करो।"

परितोष खिलखिला उठा—"इतनी भोली हो रुपिया तुम, यह मैं
था। अरे, पैसा ही तो सब-कुछ है इस युग में। पैसे से ही तो यह सृ
कायम है। तुम्हारा मान-भंग किया कहाँ मैंने ? माँग पूरी होने से पूर्व ही
चुका मैंने बड़ा धोखा खाया।"

आवेश से रूपला की मुट्ठियाँ भिंच गईं। घन में बिजली कौंध उठे, ऐसे ही वह कड़क उठी—"नीच, नराधम, पामर! प्रेम की महान् अनुभूति का, नारी की कोमलतम भावनाओं का यूँ मजाक उड़ाते लज्जा नहीं आती तुझे? इस अमूल्य निधि का मूल्य तू पैसे से आँकना चाहता है?"

"प्रत्येक वस्तु का मूल्य पैसे से ही आँका जाता है, रूप। खेद है केवल इतना कि तुम्हारा मूल्य आँकने में मैंने बड़ी गलती की। जितना मैंने समझा था, उसका शतांश भी तो तुम्हारा मूल्य नहीं। आओ, इस भूल का परिमार्जन आज ही क्यों न कर लें! फिर कभी के लिए उधार क्यों रहे?"

उसकी उन्मत्त दृष्टि से डरकर रूपला पीछे हट गई। कहा—"खबरदार, अपनी जगह से न हिलना।"

"आज तुम मुझे नहीं रोक सकोगी, रूपला। दस हजार रुपए की इस अँगूठी का मूल्य आज तुम्हें चुकाना ही होगा।"

"ओह, यह अँगूठी!" रूपला की चेतना लौटी। मूल्य-मूल्य रटकर यह पागल जो प्रलाप कर रहा था, उसका यह अर्थ है? उसकी उँगली मानो जलने लगी। तड़ित-वेग से अँगूठी निकाल उसने आगे बढ़ाते हुए कहा—"लो, यह रही तुम्हारी अँगूठी। यह उपहार स्वीकार करने से पहले ही मेरी उँगली कटकर गिर गई होती, तो कितना अच्छा होता!"

परितोष ने अँगूठी की ओर देखा तक नहीं। कहा—"दी हुई वस्तु को वापस लेना मेरी आदत नहीं। मेरा प्राप्य तुम्हें मुझे देना ही होगा।"

रूपला ने भयभीत हो चारों ओर देखा—निर्जन, सूना स्थान। कहीं कोई न था। हृदय में समाते भय को दबा उसने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा—"तुम कायर हो, परितोष। कायर में शक्ति नहीं होती। तुम्हारे समान युवकों ने ही तो सभ्यता को बदनाम कर डाला है। तुम मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकते।"

परितोष हँसा। पूछा—"कौन बचायेगा तुम्हें यहाँ?"

रूपला ने उसी गर्व से कहा—"मेरे भगवान्।"

"भगवान्? पुराण-पन्थियों की कपोल-गाथा! परीदेश के राजा-रानी का हीरो? हा-हा-हा!" और ठठाकर हँसते हुए उसने हाथ बढ़ा रूपला का हाथ पकड़ना चाहा।

रूपला ने तनिक पीछे हट उसी तेजी से कहा—"पामर, सती का श्राप सिर पर न ले। जानता नहीं, चौदह भाषाओं का ज्ञाता ऋषि-श्रेष्ठ पुलस्त्य का नाती, शिव का परम भक्त, अपरिमित शौर्य का स्वामी रावण सीता-हरण के कारण आज तक राक्षस कहकर पुकारा जाता है? आज के पतित भविष्य में क्या कहे जायँगे, यह तो मैं जानती नहीं, किन्तु तू भी उसी श्रेणी में अपना नाम न लिखा।"

परितोष ने आगे बढ़ते हुए कहा—"भविष्य की बात भविष्य जाने; मैंने तो केवल वर्तमान में जीना सीखा है। देखूँ, आज तुम्हारा अपरूप भगवान् अधिक

शक्तिशाली है या एक साधारण मानव।"

जाल में फँसी हिरणी व्याकुल हो उठी। और कुछ न सूझा रूपला को, तो उसने हाथ की अँगूठी उसके मुख पर दे मारी।

रक्त की धारा फूट पड़ी। परितोष के पैर लड़खड़ा गये। वह वहीं नंगी धरती पर धूल में लोटने लगा—असह्य पीड़ा से तड़पते हुए। रूपला आतंक से सिहर उठी। कब चाहा था उसने कि परितोष की आँख ही फूट जाय? उसके नयनों से झर-झर नीर बरसने लगा। परितोष के कन्धे पकड़ उसे बैठाने का प्रयत्न करते हुए वह सिसक उठी—"परितोष, परितोष, क्या हुआ यह? यह किस पाप का दण्ड मिला मुझे? मैं··मैंने··मैंने कब···"

असीम धैर्य से पारितोष ने कहा—"न रो रूपला; दोष तेरा नहीं, दोष है मेरा। यह अँगूठी की चोट नहीं; त्रस्त नारी का अभिशाप फला है। मेरा पाप फूला है। तुम जीती, मैं हारा। प्रायश्चित्त की केवल एक ही राह शेष है, रूपले। मैं तुमसे विवाह करूँगा।"

झाड़ी के पीछे छिपा रतन अब और अधिक देर तक छिपा न रह सका। बार-बार उसने निकल पड़ना चाहा था, किन्तु प्रत्येक बार बहन का दर्प देख पीछे हट गया था। तेजी से वह उन दोनों के सामने आ खड़ा हुआ।

परितोष के नयनों के आगे धरती डोल उठी। कोई कुछ कह सके, इससे पूर्व ही रतन ने बहन का हाथ पकड़कर खींचते हुए कहा—"नहीं लक्ष्मी-पुजारी, यह तुम्हारी भूल है। मेरी बहन झोंपड़ियों की शोभा है; वह किसी श्रमजीवी की कुटिया की शोभा ही बढ़ायेगी। तुम्हारे महल में दासी बनकर कदापि न रहेगी वह। आ बहन, चलें। राह में कोई टाँगा-मोटर मिल गया, तो भेज देंगे इस धनाधिपति के लिए।"

९

सलोनी

दिन-भर का थका-माँदा साँझ-ढले घर लौटा। देखा, घर के आँगन में कच्ची धरती पर बैठी सलोनी हथेलियों और कच्ची रूई के संयोग से नन्ही-नन्ही बत्तियाँ बना रही है। मैंने पूछा—"यह क्या कर रही है, सलोनी?"

उसके शिशु-मुख पर हर्ष झलमला उठा। काम की गति रोके बिना ही मेरी ओर दृष्टि उठाकर बोली—"बत्तियाँ बँट रही हूँ, भैया। कल दीवाली है न।"

कल दीवाली है! मैं चौंक पड़ा और देखता रहा उन सुकोमल पतली उँगलियों को। कितनी दक्षतापूर्वक रूई के गोले में से फाहा तोड़ती थीं वे। कितनी सावधानी से धीरे-धीरे उसे लम्बा करतीं और फिर हथेली पर रख दूसरी से उसे मसल डालतीं और तब तक मसलती रहतीं, जब तक कि उनका आकार पतली सुई-सा न हो उठता। कहाँ वह गहन निबिड़ अन्धकार और कहाँ ये नाजुक-सी बत्तियाँ और माटी के ये तुच्छ दीप! प्रकृति पर विजय पाने का यह कैसा दुस्साहस है! कैसा विलक्षण है मानव का यह दुर्दमनीय प्रयास! किन्तु शायद इस दुस्साहस, इस निर्भीकता पर ही तो जगत् स्थिर है!

सहसा भावों का ताँता टूट गया। पीछे खड़ी माँ पूछ रही थीं—"रुपए ले आया क्या?"

"नहीं मिले, माँ।"

"नहीं मिले?" अत्यन्त विस्मित हो वह बोल उठीं—"क्यों?"

"मालिक ने कहा कि आज त्योहार का दिन है, हमारे पास खुद ही खर्च करने को पैसा नहीं। फिर आज तो दीवाली है, आज पैसे हर्गिज नहीं मिलेंगे। परसों आना।"

सुनकर माँ चुप हो रहीं। कहतीं भी क्या? जहाँ अपना वश नहीं चलता, वहाँ मूक हो सब-कुछ सहने के अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं है।

बत्तियाँ उठा सलोनी ने आले में रख दीं और लपककर मेरा हाथ पकड़ पहले एक पैर पर और फिर दूसरे पर कूदते हुए बोली—"चलो भैया, बाजार चलो।"

मैंने उसे गोद में उठा लिया। पूछा—"क्या लायेगी बाजार से?"

"वाह! सवेरे तो बताया था। सब भूल गये?"

गर्दन हिला मैंने चुपके से अपनी गलती स्वीकार कर ली। वह कुछ रुष्ट होकर

बोली—"तुम्हें तो कभी कुछ याद नहीं रहता ! कितनी सारी चीजें तो लानी हैं। दिए, कन्दील, फुलझड़ी और···और लछमी मैया की एक नई मूरत।"

क्या कहूँ इस नादान बालिका से कि तेरे इस अक्षम भाई के पास इतने भी पैसे नहीं कि तेरी यह नन्ही-सी अभिलाषा भी पूरी कर सके। कहा—"अब तो रात हो गई, सलोनी। कल सवेरे चलेंगे।"

उसने सहज ही इस बात को स्वीकार कर लिया। भोजन कर वह आनन्द-पूर्वक सो गई। परन्तु मैं सारी रात सो न सका। क्या कहूँगा कल बहन से ? कैसे क्या कहकर उसे बहला सकूँगा ? किसी प्रकार भी यह बात समझ में नहीं आ रही थी। समीप ही पड़ी माँ की खाट भी रह-रहकर चरमरा उठती थी। अपनी विवशता पर मेरे नेत्रों में पानी भर आया था। एक बार फिर मालिक के शब्द कानों में गूँज उठे थे—"त्योहार का दिन है। हमारे पास खुद ही खर्च करने को पैसा नहीं।" तभी घर की महिलाएँ बाजार जाने को तैयार हो अन्दर से निकल आई थीं—लकदक करते रेशमी वस्त्र, सिर से पैर तक रत्नाभूषणों से जड़ी हुई देह। रसोई में उस समय भी हल-वाई जुटे हुए थे मानो घी कड़ाही में उलटा जा रहा था। मेरे मानस में फिर मूर्त्त हो उठीं दो सुकोमल हथेलियाँ, हथेलियों के बीच पिसता रूई का नाजुक-सा फाहा और वे हथेलियाँ उस रूई को मसल रही थीं, मसल रही थीं।

दूसरे दिन मैं सवेरे-ही-सवेरे सलोनी के उठने से पूर्व ही घर छोड़कर चल दिया। परन्तु दोपहर को भोजन के समय तो लौटना ही पड़ा और आते ही देखा कि वह माँ का आँचल पकड़े मचल रही है। मचल-मचलकर कह रही है—"मैं भी दीप जलाऊँगी, माँ !"

कितनी करुण, कितनी आकुल, कितनी हृदय-विदारक याचना थी यह—"मैं भी दीप जलाऊँगी, माँ !" मैं स्तब्ध हो उठा। नयनों के आगे झूलती रही बहन की दयनीय छवि और कानों में गूँजते रहे वे बोल—"मैं भी दीप जलाऊँगी, माँ !" सहसा मानो होश आया। लपककर आगे बढ़ा। माँ के आँचल से उसकी नन्हीं उँगलियाँ छुड़ा, उसे अपनी गोद में उठा लिया। कहा—"रानी बेटी कहीं यूँ जिद करती होंगी ? दिए ही तो जलाने हैं न तुझे ?' मैं सन्ध्या को मालिक के घर ले चलूँगा। चाहे जितने दिए जला लेना वहाँ।"

पल-भर को उसके नयनों में आशा की ज्योति जल उठी। परन्तु दूसरे ही क्षण वह बुझ गई। उसके स्थान पर झलक आये दो जलबिन्दु। होंठ दबाकर रुलाई रोकने का प्रयास करती बोली वह—"किसी के घर जाकर दिए क्यों जलायेंगे हम ? हम तो अपने ही घर में उजाला करेंगे।"

"अपने ही घर में उजाला करेगी ? पगली ! उजाला तो वहाँ होता है, जहाँ ज्ञान हो, धर्म हो, सहिष्णुता हो। जहाँ दमन और अत्याचार नृत्य करता हो, लोभ-लालसा कुलाँचे भरते हों, अशिक्षा-अज्ञान ताण्डव-नृत्य में रत हों, वहाँ ऐसे लाख तो क्या करोड़ों दिए भी उजाला नहीं कर सकते। और जब सब घरों में अँधेरा छाया हो,

तो एक तेरे ही घर में कैसे उजाला फूट सकेगा, बावरी ?"

वह शायद मेरी बात समझी नहीं। माँ ने उसे फुसलाते हुए कहा—"अच्छा, तू हठ न कर। आ, खाना खा ले। फिर हम दोनों बाजार चलेंगे। भैया नहीं ले जाता, तो न सही; मैं ले चलूँगी तुझे।"

बालक को मनाना जहाँ कठिन है, वहाँ सहज भी है। उसकी कोमल भावनाओं के तार छू जायँ, तो उन्हें झनझनाने में देर नहीं लगती। सलोनी आँसू पोंछकर माँ की गोद में चली गई।

जब मैं भोजन करने बैठा, तो माँ ने कहा—"बेटा, कहीं से दो रुपयों का इन्तजाम तो करना ही होगा। सगुन के लिए दो-चार दिए तो जलाने ही होंगे। कहीं से भी दो..."

मुझे कुछ हँसी-सी आ गई। कहा—"तुम भी कितनी भोली हो, माँ! नहीं जानतीं कि आज दीवाली है। लक्ष्मी को पाने को सब आतुर हो हाथ पसारे बैठे हैं, किन्तु देने को कोई तैयार नहीं! सब्जी लेकर मालकिन ने सब्जी वाली को पैसे तक नहीं दिये आज। बोलीं—'कल लेना।' वह बेचारी क्या कहती? मन मारकर चली गई।"

माँ ने कहा—"सब जानती हूँ बेटा, परन्तु लछमी की एक नई मूरत के बिना काम न चलेगा। कोई दोस्त हो तेरा, तो..."

आगे की बात उन्होंने अधूरी ही छोड़ दी। दृष्टि उठा मैंने एक बार उनकी ओर देखा और फिर आँखें नीची करते हुए कहा—"फिर कोशिश करूँगा, माँ।"

और मैं फिर एक बार चला मालिक की हवेली की ओर। देखते ही उनके बच्चों ने घेर लिया मुझे। कहा—"चन्दन, चल, दिए सजाना प्रारम्भ कर दे, नहीं तो बड़ी देर हो जायेगी।"

किसी तरह हाथ छुड़ा आगे बढ़ा ही था कि दृष्टि पड़ते ही मालिक दूर से ही ज उठे—"काम के दिन भी घर जाकर क्यों बैठ जाता है, अभागे? जानता नहीं त्योहार का दिन है? कितना काम पड़ा है? चल, यह दिए की टोकरी छत पर चल। जल्दी कर।"

मन में रोष घना हो उठा। क्या कहना था, क्या कहना है, सब-कुछ भूल गया। मन हुआ—अभी अक्ल ठीक कर दूँ इस अभिमानी की कि तभी कोई मेरी टाँगों से लिपट गया। झुककर देखा—सलोनी चिपटी खड़ी थी! और खड़ी-खड़ी कह रही थी—"चलो भैया, माँ बुलाती हैं।"

मेरा झुका हुआ सिर ऊपर न उठ सका। कण्ठ तक आये शब्द पुनः वापस लौट आये। उसे गोद में उठा ही रहा था कि सेठ फिर गरज उठे—"माँ बुलाती है! जब देखो तब माँ बुलाती रहती है! ऐसा ही प्यार उफना पड़ता है अपने लाल पर, तो आँचल में छिपाकर क्यों नहीं रख लेती? क्यों नौकरी करने भेजती है उसे?"

मैंने सोचा वह और भी न जाने क्या-क्या कहे, क्यों इस बालिका के कान

यह चोरी नहीं है। हमारा श्रम चुरा-चुराकर जो आज सारी सम्पदा के ठेकेदार बने बैठे हैं, यदि वे चोर नहीं कहलाते, तो उन लक्ष्मी-पुत्रों को ही हमें चोर कहने का क्या अधिकार है ?

पर आँगन के द्वार तक पहुँचते ही मेरे पैर ठिठक गये। तन-मन में एक अनोखी शिथिलता व्याप्त हो उठी। टूटते मन में धीरज भरने के लिए, डगमगाते विश्वास को स्थिर करने के लिए, एक बार मुड़ मैंने अपनी अँधेरी झोंपड़ी की ओर देखा। सहसा अपनी आँखों पर विश्वास न हुआ। जहाँ झोंपड़ी थी, उस स्थान पर धू-धू कर अग्नि की लपटें उठ रही थीं ! मेरी देह में से मानो प्राण निकल गये। क्या उस नादान ने माँ की बात का विश्वास कर सचमुच झोंपड़ी में आग लगा दी ? या निष्ठुर विधाता से हमारा उतना-सा ऐश्वर्य भी नहीं देखा गया ?

आग बढ़ती जा रही थी। मैं भागना चाहता था, परन्तु भाग नहीं पा रहा था। मैं चीख उठना चाहता था, परन्तु मेरे कण्ठ में न जाने क्या अटक गया था। और आग···भूखी आग, जिह्वा लपलपाती इधर ही बढ़ती चली आ रही थी।

जब मैं मालिक के घर पहुँचा, घर के अधिकांश सदस्य नगर की शोभा निरखने गए हुए थे। शेष सामने सड़क पर खड़े आनन्द मना रहे थे। कौन कहे उनसे कि तुम्हारे पिछवाड़े से लगी आग तुम्हारी विजय-वैजयन्ती को फूँककर ही रहेगी आज ! और देखते-ही-देखते उस अट्टालिका को भी आग की लपटों ने घेर लिया। अपनी अवशिष्ट शक्ति समेट किसी प्रकार मैं उसकी ओर भागा। सूचना मिलते ही सब हाहाकार कर उठे। पलक मारते नगर में बात फैल गई। फायर-ब्रिगेड आया। परन्तु तब तक बहुत देर हो चुकी थी। आग बुझाते-बुझाते वह विशाल अट्टालिका जलकर राख हो गई और राख हो गई वह अटूट धन-सम्पत्ति, जो उसमें बिछी पड़ी थी। रँगे हाथ मुख वाले जो हतभागे प्राणी उस भग्नावशेष के सम्मुख शोक की साकार मूर्त्ति बने बिलख रहे थे, उन्हें देख मेरे हृदय में करुणा उमड़ पड़ी। यह सच है कि मेरी झोंपड़ी भी जल गई थी, परन्तु मेरी उस तुच्छ-सी हानि की तुलना में उनका विनाश कितना लोमहर्षक था, कितना अपरिसीम ! मेरी उस झोंपड़ी के स्थान पर शीघ्र ही नई झोंपड़ी खड़ी हो सकेगी, परन्तु मृत्यु-पर्यन्त अथक साधना करने पर भी उनकी वह स्वर्ण अट्टालिका पुनः निर्मित न हो सकेगी।

रात बीत चली। पार्श्ववर्त्ती घरों के दिए बुझ चले। शोक का प्रथम आवेग कुछ धीमा पड़ा, तो मेरी माँ ने उस भग्नावशेष की स्वामिनी के समीप जाकर कहा—"जो हो गया, सो हो गया, मालकिन। अब दुःख मनाकर क्या होगा ? भगवान् चाहेगा, तो इससे दूना भण्डार भर उठेगा।"

छोटे-बड़े का भेद भुलाने के लिए, एकता के सूत्र में बाँधने के लिए, विपत्ति से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं। सहानुभूति के ये मधुर बोल सुन उनके धीमे पड़ते आँसू पुनः वेग से बह चले। माँ ने कुछ विकल होकर कहा—"न, न, मालकिन, रोओ मत। देखो न हमारा घर-बार भी तो फुँक गया। तुम्हारा बैंक में तब भी कुछ

पैसा होगा, पर हम गरीबों की तो यह झोंपड़ी ही सब-कुछ थी। अब हम शोक मनाकर बैठ जायँ, तो यह झोंपड़ी भी खड़ी न हो सकेगी, महल की तो कौन कहे ?"

मालकिन को यह बात कड़वी लगी या मीठी, इसका पता न चल सका। मैं माँ को वहाँ से बुला लाना चाहता था कि पुनः सुना—"उठो मालकिन, भगवान् जो करता है, भला ही करता है। त्योहार के दिन यूँ शोक नहीं मनाना चाहिए। लक्ष्मी मैया और भी रूठ जाएँगी। उठो, चलकर पूजा कर लो। प्रसाद ले लो। लछमी मैया प्रसन्न हो गई, तो फिर अटूट धन बरसा देंगी। उन्हीं की कृपा से तो मुझे ऐसी सुबुद्धि मिली कि आग लगते ही, खाने का कटोरदान उठाकर भाग खड़ी हुई।"

विस्मित हो मैंने देखा—महल सच ही ढह गया था। बच्चों को संग ले मालकिन मेरे राख छाये आँगन में लक्ष्मी की पूजा करने जा रही थीं—उस ओर, जहाँ तुलसी के बिरवे के नीचे धूप में जली और वर्षा में धुली माँ की पुरानी लक्ष्मी मैया विराज रही थीं!

१०

सीमा

शहर में सनसनी फैल गई—सेठ निरंजनलाल की हत्या कर डालने के प्रयास में उनका इकलौता बेटा गिरफ्तार कर लिया गया था।

सिपाहियों से घिरा, हथकड़ियों में जकड़ा, नंगे पैर, नगर की गलियों में चला जा रहा था अमर, किन्तु उसके शान्त मुख पर खेद, भय या पश्चात्ताप को कोई भी चिह्न न था।

सड़क के दोनों ओर, दूकानों में, छज्जों पर, जनता की भीड़ उमड़ पड़ी। उसकी सौम्य मुखाकृति और सहज निश्छल मुसकान देख न जाने कितने हृदय धड़क उठे। न जाने कितने पिताओं ने अपनी आँखों पर हाथ रख अपनी मर्म-वेदना छिपा ली। माताओं के आँचल आँसुओं से भीग गये—"हाय! ऐसे सुन्दर-सुशील बालक को फाँसी पर चढ़ा दिया जायेगा?"

रात बीती। भोर हुई। नगर में सर्वत्र यही चर्चा थी।

सेठ जिस समय अस्पताल में पड़े अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे, श्मशान में उनकी पत्नी की चिता धधक रही थी। उनका पुत्र जेल के सींकचों में बन्द, निश्चिन्त भाव से निद्रा में निमग्न था।

और दूर, दूसरे नगर में, अपने होस्टल के कक्ष में बैठी उनकी बेटी चाय पी रही थी, कि एकाएक उसकी सहेली ने भागते-भागते आकर उसके हाथों में ताजा अखबार थमा दिया।

प्रथम पंक्ति पर दृष्टि पड़ते ही उषा के हाथ से प्याला छूट पड़ा। उसकी दृष्टि उन काली-काली पंक्तियों पर तेजी से दौड़ने लगी।

संवाददाता ने लिखा था—"युगों पुराने संस्कारों को तोड़, आज हमें नया दृष्टिकोण अपनाना होगा। एक निर्दोष युवक को फाँसी पर चढ़ा देने से इस समस्या का निराकरण कदापि नहीं हो सकता। जो अन्धविश्वासी हैं, वे अवश्य कहेंगे—'अपराधी निरपराध छूट गया तो युवकों की उद्दण्डता बढ़ जायेगी। तब किसी भी पिता का सिर सुरक्षित न रह सकेगा।'

"किन्तु उन महानुभावों से हमारा केवल एक प्रश्न है—क्या उन्होंने इस पर भी विचार किया कि क्यों उस युवक का विद्रोह इस चरम सीमा तक पहुँच गया? क्या उन्होंने एक बार भी यह सोचा कि कोई भी युवक, वह कितना ही दुराग्रही या

खायें।"

क्या कहे सीमा ? उसे अस्वीकार कर देने का अधिकार भी है क्या ? यदि नहीं, तो स्वीकारोक्ति पाने का यह परिहास क्यों ?

सीमा ने कुछ खाया हो, या न खाया हो, किन्तु सेठजी को भोजन में बड़ा आनन्द आया। तृप्ति होते ही उन्होंने एक लम्बी-चौड़ी डकार ली। अपने विशाल उदर को एक हाथ से सहलाते-सहलाते दूसरे हाथ से नकली दाँत निकाल उन्होंने खट से थाल में डाल दिये। सीमा उस समय रोटी का कौर तोड़ रही थी, उसका जी मचल उठा।

वह उठकर भागी, बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार कमरे से बाहर निकल ही पाई थी कि उसे उलटी हो गई।

उसे कुल्ला करा, नौकर ने जूठी थाली ले जाकर बर्तनों में रख दी, और दाँत साफ कर मालिक के हाथों में थमा दिये। दाँत पुनः यथास्थान लगा, मुख में एक लौंग रख, वह मुसकराते हुए बोले—"क्या बात हुई, सीमा रानी ? उलटी कैसे हो गई ? तबीयत तो ठीक है न ?"

बिना उनकी ओर देखे, बिना कुछ उत्तर दिये, सीमा अपने कक्ष में भाग आई। द्वार की चटखनी चढ़ा हाँफती-काँपती वह शैया पर जा गिरी।

अकेली बैठती सीमा तो उषा की बातें स्मरण आने लगतीं उसे। एक दिन उसने बाल-सुलभ कौतूहल से पूछा था—"अपने चाचाजी से इस विवाह के लिए आपने मना क्यों नहीं कर दिया था, छोटी माँ ?"

यह सुन उस दिन प्रथम बार सीमा के अधरों पर हास झिलमिला उठा था, "कौन मना कर सकता है, उषा, हम अभागिन लड़कियों को इतनी स्वतंत्रता कहाँ ?"

"स्वतंत्रता ?" उषा खीझ उठी थी। चिढ़कर बोली थी—"अपनी पूरी जिन्दगी के प्रश्न पर, अपना मत देने का नाम स्वतंत्रता तो नहीं। गाय-बैल को भी खूँटे से बाँधते समय, उनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखा जाता है। हम तो फिर भी मानव हैं, माँ !"

"हम मानव हों या न हों, पर हमारे अभिभावकों का हमारे प्रति व्यवहार तो मानवोचित नहीं। उनकी मनोवृत्ति तो पशुओं से भी अधिक हीन है। अपने बछड़े को विदा करते समय, गाय की आँखों में भी आँसू भर आते हैं, पर हमें कसाई के हाथ में सौंपते समय हमारे स्वजनों का रोम तक नहीं दुखता।"

उषा ने तत्काल प्रतिवाद करते हुए कहा था—"शारीरिक शक्ति न सही हमारे अन्दर आत्मिक-बल तो यथेष्ट है, छोटी माँ। सदा से हमें शक्ति के अभाव में नहीं हमारी सहन-शक्ति के कारण ही ये अमानुषिक दण्ड मिलते रहे हैं। क्यों नहीं हम अत्याचार का प्रतिकार करते ? क्यों हम चुपचाप कसाई की छुरी के नीचे अपनी गर्दन रख देते हैं ?"

"अनर्थ का असल कारण तो यही है उषा ! हमारी क्षमा कर देने की शक्ति

ही हमारे लिये अभिशाप बन गई है, छुरी के नीचे स्वयं ही गरदन आ जाये तो कसाई का क्या दोष ? नारी का जितना दमन और शोषण नारी करती है, उतना कोई और नहीं ?"

"सब कुछ जानती हो, समझती हो छोटी माँ ! फिर भी तुमने यह अन्याय होने दिया ? क्यों नहीं प्रतिकार किया इसका ? क्यों नहीं समझाया अपनी ताईजी को ?"

"युग-युग से चलते चले आये संस्कारों ने मेरे मुख पर ताला डाल दिया था। जब तक हमारे घरेलू वातावरण में परिवर्तन नहीं होता..."

"घरेलू वातावरण का नाम न लो मेरे सामने।" अग्नि-शिखा-सी भभक उठी थी उषा, "वातावरण बनाने वाले भी तो हम ही हैं न ? यदि मैं होती तुम्हारे स्थान पर..."

बात अधूरी ही छोड़ उसे चुप रह जाते देख, सीमा ने कुछ मुसकराकर पूछा था, "तो क्या करतीं तुम ?"

शीश झुका कुछ सोचने लगी थी उषा। सहसा वह समझ न सकी थी कि क्या उत्तर दे। फिर कुछ सोचते-से स्वर में कहा था—"ऐसी स्थिति में मैं क्या करती, यह इस समय मैं कैसे कहूँ। किन्तु इतना मैं निश्चित रूप से जानती हूँ कि तुम्हारी तरह मैं चुपके से बलि का बकरा बनना स्वीकार न कर लेती। समय सब कुछ सुझा देता मुझे। मैं विद्रोह कर बैठती, किन्तु किसी वासना के भूखे की भूख बुझाने के लिए..."

"चुप रह, उषी, चुप ! छिः ! लड़कियों को ऐसी बातें नहीं सोचनी चाहिएँ।" झट से अपना हाथ उसके मुख पर रखते हुए सीमा बोल उठी थी।

उसका हाथ हटाते हुए उषा खिलखिला उठी, "बस, छोटी माँ, खुल गई तुम्हारी सारी पोल। बड़ी बढ़-चढ़कर बातें कर रही थीं अभी, पर मेरे कुछ बोलते ही तुम्हारा माथा ठनक गया। इन्हीं संस्कारों को तो हमें दूर करना है, छोटी माँ। क्या तुम समझती हो कि मुख से न बोलने से, ये विचार मेरे अन्तर में क्रान्ति मचाना भी बन्द कर देंगे ? कुछ तो समझ से काम लो। जरा सोचो, जल का निकास न हो यदि, तो क्या सरोवर विषाक्त न हो उठेगा ?"

स्तम्भित रह गई थी सीमा—यह नन्ही-सी उषा ! कितना अदम्य साहस, कैसा अविच्छिन्न वैचित्र्य भरा है, इसके नन्हे-से मन में !

और एक दिन आ पहुँचा अमर। पिता के विवाह में वह शामिल नहीं हुआ था, न तब से घर ही आया था। किन्तु, वह घर से पूर्ण सम्बन्ध कैसे तोड़ सकता था ? उसे अपने घर से ममता थी। वहाँ की प्रत्येक वस्तु से प्यार था। उस घर की रज-रज में, कण-कण में उसकी ममतामयी माँ की स्मृति जो निहित थी।

संकोचभरे नयनों से उसने एक बार नई माँ की ओर देखा, धीरे से हाथ जोड़े और झट से अपने कमरे में घुस गया।

उसकी उस दृष्टि से सीमा मानो धरती में गड़ गई—"हाय ! यदि अ...

इसे सरल पथ समझ, सहर्ष अपनाने को प्रस्तुत हो उठेंगी। बोलो माँ, बोलो, क्यों किया तुमने ऐसा ?

"क्यों तुम मृत्यु के उस पथ पर चल पड़ीं, जिस पर से कभी लौटा नहीं जा सकता ? बिना विचारे, बिना सोचे-समझे क्यों तुमने एक ऐसा कृत्य कर डाला जिसे मिटाया नहीं जा सकता ? उत्तेजना से अभिभूत हो, तुम क्यों ऐसा दुष्कर्म कर बैठीं, जिसके प्रतिकार का कोई उपाय नहीं ? अपनी आँखें तुम फोड़ डालतीं, तो दूसरे की आँखों के सहारे देख सकती थीं। अपने पैर काट डालतीं तो दूसरे पैर लगाये जा सकते थे, पर तुमने तो जिन्दगी के पैर ही काट डाले ? बोलो माँ, बोलो, क्यों किया तुमने ऐसा ? यदि तुम जीवित रहतीं तो···"

अन्तिम हिचकी ले अभागिन ने दम तोड़ दिया।

पिता ने हाथ पकड़ उसे उठाते हुए कहा—"उठो, बेटा। अब रोने से क्या लाभ है ? संसार में मरना-जीना तो लगा ही रहता है। आवागमन के बन्धन से किसी को भी मुक्ति नहीं मिलती। एक के मरते ही दूसरा उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।"

हठात् अमर मानो पागल हो उठा—उसके नयनों के समक्ष एक बारात झूम उठी। बारात···जिसमें उसका पिता दूल्हा बना बैठा था, पार्श्व में बैठी थी—घूँघट में लिपटी एक किशोरी···नहीं! नहीं! कदापि नहीं!···सहसा वह चीख उठा—"मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। कदापि नहीं होने दूँगा।"

समीप पड़ा पीतल का लोटा उठा उसने पिता के सिर पर दे मारा। मारता रहा···मारता रहा, जब तक कि कुछ हाथों ने पकड़, उसे पीछे नहीं खींच लिया।

* * *

उषा के हाथों से समाचार-पत्र छूट पड़ा—"तब क्या भैया को फाँसी हो जायेगी ?

नहीं···नहीं! कदापि नहीं! ऐसा नहीं हो सकता। वह ऐसा नहीं होने देगी···नहीं होने देगी···"

चटपट सन्दूक में अपना सामान ठूँसने लगी वह। उसकी सूखी जलती आँखें मानो विश्व को चुनौती दे रही थीं।

११

रेत के टीले

गहन, निविड़, निस्तब्ध रात्रि की एकान्त नीरवता को भंग करने के लिए भोर का प्रकाश खिलखिला उठता है। यही प्रकृति का चिर-पुरातन, चिरन्तन-सनातन नियम है। गौरी की जीवन-यात्रा में भी रात्रि प्रवेश कर चुकी है—घोर काली अमावस्या-सी दुर्दमनीय रात्रि। अन्तर केवल इतना ही है कि यह रात कभी न बीतेगी, कभी समाप्त न होगी। इसकी कालिमा में ही उसे हाथ पसारे भटकना होगा। आँखें फाड़-फाड़कर अपना शेष पथ खोजना होगा।

गौरी का मन हुआ कि रो दे। चीख-चीखकर रोये। कण्ठ फाड़-फाड़कर चीखे। किन्तु···कैसे? उसके नयनों का जल सूख चुका है। वाणी अवरुद्ध हो उठी है। अब तो निर्जीव मन में रोने तक का उत्साह नहीं है।

सहसा अपने झुके हुए सिर पर किसी का करस्पर्श अनुभव कर उसने दृष्टि ऊपर उठाई। सामने खड़ा था विनोद—उसके आशयहीन जीवन का एकमात्र सहारा विनोद। सहसा उसकी आँखें भर आईं। विनोद बोला—"दीदी, डाक्टर के यहाँ चलो न। कितनी देर हो गई आज।"

"नहीं विनु, अब डॉक्टर के पास जाने की कोई जरूरत नहीं।"

"क्यों, क्या भैया एकदम ठीक हो गये?"

"हाँ, एकदम! अब उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता!"

मुँहबोली बहन की मुख-मुद्रा देख नन्हा विनोद सहम गया। शैया पर पड़ी भैया की निर्जीव देह की ओर एक बार दृष्टिपात कर वह अपने घर भाग गया।

मिट्टी की काया मिट्टी में मिल गई थी। शेष रह गई थी केवल स्मृतियाँ। इन स्मृतियों को लेकर ही गौरी जीवन बिता देगी। परन्तु कोई बिताने दे, तब न। सास, ससुर, देवर जो थे, 'भिखारिन को ब्याह लाया!' कह नव-वधू का अपमान और तिरस्कार किया था जिन्होंने, अपने घर में पैर तक न रखने दिया था, मृत्यु-शैया पर पड़े पुत्र की सेवा-सुश्रूषा तो दूर रही, उसका मुख तक न देखना चाहा था जिन्होंने, वे ही आज उसके निकटतम सम्बन्धी बन उसे अपने घर ले जाने के लिए दृढ़तापूर्वक अड़े खड़े हैं! क्यों? गौरी सब समझती है। घर में चार-पाँच छोटे बच्चे हैं। कलहप्रिय आलसी सास-बहू हैं और है कंजूसी का साम्राज्य! ऐसे घर में एक स्वस्थ, सुशील, बिना वेतन की दासी कितनी आवश्यक है! सब समझती है गौरी, सब।

इसे सरल पथ समझ, सहर्ष अपनाने को प्रस्तुत हो उठेंगी। बोलो माँ, बोलो, क्यों किया तुमने ऐसा ?

"क्यों तुम मृत्यु के उस पथ पर चल पड़ीं, जिस पर से कभी लौटा नहीं जा सकता ? बिना विचारे, बिना सोचे-समझे क्यों तुमने एक ऐसा कृत्य कर डाला जिसे मिटाया नहीं जा सकता ? उत्तेजना से अभिभूत हो, तुम क्यों ऐसा दुष्कर्म कर बैठीं, जिसके प्रतिकार का कोई उपाय नहीं ? अपनी आँखें तुम फोड़ डालतीं, तो दूसरे की आँखों के सहारे देख सकती थीं। अपने पैर काट डालतीं तो दूसरे पैर लगाये जा सकते थे, पर तुमने तो जिन्दगी के पैर ही काट डाले ? बोलो माँ, बोलो, क्यों किया तुमने ऐसा ? यदि तुम जीवित रहतीं तो···"

अन्तिम हिचकी ले अभागिन ने दम तोड़ दिया।

पिता ने हाथ पकड़ उसे उठाते हुए कहा—"उठो, बेटा। अब रोने से क्या लाभ है ? संसार में मरना-जीना तो लगा ही रहता है। आवागमन के बन्धन से किसी को भी मुक्ति नहीं मिलती। एक के मरते ही दूसरा उसका स्थान ग्रहण कर लेता है।"

हठात् अमर मानो पागल हो उठा—उसके नयनों के समक्ष एक बारात झूम उठी। बारात···जिसमें उसका पिता दूल्हा बना बैठा था, पार्श्व में बैठी थी—घूँघट में लिपटी एक किशोरी···नहीं! नहीं! कदापि नहीं!···सहसा वह चीख उठा—"मैं ऐसा नहीं होने दूँगा। कदापि नहीं होने दूँगा।"

समीप पड़ा पीतल का लोटा उठा उसने पिता के सिर पर दे मारा। मारता रहा···मारता रहा, जब तक कि कुछ हाथों ने पकड़, उसे पीछे नहीं खींच लिया।

* * *

उषा के हाथों से समाचार-पत्र छूट पड़ा—"तब क्या भैया को फाँसी हो जायेगी ?

नहीं···नहीं! कदापि नहीं! ऐसा नहीं हो सकता। वह ऐसा नहीं होने देगी···नहीं होने देगी···"

चटपट सन्दूक में अपना सामान ठूँसने लगी वह। उसकी सूखी जलती आँखें मानो विश्व को चुनौती दे रही थीं।

रेत के टीले

गहन, निविड़, निस्तब्ध रात्रि की एकान्त नीरवता को भंग करने के लिए भोर का प्रकाश खिलखिला उठता है। यही प्रकृति का चिर-पुरातन, चिरन्तन-सनातन नियम है। गौरी की जीवन-यात्रा में भी रात्रि प्रवेश कर चुकी है—घोर काली अमावस्या-सी दुर्दमनीय रात्रि। अन्तर केवल इतना ही है कि यह रात कभी न बीतेगी, कभी समाप्त न होगी। इसकी कालिमा में ही उसे हाथ पसारे भटकना होगा। आँखें फाड़-फाड़कर अपना शेष पथ खोजना होगा।

गौरी का मन हुआ कि रो दे। चीख-चीखकर रोये। कण्ठ फाड़-फाड़कर चीखे। किन्तु···कैसे ? उसके नयनों का जल सूख चुका है। वाणी अवरुद्ध हो उठी है। अब तो निर्जीव मन में रोने तक का उत्साह नहीं है।

सहसा अपने झुके हुए सिर पर किसी का करस्पर्श अनुभव कर उसने दृष्टि ऊपर उठाई। सामने खड़ा था विनोद—उसके आशयहीन जीवन का एकमात्र सहारा विनोद। सहसा उसकी आँखें भर आईं। विनोद बोला—"दीदी, डाक्टर के यहाँ चलो न। कितनी देर हो गई आज।"

"नहीं विनु, अब डॉक्टर के पास जाने की कोई जरूरत नहीं।"

"क्यों, क्या भैया एकदम ठीक हो गये ?"

"हाँ, एकदम ! अब उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता !"

मुँहबोली बहन की मुख-मुद्रा देख नन्हा विनोद सहम गया। शैया पर पड़ी भैया की निर्जीव देह की ओर एक बार दृष्टिपात कर वह अपने घर भाग गया।

मिट्टी की काया मिट्टी में मिल गई थी। शेष रह गई थी केवल स्मृतियाँ। इन स्मृतियों को लेकर ही गौरी जीवन बिता देगी। परन्तु कोई बिताने दे, तब न। सास, ससुर, देवर जो थे, 'भिखारिन को ब्याह लाया !' कह नव-वधू का अपमान और तिरस्कार किया था जिन्होंने, अपने घर में पैर तक न रखने दिया था, मृत्यु-शैया पर पड़े पुत्र की सेवा-सुश्रूषा तो दूर रही, उसका मुख तक न देखना चाहा था जिन्होंने, वे ही आज उसके निकटतम सम्बन्धी बन उसे अपने घर ले जाने के लिए दृढ़तापूर्वक अड़े खड़े हैं ! क्यों ? गौरी सब समझती है। घर में चार-पाँच छोटे बच्चे हैं। कलह-प्रिय आलसी सास-बहू हैं और है कंजूसी का साम्राज्य ! ऐसे घर में एक स्वस्थ, सुशील, बिना वेतन की दासी कितनी आवश्यक है ! सब समझती है गौरी, सब।

विधवा से···

"एक बात कहूँ, मौसी ! मानोगी ?"

"कैसी बातें करती है, गौरी ?" उसके गाल पर सस्नेह एक चपत लगाते हुए उन्होंने कहा—"कब तेरी कौन-सी बात टाली है मैंने ?"

"जानती हूँ, मौसी। तभी तो यह कहने का साहस कर रही हूँ मैं। नर्सिंग सिखाने के लिए यहाँ जो ट्रेनिंग सैण्टर है न मौसी, मुझे उसी में भर्ती करा दो।"

"नर्स बनेगी ? नौकरी करेगी ? मेरे जीवित रहते ? नहीं बेटी, कदापि नहीं।" एकदम उत्तेजित हो वह बोल उठीं।

"तुम वचन दे चुकी हो, मौसी। मेरी बात तुम्हें माननी ही होगी। इसमें दोष ही क्या है ? फिर वहाँ लौट जाने से बचने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं है ?"

माँ की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। तो चली जायेगी गौरी ? नहीं, नहीं, रवीन्द्र यह कैसे सहेगा ? जीवन में पहली बार उसने किसी से स्नेह जोड़ा है, किसी को अपना बनाने की इच्छा की है, उसके अस्तित्व में घुल-मिलकर एक हो जाना चाहा है; उसी से विलग होकर उसका जीवन दूभर हो उठेगा क्या ?

* * *

आज गौरी के जाने का दिन था। कई दिन ठहरकर आज वह अवश्य चली जायेगी। रवीन्द्र की मूक वाणी अब मौन न रह सकी। गौरी सिर झुकाये सुनती रही, सुनती रही। सहसा अपनी सजल दृष्टि ऊपर उठाते हुए उसने रवीन्द्र के दोनों हाथ थाम लिए और मृदु वाणी में बोल उठी—"अपने छोटे-से जीवन में मैंने असीम-अनन्त स्नेह पाया है, रवि। उसी के भार से मैं दबी जा रही हूँ, झुकी जा रही हूँ। और अधिक सँभाल न सकूँगी। तुम मुझे भूल जाओ। भूल जाओ, रवि। मैं जानती हूँ, प्रयत्न करने पर तुम अवश्य सफल होगे।"

परन्तु रवीन्द्र प्रयत्न करना चाहे, तब न ? हठी बालक के समान मचलकर कहा—"और यदि न भूल सका, तो ?"

"भूलोगे कैसे नहीं ?" उसके नयनों में कौतुक-मिश्रित हास झलमला उठा—"बहू के आते ही···"

रवीन्द्र ने झट से अपना हाथ बढ़ा उसका मुँह बन्द कर दिया और कहा—"मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, गौरी। नहीं तो मैं यहीं सिर पटककर···"

अश्रुओं ने शब्दों का गला घोंट दिया। रवीन्द्र की बात पूरी न हो सकी। गौरी सहम उठी। उसका कोमल नारी-हृदय विचलित हो उठा। पुरुष का पौरुष आज रुदन बन जाना चाहता है क्या ?

"छिः ! इस भाँति अधीर होना तुम्हें शोभा नहीं देता।"

"टाल नहीं सकोगी, गौरी। मेरे प्रश्न का उत्तर तुम्हें देना ही होगा।" अधीर आग्रह से उसे अपनी ओर खींचकर वह बोल उठा।

अब क्या कहे गौरी ? कैसी उलझन में फँसा दिया, भगवान् ! एक ओर मीठा जहर, दर्द-भरा स्नेह है, तो दूसरी ओर तनहाई है, एकान्त में घुट-घुटकर रोने की सुविधा है। गौरी को लगा मानो वह गौरी नहीं, केवल एक नारी है; और सामने खड़ा युवक रवीन्द्र नहीं, किसी का भाई नहीं, किसी का पुत्र नहीं, केवल एक पुरुष है ! पुरुष की याचना की, मातृत्व की पुकार की वह अवहेलना कर सकेगी क्या ? उसने घबराकर अपने दोनों नयन मूँद लिए।

उफ़ ! बन्द पलकों पर यह मधुर स्नेह-स्पर्श ! उसे लगा जैसे उस पुरुष ने अपना समस्त संचित स्नेह इस एक स्पर्श में उँडेल दिया है ! वह काँप गई। उसके अन्तस्तल के नयनों के आगे एक और मधु-रजनी का चित्र सुस्पष्ट हो उठा—उस दिन भी किसी ने उसे अपने सबल भुज-पाश में बाँध लाज से ढँकी उन पलकों का अमृत समेट लेना चाहा था। कौन था वह ? उसका पति ? उसका पुरुष ? उसके आँसुओं का बाँध टूटकर बह चला।

"गौरा !" घबराकर, चिबुक पकड़ उसका मुख ऊपर उठाने का प्रयत्न करते हुए रवीन्द्र बोल उठा—"गौरा !"

"हाँ, रवि !" काँपते अधरों से वह बोली—"तुम्हारे प्रश्न का उत्तर समय ही देगा, रवि। मैं प्रयत्न करूँगी कि तुम मुझे भूल सको और···और यदि यह सम्भव न हो सका, तो···तो मैं इसी धरती पर हूँ, रवि ! मोह बिसार इस धरती को छोड़कर चले जाने वाले ही इस जन्म में फिर दुबारा नहीं मिलते।" कण्ठ में उमड़ती सिसकी को वह वहीं दबा अपने हाथ छुड़ाकर जाने लगी।

"ठहरो, गौरा। एक बात सुनती जाओ।"

गौरी ठिठककर खड़ी हो रही। रवीन्द्र ने कुछ कहना चाहा, किन्तु कह न सका। उसके अधर खुले, फड़के और पुनः बन्द हो गये। गौरी ने देखा और समझा। समझकर हृदय पर पत्थर रख धीरे से कहा—"अब जाती हूँ, रवि। फिर···फिर कभी···"

गौरी धीरे-धीरे बाहर चली गई। अपना क्षुब्ध और आहत अभिमान लिए रवि वहीं खड़ा-खड़ा उसका जाना देखता रहा। सहसा उसका हृदय उसे धिक्कार उठा—'छिः ! जब उसे तुम्हारी तनिक भी परवाह नहीं, तब तुम क्यों उसके दीवाने बने हो ? जाने दो न उसे।'

अपने मन के अनाड़ीपन पर रवीन्द्र स्वयं ही हँस पड़ा। सोचा—स्नेह शक्ति देता है, एक अपूर्व विलक्षण दृष्टि। वह जानता है कि गौरी कुछ भी कहे, कुछ भी करे, किन्तु वह मन ही मन उसे···मन ही मन केवल उसी को ही···गौरी को रोकना होगा। कैसे भी हो, किसी भी तरह हो, उसे अवश्य रोकना होगा। रोकना ही होगा। मन ने कहा—'तुम मूर्ख हो। पागल हो। वह घर से ही तो जा रही है। इस नगर से तो नहीं, फिर इस प्रकार अधीर होने से क्या लाभ ?'

और रवीन्द्र फिर हँसा—और तुम अनाड़ी हो अनाड़ी ! क्या इतना भी नहीं

समझ सकते तुम कि उसका शोकाकुल हृदय एक आधार चाहता है, एक स्तम्भ, जिसके सहारे वह खड़ी हो सके, जी सके, अपने हृदय के बिखरे तार-समेट सके। और तुम ? और तुम ? सच पूछो तो वह तुम्हारे ही कारण भाग रही है, रवि। वह तुमसे भागना चाहती है। उसका उद्भ्रान्त मस्तिष्क इस निदारुण व्यथा और इस प्रबल आकर्षण को भुलाने के लिए काम चाहता है। काम, ऐसा काम, जिसमें वह स्वयं को डुबा दे सके, विस्मृत कर दे सके। यह सब याद आना तो दूर, जिसमें लीन होकर उसे साँस लेने का भी अवकाश न मिल सके, हाँ। ऐसा ही कोई काम !

* * *

अपनी अन्तरपीड़ा को अन्तर में ही छिपा रवीन्द्र ने पिता के अध्ययन-कक्ष में प्रवेश किया और उनकी पीठ पीछे खड़े हो पुकारा—"पापा !"

चक्करदार कुर्सी घुमा उन्होंने उसकी ओर देखा। अपने अल्पभाषी पिता से बात करने के अवसर बहुत कम मिलते हैं, इसीलिए उनसे बात करने में कुछ संकोच-सा लगता है उसे। क्या यह बात ज्ञात है उसके पिता को ? उसने कहा—"पापा, आपने विनोद के लिए मास्टर रखने को कहा था न ?"

"हाँ, हाँ। मिला कोई मास्टर ?"

"मास्टर तो बहुत मिल जायेंगे, पापा, किन्तु आवश्यकता ही क्या है उनकी ? गौरी को तो अवकाश ही अवकाश है। वही न पढ़ा दिया करे।"

"गौरी ? पर वह तो आज जा रही है न ?"

"जी। परन्तु यदि घर में ही काम मिल जाय, तो बाहर नौकरी करने की···"

पुत्र के आरक्त हो उठे मुख पर पिता का ध्यान गया और उस अधूरे टूटे-फूटे वाक्य पर भी; किन्तु वह चिन्तनशील थे। केवल सन्देह पर ही किसी बात की जड़ खोद डालना उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं था। भगवान् जो करता है, वह अच्छा ही करता है, यह उनका अटूट विश्वास था। वह कभी-किसी बात में हस्तक्षेप करना पसन्द नहीं करते थे। मृदु मुसकान के साथ बोले—"हाँ-हाँ, ठीक तो है। अपनी माँ से कहो। जो वह ठीक समझें, करें।"

रवीन्द्र सिर झुका लौट आया। वह सदा से यही देखता आ रहा है। वही मानो पिता के सफल गृहस्थ-जीवन की कुंजी है। माँ जो चाहे, सो करें; वह कभी कुछ नहीं बोलेंगे। और जब बोलेंगे, तब ? इसीलिए तो आज रवीन्द्र याचक बन पिता के पास गया था। क्या पिता उसकी बात का मर्म नहीं समझ सके ? रवीन्द्र के लिए उसके पिता कितने आदर और श्रद्धा के पात्र हैं, यह शायद वह नहीं जानते। अपने अल्पभाषी पिता के समक्ष वह अपने अन्तरतम के गूढ़ रहस्य भी निःसंकोच भाव से प्रकट कर सकता है; किन्तु पल-पल पर स्नेह प्रदर्शित करने वाली माँ के सम्मुख अधखुले हृदय-कपाट पल में बन्द हो जाते हैं।

परन्तु पिता को यह क्या मालूम ? वह तो यही समझते होंगे कि रवीन्द्र अपनी माँ के सामने अधिक खुल सकता है। तभी तो आज उन्होंने इस प्रकार निःसंकोच

भाव से कह दिया—"हाँ, हाँ, अपनी माँ से कहो।" माता और पिता क्या एक ही धातु के बने हैं ? नहीं। रवीन्द्र का सिर कटकर गिर पड़े, तब भी वह माँ से कुछ कह न सकेगा, बोल न सकेगा।

गौरी के जाने का समय आ पहुँचा। शम्भू ताँगा ले आया। गौरी ने नीचे झुक माँ के पैरों की धूलि अपने शीश पर चढ़ा ली। आशीर्वाद दे माँ ने कहा—"जब मैं बुलाऊँ, तो अवश्य आना, बिटिया।"

किन्तु गौरी कुछ कह सके, इससे पूर्व ही धूलि-धूसरित विनोद न जाने कहाँ से भागते-भागते आ पहुँचा और उसके आँचल का छोर पकड़ते हुए कहा उसने—"कहाँ जा रही हो, दीदी ?"

गौरी ने झुककर स्नेह से उसका माथा चूम लिया। बोली—"कहीं नहीं रे। मैं शाम तक लौट आऊँगी।"

विनोद छोटा है, तो क्या, निर्बोध तो नहीं। बोला—"हूँ ! शाम तक लौट आओगी ! तब यह बक्स क्यों लिया है ? तुम्हारा बिस्तर शम्भू ताँगे में क्यों रख आया है ?"

"मौसी यदि आज रोक लें, तब क्या करूँगी ? तब तो कल ही आ सकूँगी न ?"

"तब मैं भी तुम्हारे संग चलूँगा ?"

गौरी मुश्किल में पड़ गई। कहा—"परन्तु वहाँ माँ नहीं मिलेंगी !"

"न मिलें। माँ मुझे प्यार ही कब करती हैं ? सदा डाँटती रहती हैं। जब देखो तभी कहती हैं—"तू बड़ा पाजी है। बड़ा शैतान है। यह बिगाड़ दिया। वह गिरा दिया।' अच्छा तो है, तब माँ का काम न बिगड़ेगा !"

गौरी को हँसी आने लगी। कहा—"छिश्त ! ऐसा नहीं कहते।"

"क्यों नहीं कहते ? पिताजी से मुझे डर लगता है। भैया मुझे अपने कमरे में आने नहीं देते। छगन रसोई में घुसने को मना करता रहता है। माली मुझे फूल नहीं छूने देता।"

शम्भू से लेकर माँजी तक सब हँसने लगे। नहीं हँसी तो गौरी। उधर ध्यान न दे वह कहता ही रहा—"तुम चली जाओगी, तो कौन मुझे प्यार करेगा ? कौन कहानी सुनायेगा ? कौन मेरे साथ खेलेगा ? नहीं दीदी, तुम मत जाओ।" गौरी ने उसे अपनी गोद में उठा लिया। उसकी अनुनय-भरी वाणी से गौरी की आँखों में आँसू आने लगे थे। फिर भी बोली—"नहीं रे विनु, अब सब तुझे प्यार करेंगे। मैं माली से कह जाऊँगी। वह तुझे ढेर-सारे फूल दिया करेगा। आज मुझे जाने दे। फिर मैं जल्दी ही आऊँगी। कैसा राजा भैया है मेरा !"

किन्तु इतनी भारी कीमत पर विनोद-जैसे राजा भैया बनने को तैयार नहीं। अपनी दीदी के गले में अपने दोनों छोटे-छोटे हाथ डाल वह फूट-फूटकर रो उठा।

समीप ही लाइब्रेरी में गृहस्वामी किसी पुस्तक में उलझे बैठे थे। पुत्र का यह मर्मान्तक क्रन्दन सुन वह एकदम चौंक उठे। इस रुदन में खीझ नहीं थी, हठ नहीं था,

चोट लग जाने की यंत्रणा भी नहीं थी। थी केवल असहनीय निदारुण व्यथा। उनके हाथ से पुस्तक छूट पड़ी। और वह लपककर उसी ओर चल दिये।

फाटक पर पहुँचते ही वहाँ के दृश्य को देख वह स्तम्भित रह गये। एक ओर हाथ में सूटकेस थामे शम्भू खड़ा था, उधर खीझ-भरी मुसकान लिए विनोद की माँ थीं। उनकी पीठ-पीछे निश्चल, अचेतन, जड़-सा रवीन्द्र और सामने ही गौरी की गोद में झूलता हुआ, रोता हुआ विनोद—उनके प्राणों की ज्योति, उनके नयनों का तारा।

उनके कुछ पूछने से पूर्व ही गृहिणी बोल उठीं—"देखो तो इस पाजी लड़के को! वह बेचारी जाने को खड़ी है और यह किसी तरह छोड़ता ही नहीं।"

उनकी दृष्टि उस 'बेचारी' की ओर घूम गई। उस नन्हे-से शिशु के नन्हे-से वक्ष में अपना मुख छिपाये खड़ी थी वह। आन्तरिक उच्छ्वास से उसकी देह काँप-काँप उठती थी, यह भी उनकी दृष्टि से छिपा न रहा। मन की करुणा कहीं प्रकट न हो जाये, इस डर से वह अनावश्यक रोष से गरज उठे—"तो उसे जाने की जरूरत ही क्या है? तुम्हारे घर में दस नौकर पल रहे हैं। एक कोने में एक अनाथ बालिका नहीं पड़ी रह सकती क्या?"

गृहिणी अत्यन्त विस्मित हो उठीं—"और सुनो! न जाने, न समझे, यूँ ही बिगड़ने लगे! मैंने क्या कहा था उसे जाने को? स्वयं ही तो हठ करके जा रही है।"

अब की उन्हें सचमुच ही क्रोध आ गया। कहा—"हठ! बालकों की भी कोई हठ होती है? आज रवीन्द्र मिलिट्री में जाने की हठ करने लगे, तो तुम भर्ती करा दोगी उसे?"

पीछे खड़े निष्प्राण रवीन्द्र के नयनों में चमक लौट आई। गौरी की देह का कम्पन सहसा स्थिर हो गया। क्या हुआ है, विनोद समझ न सका; किन्तु रोना भूल वह सहसा पिता का मुख ताकने लगा। उन्होंने आगे बढ़ स्नेहपूर्वक उसकी पीठ थपकते हुए कहा—"रो मत, विनोद। मेरे रहते तुझे रोने की क्या जरूरत है? अच्छे बच्चे रोते नहीं।"

विनोद की अश्रु-भरी अँखियों में हास झलमला उठा। रवीन्द्र वहाँ से चुपचाप खिसक गया। शम्भू की ओर उन्मुख हो गृहस्वामी ने आर्द्र कण्ठ से कहा—"बिस्तर उतार लाओ, शम्भू। मेरी आज्ञा बिना गौरी कहीं नहीं जा सकती। कितनी भी हठ क्यों न करे।"

गृहिणी ने मुसकराकर कुछ अभिमान-भरे स्वर में कहा—"यह आज्ञा चार दिन पहले ही दे देते, तो क्या बुराई थी?"

वह ठठाकर हँस पड़े। कहा—"तब गौरी को कैसे पता चलता कि हम-तुम भी कभी लड़ते हैं?"

गौरी लजाकर झट से अन्दर भाग गई।

उसी दिन सन्ध्या को फव्वारे वाले कुण्ड में नावें तैराते समय गौरी बोली—"हाँ रे विनु, मैंने तो तुझे कच्ची इमली बीनने भेजा था न? तुझे कैसे पता लग गया

कि मैं जा रही हूँ ?"

विनोद कुछ रुष्ट होकर बोला—"इमली खोजने भेज दिया ! आजकल कहीं इमली होती है ? तब भी खोज रहा था। इतने में भैया आये। कहने लगे—'विनोद, तू यहाँ घूम रहा है ? तेरी दीदी फिर उसी पुराने घर जा रही हैं आज।' मैंने कहा—'झूठ बात ! दीदी मेरे से कहे बिना नहीं जा सकतीं।' वह बोले—'मत मान। वह देख, ताँगा भी आ गया। बिस्तर भी लद गया।' मैंने कहा—'मैं अभी जाता हूँ उन्हें रोकने।' वह कहने लगे—'बेकार ! वह रुकेंगी नहीं।' मैंने कहा—'वाह ! मैं रोककर दिखा दूँगा।' अच्छा दीदी, तुम चोरी-चोरी क्यों जा रही थीं ? कहकर जातीं, तब तो मुझे इतना बुरा नहीं लगता। फिर कल खुद ही आकर मैं तुम्हें लिवा लाता।"

उसके प्रश्न का उत्तर न दे गौरी बोली—"अच्छा विनोद, तू मुझे इतना प्यार क्यों करता है ?"

इस प्रश्न का क्या उत्तर दिया जाय, विनोद समझ न सका—"क्योंकि··· क्योंकि···" पर वह हार मानना नहीं जानता। कहा—"क्योंकि तुम इतनी बढ़िया नावें बना लेती हो !" गौरी ने मुसकराकर उसके गाल खींच लिए।

* * *

जस्टिस राधाकान्त अपने घर में घूमने वाली इस लड़की से आज तक अनभिज्ञ-से ही थे। रात्रि-भोजन पर बैठे, तो उन्होंने अपने सामने बैठी अपने छोटे-से बेटे के अशेष स्नेह की पात्री इस सुभाषिणी को ध्यान से देखा। उसके कुछ झुके हुए मुख पर निदारुण शोक की स्पष्ट-सी छाया थी। फाइलों-मिसलों में उलझा रहने वाला उनका मन चौंककर जाग उठा। तभी उन्हें सवेरे की बात याद हो आई। उन्होंने दृष्टि उठा मेज के दूसरे कोने पर बैठे अपने बड़े बेटे का मुख देखा और अधरों पर खिलती मुसकान को अधरों में ही समेट बोल उठे—"गौरी !"

इस अनपेक्षित आवाहन को सुनकर वह एकदम चौंक उठी। उसने कभी सोचा ही न था कि वह उसे पुकारेंगे और उसे उनसे बोलना भी होगा। मन ही मन उसने उन्हें सैकड़ों बार पिता कहकर पुकारा था। आज विस्मय के प्रथम पल में अनजाने ही वे दो शब्द उसके अधरों से फूट पड़े—"जी, पिताजी !"

"बेटी !" मधुर-स्नेह से वंचित जस्टिस राधाकान्त यह मृदु सम्बोधन सुन विगलित हो एकदम उसे बेटी कह बोल उठे—"देखो बेटी, विनोद अब बड़ा हो गया है। मेरा विचार है कि उसकी शिक्षा प्रारम्भ कर देनी चाहिए। इतने छोटे बच्चे को मैं स्कूल भेजने के पक्ष में नहीं। यदि तुम्हें अवकाश मिले, तो···"

नन्हे विनोद को यह प्रस्ताव बहुत पसन्द आया। ताली बजा वह बीच में ही बोल उठा—"हाँ पापा, यह बात ठीक है। मैं दीदी से पढ़ा करूँगा। दीदी को और काम ही क्या है ? है न, दीदी ?"

गौरी ने मुसकराकर केवल सिर हिला दिया अपना। जिनके मुख से कभी

रवीन्द्र या विनोद के लिए भी रवि या विनु तक नहीं सुना था, उन्हीं को आज बेटी कहते देख गृहिणी ने विस्मित हास्य से कहा—"चलो, आज किसी को तुमने अपनी बेटी माना तो!"

"वाह! मैं क्या किसी को अपना बेटा नहीं मानता? क्यों रवीन्द्र? क्यों विनोद? किसके बेटे हो तुम, मम्मी के या पापा के?"

और इस मधुर हास-परिहास के बीच गौरी की लज्जा धीरे-धीरे घुलने लगी। दिन पंख लगाकर उड़ चले। गौरी ने एक बात लक्ष्य की। रवीन्द्र अब बिना मतलब उसके सामने नहीं जाता। संयोगवश कभी सामना हो भी जाता है, तो वह झट से अन्यत्र खिसक जाता है। और गौरी मन ही मन प्रसन्न है—चलो, रवीन्द्र को अक्ल तो आई!

परन्तु यह सोचने के साथ ही उसके मन में कसक क्यों उठती है? हाथ क्यों शिथिल पड़ जाते हैं? काम में मन क्यों नहीं लगना चाहता? गौरी सोचती है—विवाह से पहले भी वह अकेली थी और अब भी अकेली है। किन्तु उस एकाकीपन और इस शून्यता में कितना अन्तर है? उस सूनेपन में आकर्षण था, इसमें जैसे भय लगता है! पहले कुछ उत्कण्ठा थी, अब पीड़ा है। पहले मन रह-रहकर गुनगुनाने लगता था, अब मन रह-रहकर रो उठता है। क्यों है यह परिवर्तन? जीवन में अनेक व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं। वियोग की पहली घड़ी में रुदन-भरी व्यथा छाई रहती है, परन्तु धीरे-धीरे वह घाव भरने लगता है। व्यथा कम होती जाती है। केवल करुणा-सिक्त स्नेहिल स्मृति ही शेष रह जाती है। किन्तु इस व्यथा का भार दिन-दिन बढ़ता ही क्यों जाता है? नन्हे विनोद की सहचरी गौरी विनोद में ही खो जाना चाहती थी। किन्तु उसका हठीला मन जब-तब रोने को, भटकने को मचल उठता था।

उस दिन वे दोनों बैठे बालू के घर बना रहे थे कि रवीन्द्र भी वहीं आ पहुँचा और उनकी देखादेखी घर बनाने लगा। बड़े ध्यान से, बड़े यत्न से रवीन्द्र ने रेत का टीला बनाया। परन्तु जैसे ही उसने अपना पैर बाहर खींचा, वह टीला ढह गया। गौरी उधर ही देख रही थी। वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। आज पहली बार इस प्रकार खिलखिलाकर हँसी थी वह। वह हँसी सुनते ही समीप ही लता-कुंज की ओट में बैठे जस्टिस राधाकान्त का ध्यान भंग हो गया। उन्होंने पुस्तक पर से सिर उठाकर सुना, रवीन्द्र कुछ खीझ-भरे स्वर में कह रहा था—"हँसती क्यों हो?"

उत्तर में गौरी की हँसी और भी बढ़ गई। सहसा रवीन्द्र गम्भीर हो उठा। मृदु स्वर में बोला—"जिस ढहते टीले की तुम इतनी हँसी उड़ा रही हो, उसी टीले पर तो तुम बैठी हो, गौरा। रेत के टीले कब तक बनाओगी? कब तुम आँखें खोल वास्तविकता का सामना करना सीखोगी?"

गौरी की हँसी थम गई। विस्मय से दोनों बड़ी-बड़ी आँखें फैला वह बोल उठी—"क्या मतलब? मैं समझी नहीं।"

"कहो, समझना ही नहीं चाहतीं! कब से तो समझा रहा हूँ मैं। तुम्हारी

आत्म-वंचना, देह जलाने-तपाने का यह गौरव, ये अश्रुओं के बाँध, ये दुःख के मँडराते बादल, ये सब ही तो रेतीले टीले हैं। बार-बार बनाती हो, बार-बार बिगाड़ती हो और उन्हीं के साथ-साथ अपना जीवन भी नष्ट कर देना चाहती हो।"

"रवीन्द्र बाबू···"

"भूलती हो गौरा, मेरा नाम केवल रवीन्द्र है, बाबू नहीं। देखती हो यह गेंद? जितना ही इसे दबाते हो, उतना ही यह उछलती है। इसे दबाओगी नहीं, तो उछलेगी कैसे? ऐसा ही तुम्हारा यह दुःख है। इसे जितना दबाओगी, उतना ही यह और उभरेगा।"

"ठहरो रवि···"

"अधीर क्यों होती हो? कभी तो पूरी बात सुन लिया करो। अरे! हाँ विनोद, जरा मेरे लिए एक पान तो ले आना।" आश्चर्य-विस्फारित विनोद पर दृष्टि पड़ते ही वह बोल उठा।

"तू यहीं ठहर, विनोद। पान मैं लाती हूँ।" गौरी ने कहा और झटपट उठकर चल दी।

"दीदी, एक मेरे लिए भी लाना।" पीछे से विनोद ने चिल्लाकर कहा।

राधाकान्तजी के हाथ से कब पुस्तक छूट पड़ी थी, उन्हे पता भी नहीं लगा था। उसे उठा कुर्सी पर रखते हुए वह उठ खड़े हुए और टहलते हुए वहीं आ पहुँचे—अपनी समस्त तर्क-बुद्धि और विवेचना लिए। रवीन्द्र हतबुद्धि-सा खड़ा था। पिता को देखते ही वह सँभल गया। उधर से गौरी मन ही मन अनेक युक्ति-तर्कों की आवृत्ति करती चली आ रही थी। उन्हें देखते ही वह भी सकपका गई।

उसे अनदेखा कर वह बोले—"ओह, पान! एक हमें भी देना, बेटी।"

फिर वह पूर्ण मनोयोग से विनोद का किला देखने में जुट पड़े और बोले—"वाह, विनोद! तुमने अपने इस महल में गैराज तो बनाया ही नहीं। अपनी मोटर और घोड़ागाड़ी कहाँ रखोगे?"

"देखिये पापा, आप न बताते तो रह ही जाता। दीदी तो भूल ही गई थीं।"

"हूँ! दीदी को कुछ याद नहीं रहता। अच्छा विनोद, यदि तुम्हारी गाड़ी का एक पहिया टूट जाये, तो क्या करोगे? गाड़ी को बेकार समझ कूड़े पर डाल दोगे?"

"वाह! उसमें दूसरा पहिया नहीं लगा लेंगे?"

"शाबाश विनोद! ठीक कहते हो तुम। यही मैं भी कहता हूँ और मंगलमय भगवान् की भी यही मनोवृत्ति है। फूल झड़ जाता है, तो उसकी जगह नई कली खिला देते हैं वह। ममतापूर्वक बनाई गई अपनी जीवन-गाड़ी के पहिये के अकस्मात् टूट जाने पर दूसरे पहिये को निरुद्देश्य भाव से घसीटते देख उनकी आँखों में आँसू भर आते हैं।"

"इसका क्या मतलब है, पापा?"

"ओह ! समझे नहीं तुम ? अच्छा अपनी दीदी से समझो। मुझे जरा काम है।" और वह तत्क्षण मुड़कर चल दिये।

विनोद ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें गौरी की ओर घुमाते हुए कहा—"बताओ न, दीदी ?"

सहसा रवीन्द्र हँस पड़ा। कहा—"दीदी क्या बतायेंगी विनु, उनको स्वयं ही समझ में नहीं आता ! जब तक मार नहीं खाएँगी···"

गौरी चिढ़ गई। बोली—"मारेगा कौन ? तुम ?"

"क्यों ? क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं ?"

"इतना !" सहसा गौरी का समस्त विद्रोह गलकर बह गया। हँसी दबाते हुए वह बोली—"तुम्हें कुछ भी, तनिक भी अधिकार नहीं !"

"देखना, अभी चार दिन बाद।"

सहसा गौरी गम्भीर हो उठी—"तुम···तुम स्वयं रेत के टीले बना रहे हो, रवि ! माँ कभी राजी न होंगी।"

"माँ ?" रवि हँसा—"उनकी चिन्ता न करो तुम। अपने पुरातन अन्ध-विश्वासों का रोना वह रोयेंगी अवश्य, किन्तु पापा उन्हें पल-भर में हँसा सकते हैं !"

"जैसे तुम मुझे हँसा सकते हो, क्यों ?" परन्तु दूसरे ही क्षण लजाकर कहा उसने—"अच्छा, तुम भागो यहाँ से। हमें विनोद का गैराज बनाना है। है न विनु ?"

"हाँ दीदी, नहीं तो आँधी-पानी में गाड़ी के टूट जाने का डर है !" विनोद ने ताली बजाते हुए कहा।

१२

संध्या, लहरें और वे दोनों

छोटी-बड़ी लहरें पथरीले तट से टकरा रही थीं। लहर से लहर गले मिलती औ उपहार-स्वरूप फेनोज्ज्वल रजत-राशि एक दूसरे को भेंट कर जाती। यह अनवरत क्रम, यह शाश्वत गरिमा निरखते न जाने कितना समय बीत गया था। तन-मन का भान नहीं रहा था। सुध-बुध भूल गई थी, कि कानों में कुछ बोल पड़े—"नमस्ते, जी।"

घूमकर देखा।

दृष्टि पड़ी मेहरा पर।

मुझे अपनी ओर देखते पा, उसने मुसकराकर, पुनः हाथ जोड़े और कहा, "नमस्ते, जी।"

मैंने कहा, "नमस्ते। कहिये, घूमने जा रहे हैं?"

"मेरीन ड्राइव पर अकेले घूमने में कुछ मजा नहीं।"

"वाह! अकेले क्यों? कदम आगे बढ़ाइये। देखिये, कितने कदम आपके सँग-सँग चल पड़ेंगे।"

आगे बढ़ने के बजाय, वह निकट ही जमकर बैठ गया। बोला, "उसका क्या हुआ?"

समझकर भी, अनजान बनते हुए मैंने पूछा, "किसका?"

"वही। जो मैंने कहा था।"

"आप तो न जाने कितनी बातें कहते रहते हैं। अब मैं कैसे जानूँ कि आप किस बात के विषय में कह रहे हैं!"

लेकिन मेहरा यूँ आसानी से मानने वाला जीव नहीं। "अजी, वही, उस दिन जो मैंने आपसे एक छोटी-सी बात कही थी।"

"कौन-सी छोटी-सी बात?" मैंने फिर भी पूर्ण अनजान बनते हुए पूछा।

"यह लीजिये! एक जरा-सी बात तक तो आप याद नहीं रख सकतीं, इतनी कहानियाँ कैसे लिख लेती हैं!"

"लिखती नहीं हूँ। औरों की रचना चुराकर अपने नाम से प्रकाशित करा देती हूँ, यही कहना चाहते हैं न आप?" हँसी दबाते, मैंने पूर्ण गम्भीर बनने का प्रयत्न करते हुए कहा।

"हँसी की बात नहीं, सच कहता हूँ, सिस्टर। एक कहानी मेरे ऊपर लिख डालो, फिर देखना।"

पूछा, "क्या ?"

"अरे! और क्या ? सबको वह कहानी दिखाऊँगा। कहूँगा—लो, यार! अब तो हमारे ऊपर कहानियाँ लिखी जाने लगीं!"

अब की बार मैं सच ही हँसी न रोक सकी।

समीप बैठे भैया, अब तक गुप-चुप हम लोगों की गुफ्त-गू सुन रहे थे। वह भी हँस पड़े। बोले, "सच तो है, शान्ता! एक कहानी लिख दे न, बेचारे पर। कितनी हसरत है उसे कि उसका नाम भी काले अक्षरों में छप जाये।"

मेहरा ने भैया की पीठ पर एक घूँसा जमा दिया।

भैया मुसकराकर बोले, "नहीं, बन्धु। गलत न समझना। काले अक्षरों से मेरा आशय केवल 'प्रिण्ट' यानी छापे से था।"

मेहरा गम्भीर हो गया, "यह बात नहीं, दोस्त। छापे में नाम आने की ही बात हो तो चौपाटी पर खड़े हो, उलटा-सीधा कोई लैक्चर झाड़ देने से भी काम चल जायेगा। नहीं, यह बात नहीं।"

उसकी गम्भीरता देख, भैया हँस पड़े। बोले, "फिर क्या बात है ?"

"असल में बात यह है, कि···"

"हीरो कौन नहीं बनना चाहता।" मैंने चटपट उसकी बात पूरी करते हुए कहा, "फिल्म के हीरो न बन सके, किसी कहानी के हीरो ही सही।"

भैया हँस पड़े, लेकिन मेहरा एकदम गम्भीर हो गया, "फिल्मी हीरो ? छिः!"

"क्यों! क्या आपको 'फिल्मी हीरो' पसन्द नहीं ?"

"बिलकुल नहीं! सच कहता हूँ, सिस्टर, मुझे तो इन बेचारे किस्मत के मारों पर दया आती है।"

"क्यों ?"

"कमबख्तों को कोई अक्ल सिखाने वाला भी नहीं! नादान जान-बूझकर, अपनी नुमाइश कराते हैं।"

"कैसे ?"

"वह देखो न सामने। कोई लक्स साबुन हाथ में लिये खड़ा है, तो कोई खुशबूदार तेल की पैरवी कर रहा है। दूसरों की निगाह में चढ़ने का ऐसा भी क्या शौक! आदमी में कुछ तो 'डिगनिटी' होनी चाहिए।"

सामने से एक गरी-गोला बेचने वाला, सिर पर टोकरा रखे निकल गया। मेहरा ने कहा, "उनसे तो यह गरीब खोपरे वाला अच्छा है। जहाँ जी में आता है, वहाँ उठता है; जहाँ जी में आता है, वहाँ बैठता है। वे लोग जरा यहाँ मेरीन ड्राइव पर आकर तो देखें। लोग खड़ा होना मुश्किल कर देंगे।"

"सच तो है। बेचारे की जिन्दगी कुछ नहीं, अपना कहने को कोई वक्त नहीं। दिन में भी शूटिंग, रात में भी शूटिंग! चौबीस घण्टे आने वाले कल की चिन्ता! यह भी भला कोई जिन्दगी में जिन्दगी है!"

मैंने कहा, "आने वाले कल की चिन्ता किसे नहीं होती, भैया?"

"इतनी किसी को नहीं, जितनी इन लोगों को!" भैया बोले, "और लोग यदि एक बार काम से लग जायँ तो उन्हें कम-से-कम इतना विश्वास तो रहता है कि यदि उन्नति न भी होगी, तो भी कम-से-कम भूखों तो न मरना पड़ेगा। पर इन लोगों का क्या! न जाने किस दिन फिल्मों में काम मिलना बन्द हो जाये।"

विषय नीरस होता जा रहा था। हम चुप हो गये।

जबान बन्द हो गई तो नेत्र क्रियाशील हो उठे। दृष्टिपथ के आगे नयी-नयी वेशभूषा, नयी-नयी आकृतियाँ झूम उठीं।

उस समय मेरीन ड्राइव पर बड़ी चहल-पहल थी। कन्धे से कन्धा मिलाकर, जनस्रोत दोनों दिशाओं में, मानो लहर की गति से प्रवाहित हो रहा था। लहरें सब समान होती हैं, उन्हें अलग-अलग पहचाना नहीं जा सकता। परन्तु इस माननीय जन-समूह की प्रत्येक लहर का प्रत्येक कण मानो पहचाना जा सकता था। इसकी प्रत्येक लहर मानो एक नया रंग लेकर आती थी—जहाँ शैशव कलरव कर रहा था, वहाँ समीप ही तरुणाई अँगड़ाई ले रही थी। इठलाते यौवन के साथ बुढ़ापा लाठी टेक-टेक कर चल रहा था।

सभी के अधरों पर हँसी थी, आँखों में चमक थी, चाल में उमंग थी। सभी दुकेले थे। हरेक के साथ कोई-न-कोई चल रहा था—एक-दूसरे से छेड़खानी करते, शालीनतापूर्वक संग-संग चलते, या स्नेह से हाथ-में-हाथ बाँधे, वे सब न जाने कहाँ-कहाँ से आये थे, और न जाने कहाँ लौट जाने वाले थे।

उन्हीं के बीच वह बूढ़ा भी था—

निसंग! एकाकी! नीरव!

जिन्दगी के भार से मानो उसकी कमर भी झुकने लगी थी। छाती पर दोनों हाथ बाँधे, वह अकेला, चुपचाप, अपने विचारों में डूबा-सा, एक-एक कदम आगे सरक रहा था।

* * *

सहसा मेहरा बोल उठा, "बेचारा बूढ़ा! आधी रात बीतने से पहले, यह घर लौटने की हिम्मत नहीं कर सकता।"

मैं चौंक गई। पूछा, "क्यों?"

"और नहीं तो क्या! उसके घर में जवान बेटा है जिसकी अभी-अभी शादी हुई है। कोठरी एक है। खटिया दो हैं। बेटा-बहू जब तक सो न जायें, बेचारा घर कैसे लौट सकता है?"

मैंने दृष्टि उठा मेहरा की ओर देखा—निश्चय ही वह परिहास कर रहा था।

किन्तु क्या उसे मालूम था कि उसके इस चपल परिहास में जिन्दगी के प्रति कितना गूढ़ व्यंग्य निहित था ?

उसने कहा, "मेरा बस चले तो हिन्दुस्तान में जितने भी बूढ़े-बुढ़िया हैं, सबको लाकर बम्बई में बसा दूँ।"

चौंका देने वाली यह दूसरी बात थी। पूछा, "क्यों ?"

"अरे! और नहीं तो क्या! देखा नहीं ? यहाँ कोई किसी की परवाह नहीं करता। सब कमाते हैं, खाते-पीते हैं और मस्त रहते हैं। बूढ़ा बाप यह उम्मीदें नहीं करता कि बेटा मुझे घर-बैठे खिलायेगा। बेटा जानता है कि बाप के पास इतना पैसा नहीं कि उसे खाना भी खिला सके और उसकी पढ़ाई-लिखाई का खर्चा भी दे सके। लिहाजा लड़ाई-झगड़े का कोई सवाल ही नहीं। काहिल देश को स्वावलम्बी बनाने का सिर्फ एक यही उपाय है।"

मैंने कुछ पूछना चाहा, पर पूछ न सकी। अनबोला प्रश्न अधरों तक आ, पुनः वापस लौट गया—मेहरा की दृष्टि सागर की नीली गहराइयों में न जाने क्या खोज रही थी। अन्यमनस्क-सा वह बोल रहा था, "अपने देश में सब एक-दूसरे के सहारे जीना चाहते हैं, लिहाजा किसी को भी सहारा नहीं मिल पाता, कोई भी वास्तव में जिन्दा नहीं रह पाता। दिन-रात के लड़ाई-झगड़े और कलह-क्लेश से जिन्दगी नरक बन जाती है।"

गहरी साँस भर, भैया हँसकर बोले, "औरों की बात तो मैं नहीं कह सकता, पर जो कोई तुम दोनों को पास-पास बैठाकर, बीच में खुद बैठ जाये, उसकी जिन्दगी जरूर नरक बन जाये।"

पूछा, "क्यों ?"

"पल-पल पर दोनों ओर से दार्शनिकता के पटाखे फूटें तो कोई कैसे जिन्दा रह सकता है! आओ, चलो, थोड़ा घूम आयें।"

"नहीं, भैया। बैठो ना। देखो, यहाँ कितना सुहावना लग रहा है।"

"चल, उठ, देर न कर। तू दिन-दिन आलसी होती जा रही है।"

भैया की बात टाली नहीं जा सकती, झटपट उठ खड़ी हुई।

मेहरा को न उठते देख भैया बोले, "अरे, चपड़गन्चू, तू कैसे बैठा रह गया!"

"बन्धु, तू मुझे बैठा ही रहने दे। मैं बैठा हुआ ही बड़ा अच्छा लग रहा हूँ।"

"यही तो तुझे गलतफहमी है। अरे, भोले शंकर! तू झूम-झूमकर चलता हुआ जितना अच्छा लगता है, उतना यूँ मक्खन के गोले के समान बैठा हुआ नहीं।"

मैं हँस दी।

भैया ने मेहरा की कमर पर उँगली रखकर कहा, "और देख, घूमने से यह तेरी कमर का घेरा भी कुछ कम हो जायेगा।"

मेहरा उठ खड़ा हुआ। भैया के कन्धे पर हाथ रखकर बोला, "बन्धु, तू कुछ नहीं जानता। गणेश के इस वरदान का, सीमा से थोड़ा बाहर निकला रहना भी

जरूरी है।"

"हाँ, हाँ, क्यों नहीं! उससे पतलून कमर पर जो टिकी रहती है, क्रीज बनी रहती है, फौल अच्छा गिरता है।" भैया एक-एक बात अपनी उँगलियों पर गिनाते बोले।

मैंने कहा, "बस! आजकल के लड़के! ऑफिस में कुर्सी पर बैठे-बैठे भी तुम लोग यही सोचते रहते होगे; कि कहीं तुम्हारी पतलून की क्रीज न खराब हो जाये।"

मेहरा ने कहा, "न पूछो, सिस्टर, ऑफिस में क्या हाल रहता है। हम हैं या नहीं, इतना भी होश नहीं रहता, कपड़ों की याद तो कहाँ से आयेगी! हाँ, तुम लोगों के साथ चलते समय जरूर ध्यान रखना पड़ता है।"

पूछा—"क्यों?"

"अरे, और नहीं तो क्या! तुम्हारी शानदार लकदक करती साड़ी के संग हम पाजामा-सी पैंट पहनकर चलें, तो देखनेवाले यह नहीं समझेंगे कि···"

चटपट, अपना हाथ उसके मुख पर रखते, भैया बोले, "बस, बस, आगे कुछ न बोलना।"

हम तीनों ही हँस पड़े।

सामने ही कोई किसी चने-चूड़े वाले से भाव-ताव करने की फिक्र में था। दो बार चने वाले ने सज्जनता से मना किया, किन्तु ग्राहक के तीसरी बार दोहराते ही, वह एकदम सोडा-वाटर की बोतल-सा उफन पड़ा, "जा, जा, आगे जा!"

ग्राहक का मुँह जरा-सा निकल आया।

वह पास से गुजरा तो मेहरा ने धीरे से कहा, "माई लॉर्ड, यह बम्बई है, बम्बई!"

वह क्रोध से उसे घूरता हुआ आगे बढ़ गया।

मुझे लगा—'सच तो है! यहाँ के चने बेचने वाले के मन में भी कितन आत्म-सम्मान है!'

'वह अपनी बात खोटी कदापि नहीं करेगा, चाहे इसके कारण उसका माल बिन बिका ही क्यों न रह जाये।

'जैसे हम किसी भिखारी को दुरदुरा देते हैं, ऐसे ही उसने अपने अन्नदाता भाव-ताव के भूखे, भिखारी ग्राहक को अवज्ञा से दुरदुरा दिया।'

चुप न रह सकी। मुँह से बात निकल ही गई, "किसी ने अपनी बात की लाज रख ली, किसी ने अधेले के लिए अपनी इज्जत गँवा दी।"

मेहरा ने अचरज से कहा, "क्या बात बोलती हो, सिस्टर! ऐसी छोटी-छोटी बातें तो जिन्दगी में रोज ही होती रहती हैं। इनसे बड़े-बड़े लोगों की इज्जत नहीं जाती!"

* * *

यह मेहरा की खास बात है। समय-कुसमय, वह बड़े मार्के की बात बोल जाता

है, और तिस पर मजा यह कि बोलते समय उसे पता भी नहीं रहता कि वह क्या बोल रहा है।

फिल्मी दुनिया पर व्यंग्य कसते उसने झूठ नहीं कहा था—मनुष्य के व्यक्तित्व में 'डिगनिटि' का क्या स्थान है, यह मेहरा पर दृष्टि पड़ते ही स्पष्ट हो जाता है।

उसके अपने व्यक्तित्व में 'डिगनिटि' है। चलता है, तो लम्बे-लम्बे डग बढ़ाकर, सीना तानकर, सिर ऊँचा करके, मानो वह इस धरती का बादशाह है, और उसके आस-पास घिसटने वाले अन्य सब जन, धरती की धूल में रेंगने वाले कीड़े!

भैया का वह मित्र है, और इस नाते मैं उसकी बहन हूँ। नाते-रिश्ते के सब मिलाकर, मेरे अपने कम-से-कम आठ-नौ भाई हैं। पर यह जो नूतन भाई राह चलते, संग चल पड़ा है, इसकी बात ही कुछ निराली है।

* * *

घूम-फिरकर, वह फिर उसी पुराने विषय पर लौट आया। बोला, "सिस्टर!"

पूछा, "क्या?"

"तो कब पूरी हो रही है वह कहानी?"

"अभी तो जिन्दगी शुरू ही हो रही है, भाई। अभी से कहानी कैसे पूरी हो जायेगी!"

मेहरा हँस पड़ा, "जानता हूँ, लेखिका हो। झूठी-सच्ची बातें गढ़कर, दूसरों को बहका लेना ही बस तुम्हारा काम है। लम्बे-लम्बे शब्दों के जाल में लपेटकर, भुला लेने की कला तुम्हें आती है, पर मुझे इतनी सहज में न बहका सकोगी। मेरी कहानी तुम्हें लिखनी ही होगी।"

उस हठीले स्वर को सुन मैं हँस पड़ी।

मन-ही-मन कहा—'जानती हूँ। लिखनी ही होगी। लिखे बिना छुटकारा नहीं। वह तो मेरे इस जीवन का शाप है, जिसके बन्धन से मुक्ति नहीं।'

प्रकट में कहा, "कहानी के लिए इतने बेचैन तो हो रहे हैं, श्रीमान, पर यह भी तो हो सकता है कि जो कहानी मैं लिखूँ, उसे पढ़कर आप अपनी तकदीर ठोंक लें, वह आपको इतनी बुरी लगे, कि मेरी कलम छोड़, आप मुझसे ही चिढ़ने लगें।"

"नहीं, सिस्टर। ऐसा हरगिज नहीं हो सकता।"

उस स्वर की अपूर्व दृढ़ता पर मैं चकित रह गई। पूछा, "क्यों?"

"क्योंकि तुम्हारी कलम जो लिखेगी, वह सच ही लिखेगी, और सत्य में कितना ही कालुष्य क्यों न हो, वह फिर भी सुन्दर ही रहता है।"

सिर पर नन्ही-नन्ही बूँदें पड़ने लगीं। हमारे कदम आप-से-आप तेज हो गये। मैंने कहा, "भैया, भागो। नहीं तो अब भीगे।"

मेहरा ने अपने लम्बे-लम्बे डगों को और भी लम्बे-लम्बे फासले पर रखते हुए कहा, "खबरदार, सिस्टर, जो जरा भी भागीं।"

जल की बूँदें तन को भिगोये डाल रही थीं। अत्यन्त विस्मित हो पूछा, "क्यों ! देखते नहीं, बूँदों का जोर बढ़ता ही जा रहा है ?"

"आकाश की ओर ही नहीं, जरा धरती की ओर भी देखो, सिस्टर। यहाँ फिसलन का जोर भी कुछ कम नहीं है।"

झल्लाकर कहा, "फिसलने के डर से, मैं अपनी साड़ी सत्यानाश कर डालूँ ?"

"नहीं जी, नहीं। हरगिज नहीं। सुन लिया, बन्धु। 'ड्राई-क्लीनर' को तीन रुपये देने से हमारी सिस्टर डॉक्टर को तीन सौ रुपये देना अधिक अच्छा समझती हैं ! मैं कहता हूँ—अगर पैर की एक हड्डी भी टूट गई, तो एक हजार रुपये पर पानी फिर जायेगा।"

सच बात पर चिढ़ना ही पड़ता है। कहा, "ऐसी बात तो बोलोगे ही ! भाई जो ठहरे ! डॉक्टर का बिल न अदा करना पड़ेगा ? बहन की हड्डी टूटे या बचे, भाई के रुपये सलामत रहने चाहिएँ !"

इतना बड़ा अन्याय तो देवता भी सहन नहीं कर सकते, मेहरा तो फिर इन्सान है। कुढ़कर बोला, "नहीं, जी, आप भाई के रुपयों की फिक्र न करें। शौक से अपनी हड्डी तुड़ा लें। लेकिन उसके लिए अकस्मात गिरने का इन्तजार क्यों ! लाइये, धक्का दे मैं ही आपको लुढ़कती फुटबॉल बना दूँ।"

उसने तुरन्त हाथ आगे बढ़ाया। हँसती हुई, मैं फुर्ती से घूमकर आगे बढ़ गई।

हम सही-सलामत होटल तक पहुँच गये। द्वार में पैर रखते ही, मेहरा ने पुनः कहा, "तो सिस्टर, आज की रात के खामोश लमहों में, मेरी कहानी पूरी हो जायेगी न ?"

बूँदें बढ़कर, बारिश बन गई थीं। जनपथ सूना हो गया था। मैंने एक बार पीछे घूमकर देखा। कहा, "सब तो अपने-अपने घरों में आश्रय पा गये होंगे। तुम्हारे उस बूढ़े ने क्या किया होगा ?"

मेहरा ने अपना हाथ वर्षा में बढ़ा दिया। झर-झर झरती बूँदें उसकी बलिष्ठ कलाई पर छितराकर मोती बन गईं। उनकी झलमलाती आभा में न जाने किसे खोजते, मेहरा ने धीरे से कहा, "बस-स्टैण्ड का 'शैल्टर' तो है। सिर छिपाने को वह क्या कम है ?"

पीछे से भैया ने पुकारा, "आओ, नहीं तो मैं लिफ्ट चलाता हूँ।"

हम दौड़कर लिफ्ट में जा चढ़े।

ऊपर पहुँचे। द्वार में चाबी लगाई और उनके खुलते ही सुनी किसी के भागते पैरों की आवाज।

भैया पुकार उठे—"चोर ! चोर !"

मेरे मुँह से चीख निकल गई।

पर चोर पकड़ा जा चुका था।

मेहरा ने लपककर, पलक झपकाते, उसे अपनी बलिष्ठ भुजाओं में बन्दी बना लिया था।

* * *

बिजली का बटन दबाते ही, तीक्ष्ण आलोक में, उस बूढ़े की झुकी कमर, झुर्रियों-भरा मुख और सफेद-उजले केश चमक उठे।

बिस्तरे की चादर उठा, उसके दोनों हाथ बाँधते हुए, भैया ने कहा, "शान्ता, जा, झटपट पुलिस को फोन कर दे।"

मैं आगे बढ़ी, पर मेहरा की गूँजती वाणी ने मेरे कदमों को वहीं-का-वहीं रोक दिया, "अरे, नहीं, सिस्टर! ऐसा गजब न करना। कहीं चूहों का भी शिकार किया जाता है!"

मैं मेहरा के मुख की ओर ताकती ही रह गई।

उसने मेरी ओर ध्यान न दिया। भैया से बोला, "छोड़ दो इसे। अपनी मौत तो मरेगा। जेल जाकर मर गया, तो व्यर्थ हमारे-तुम्हारे सिर हत्या चढ़ेगी। दोनों पाँव कब्र में लटकाकर बैठा है अभागा और चोरी करने चला है! क्यों, रे बूढ़े! इस उम्र में भी चोरी? ऐसे नीच कर्म में हाथ डालते तुझे भगवान् से भी डर नहीं लगा?"

बूढ़े की सूखी आँखों में गीले आँसू छलक आये, "बाबू, धरम-करम भगवान् ने आप लोगों के लिए बनाये हैं। हमारे लिये तो उसने चोरी और लूट-मारी ही छोड़ी है!" उसके स्वर में तीखी कटुता थी।

"क्या बकता है!" मेहरा डाँटकर बोला।

"मेरा इकलौता बेटा तीन सप्ताह से ज्वर में अचेत पड़ा है, पर मेरे पास तीन पैसे भी नहीं, कि मैं उसे 'ट्राम' में डालकर अस्पताल भी ले जा सकूँ। मैं यहाँ चोरी कर रहा हूँ, वहाँ शायद उसके प्राण-पखेरू भी उड़ गये होंगे।"

सहसा बूढ़े की समस्त शक्ति टूट-सी गई। वाणी में गहन उत्ताप भरकर बोला, "हटो, बाबू, मुझे छोड़ दो। इस धरती पर मैं जिन्दा हूँ, यह भी मेरा पाप है। इस खिड़की से कूदकर, आज मैं इस पाप का अन्त कर दूँ। हटो, हट जाओ, छोड़ दो मुझे। धरती की गोद मुझे बाँहें पसारकर बुला रही है, मुझे उसकी अभय-भरी गोद में शरण पा जाने दो।"

मेहरा ने उसे झिड़ककर कहा, "खिड़की से ही कूदना है, तो अपने घर की खिड़की से कूदना, बाबा। मेरे घर से प्राण दे क्यों पुलिस का फन्दा मेरे गले में फँसाने पर तुला है। लेकिन प्राण पीछे देना। पहले चलकर, अपने बीमार बेटे को मेरे हवाले कर दे।"

हम कुछ समझ सकें, इससे पूर्व ही उसका हाथ पकड़कर घसीटते हुए, मेहरा तेजी से बाहर निकल गया।

मैं लपककर बालकनी पर आई।

वर्षा तेज हो रही थी। हवा आँधी बन छा रही थी। छोटी-बड़ी लहरें पथरीले तट से टकरा रही थीं—और उस फेनोज्ज्वल रजत-राशि की उड़ती फुहारों में भीगते, चले जा रहे थे वे दोनों।

अम्बर का जल, मेरी आँखों में घना हो घिर आया।

१३

सँकरी राहें

फटे तल्ले के अपने जूते चटकाता सन्दीप घर के सामने आ खड़ा हुआ। जेब से ताली निकाल, उसने ताला खोला, साँकल खोली, और द्वार खोला ही था, कि सामने पड़े दो-तीन लिफाफों पर उसकी दृष्टि पड़ी।

हाथ का ताला नीचे डाल उसने वे लिफाफे उठा लिये और उन्हें उलट-पुलट कर देखा।

यह पत्र उसके पिता का मालूम होता है। क्या लिखा होगा उन्होंने ? विशेष कुछ नहीं। अब भी घर लौट आने का वही पुराना सन्देशा, उसी घिसे-पिटे जीवन को प्रसन्नतापूर्वक बिताने का वही आदेश और, और··जाने दो, पढ़ेगा अवश्य। पिता के पत्र की वह अवमानना नहीं करना चाहता, किन्तु जल्दी की क्या बात है ? उसे कभी भी पढ़ा जा सकता है, और यह दूसरा पत्र निश्चय ही प्रभा का है।

नहीं, उसकी पत्नी पुरातना नहीं कि क्षमा माँग ले, पति और सास-ससुर के सभी आदेश, शीश झुका चुपके से स्वीकार कर ले, वह नितान्त आधुनिक नारी है। उसका अपना अलग व्यक्तित्व है, अगल धारणायें हैं, अलग आदर्श हैं, वह प्रत्येक वस्तु को, प्रत्येक कार्य को, एक नये ही दृष्टिकोण से देखने की अभ्यस्त है। यहाँ तक कि पति-पत्नी के सम्बन्ध में भी, उसके अपने नूतन विश्वास हैं। प्रेम-पत्र यह अवश्य है, किन्तु यदि इसे प्रेम-पत्र न कह 'बिजनेस लेटर' कहा जाये तो अधिक उपयुक्त होगा।

सन्दीप के अधरों पर हलकी-सी हँसी खेल गई। उसने तीसरे पत्र पर दृष्टि डाली, ओह ! यह उसकी एक और कहानी है, जो एक बार फिर लौट आई है।

सन्दीप धम् से चारपाई पर बैठ गया। उसकी दृष्टि चारों ओर घूम गई, काली-काली दीवारें, तीन टाँग की एक मेज, फटे बेंत की एक कुरसी, शानदार सूटकेस, रेशम की रजाई और यह झूला-सी चारपाई।

उसकी आँखों के आगे, अपने पिता के विशाल प्रस्तर सौध का चित्र खिंच गया, और उसके अधरों पर पुनः मुसकान दौड़ गई। माता-पिता, भाई-बहन, सबके होते हुए भी आज वह अकेला है, क्यों ? केवल इस लौटी कहानी के कारण।

सत्ताशील वैभवशाली पिता की पुत्री, सर्वगुण-सम्पन्न स्नेहशीला, सुहासिनि प्रभा का पति, आज यह सूना एकाकी जीवन बिता रहा है केवल इस लौटी कहानी के कारण।

सृष्टि की रचना कर, स्रष्टा अवश्य ही आनन्द से अभिभूत हो उठे होंगे, किन्तु जिस दिन सन्दीप ने अपनी प्रथम कहानी लिखी थी, वह स्वयं को उस स्रष्टा का भी सृजनहार समझ बैठा था।

उसने सोचा था कि उसकी वह कहानी किसी प्रमुख पत्रिका में प्रकाशित होगी, उसे पढ़ते ही, जनता आनन्द-विभोर हो झूम-झूम उठेगी, उसके पास प्रशंसा-पत्रों के ढेर लग जायेंगे। प्रशंसा-पत्र और सम्पादकों के पत्र···'हमें भेजिये अपनी कहानी, नहीं मि० सन्दीप, हमारे पास भेजिये अपनी कहानी, नहीं सन्दीप साहब, आपको अपनी कहानी हमारे पास ही भेजनी होगी।'

उसे स्वयं आश्चर्य था···कैसे वह इतनी सुन्दर कहानी लिख सका!

परन्तु यह तो अपना-अपना दृष्टिकोण है। जिस सम्पादक के पास उसने अपनी वह कहानी भेजी थी, उसने 'धन्यवाद और खेद-सहित' उसे लौटा दिया था।

'कोई बात नहीं,' सन्दीप ने उस अनुपस्थित सम्पादक को घूँसा दिखाते हुए कहा था—'तुम इस अनूठी, मार्मिक और हास्यास्पद कहानी का मूल्य समझ ही नहीं सकते। तुम्हारे अन्दर इतनी योग्यता है ही नहीं,' और तत्क्षण दूसरे लिफाफे में रख उसने उस कहानी को दूसरे सम्पादक के पास प्रेषित कर दिया था।

परन्तु शायद कोई भी सम्पादक प्रतिभा नहीं पहचानता, इसीलिए तो कहानी एक-एक कर चार-पाँच सम्पादकों के पास से लौट आई थी।

उसी एक कहानी के छपने की प्रतीक्षा में मुँह बाये बैठा था सन्दीप, दूसरी लिखने का उसने कष्ट ही नहीं किया था। जब छठे सम्पादक ने भी बिना खेद प्रकट किये ही उस कहानी को लौटा दिया तो सहसा सन्दीप को अपनी भूल मालूम हुई। वह भी कितना मूर्ख है! हो सकता है कि यह कहानी वास्तव में ही प्रकाशन-योग्य न हो। अरे भई, पहली ही कहानी तो है। इस बीच में कोई और भी लिखी होती तो आज चट से भेज तो देता उसे।

अपना सम्पूर्ण ध्यान एकत्र कर सन्दीप मनोयोगपूर्वक कहानी लिखने में जुट गया था। कहानी समाप्त होने पर उसे लगा था कि उसकी इस कहानी की गणना वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में होगी। अधीरतापूर्वक उसे लिफाफे में बन्द कर, पता लिख, उसने उसे डाक-बम्बे में बहा दिया था।

वह सर्वश्रेष्ठ कहानी बहकर जो गई तो फिर वापस लौटकर नहीं आई।

महीने-भर की दीर्घकालीन असफल प्रतीक्षा के पश्चात् सन्दीप ने एक और कहानी लिखी थी।

'यह कहानी वर्षकी कहानियों में सर्वश्रेष्ठ न हो, हो सकता है कि यह कहानी सुन्दरतम न हो,' सन्दीप ने सोचा था—'किन्तु यह सम्पादक को पसन्द अवश्य ही आयेगी।'

किन्तु यह अनुमान भी मिथ्या ही रहा। आशा को निराशा में परिणित करती, अपनी अग्रजा का अनुसरण करती, वह कहानी भी अपने प्रिय सृजनकर्त्ता के समीप

लौट आई थी।

झुँझलाकर कहानी भेजने का क्रम स्थगित कर सन्दीप नई-नई कहानियाँ लिखने में जुट पड़ा था तब। कभी-कभी वह कोई कहानी किसी पत्रिका में भेज भी देता था।

जिस दिन उसकी पहली कहानी स्वीकार की गई थी, उसके हर्ष का छोर नहीं रहा। उस दिन उसने अनुप्रेरित हो दो कहानियाँ लिख डाली थीं और बीसियों कथानक सोच लिये थे।

किन्तु अगली ही बार कहानी लौटने पर वह निराशा के सागर में डुबकियाँ खाने लगा था, और उसने कई दिन तक लेखनी की ओर दृष्टि उठाकर तक नहीं देखा था।

क्रम चलने लगा था, यही सन्दीप कहानियाँ लिखता, किसी-किसी को कहीं भेज देता, कभी कहानी लौट आती, कभी न लौटती।

भावना-जगत् में विचरण करने वाले सन्दीप के पार्थिव जीवन में भी परिवर्तन होते जा रहे थे। बनारस इंजीनियरिंग कालिज की शिक्षा समाप्त कर वह घर लौट आया। उसका विवाह भी हो गया। किन्तु वह सब तो मानो सपनों की बातें थीं। सत्य और यथार्थ यदि कुछ था, तो थीं वे प्रकाशित और अप्रकाशित, अधूरी और लौटी हुई रचनाएँ। उस अधूरी साधना की वे असफल कहानियाँ!

कब सरकार की ओर से नियुक्ति-पत्र आया, और कब उसे लौटा दिया, इसका सन्दीप को होश न था। होश आया तब, जब कि इस बात के पता चलते ही पिता से छोटे भाई प्रताप तक ने एक स्वर में उसे भड़काना प्रारम्भ कर दिया।

बड़ी कुशलतापूर्वक उन बौछारों का उत्तर वह मशीनगन द्वारा दे रहा था। किन्तु जब उसकी पत्नी प्रभा ने भी उस वाक्-युद्ध में भाग लेना प्रारम्भ कर दिया, तब उसने झट हार मान ली।

रणस्थली से मुख मोड़, पीठ दिखा, वह अपने कमरे में आ घुसा। द्वार की चटखनी बन्द कर, अपनी मेज पर बैठ, हाथ में लेखनी उठा, उसने अपने व्यथित हृदय में उमड़ती शान्ति को किसी कहानी में डुबो देना चाहा।

किन्तु मन की इच्छा मन में ही रह गई। खुली खिड़की की राह से अन्दर कूद, प्रदीप ने द्वार की चटखनी खोल दी। चटखनी खुलते ही, सभी रण-प्रवीण अन्दर आ घुसे और पुनः युद्ध आरम्भ हो गया।

प्रभा के कथन का सारांश था—केवल इतना सन्दीप को चाहिये कि अब भावुकता छोड़, वास्तविकता का सामना करना सीखे, और नौकरी स्वीकार कर ले। कहानी लिखनी ही हों, तो वे नौकरी करते समय भी लिखी जा सकती हैं। अपने वंश और कुल की मर्यादा के लिए उसे यह पद स्वीकार करना ही होगा, नहीं तो पिता का इतना धन खर्च कर, उसने डिगरी ली ही क्यों?

सन्दीप को लगा था कि प्रभा स्पष्ट कह रही है। वह लखपति की बेटी है।

धनाढ्य की बहू, मोटर में घूमे बिना, क्लब गये बिना, बहुमूल्य वस्त्राभूषणों के बिना, उसका काम न चलेगा। उसके अहम्-भाव की तृप्ति के लिए सन्दीप को अपने समस्त मनोरथों की, अपनी सम्पूर्ण अभिलाषाओं की बलि देनी होगी, क्योंकि वह उसका पति है।

सन्दीप के कथन का भावार्थ था—वह साहित्य-सेवा कदापि नहीं छोड़ सकता। सरकारी नौकरी में, विशेषकर दौरे की नौकरी में, साहित्य-सेवा नहीं चल सकती। प्रत्येक कार्य के लिए परिश्रम की, अनुभव की आवश्यकता पड़ती है। अभी तो वह जी-तोड़ परिश्रम करना चाहता है, अनुभव प्राप्त करना चाहता है। पिता की ओर से अवश्य ही कोई आपत्ति नहीं होगी। मृत्यु के उपरान्त बेटे के लिए धनराशि छोड़ जायें, ऐसी उनकी इच्छा नहीं। इससे अच्छा वह यह समझते हैं कि वह धन-राशि अभी खर्च कर बेटे को अपने पैरों पर खड़े होने में सहायता दे सकें, उस समर्थ पुत्र का भावी जीवन सार्थक बना सकें। केवल पिता को प्रसन्न करने के लिए उसने डिग्री प्राप्त की; नहीं तो, न तो इस ओर उसका लोभ था, न रुचि ही थी। प्रारम्भिक बाधाएँ पार कर जिस दिन वह महान् कलाविद् बन बैठेगा, उस दिन प्रभा को एक घिसे-पिटे इंजीनियर-मात्र की पत्नी न हो पाने का क्षोभ न खलेगा।

प्रभा को लगा था कि सन्दीप स्पष्ट कह रहा है—मैं अपने पिता का लाड़ला बेटा हूँ। उन्होंने आज तक मेरी इच्छा कभी नहीं टाली, और वह अब भी बाधा नहीं डालेंगे। मेरी राह का रोड़ा तुम हो, केवल तुम! वह मुझे घर पड़े-पड़े भोजन-वस्त्र दे सकते हैं, तो मैं क्यों धूप-घाम में घूम-घूमकर परिश्रम करूँ! यह कहना है भी अच्छा, दो-चार कहानियाँ लिख डालीं—तो ठीक, अन्यथा मौज तो है ही।

इस विरोधाभास का अन्त यह हुआ था कि प्रभा ने उसी दिन से 'वाण्टेड' के कॉलम चाटने प्रारम्भ कर दिये और दो वर्ष के लिए पिता से समझौता कर, अपनी गठरी बाँध सन्दीप ने दिल्ली की राह ली थी।

दो वर्ष छोड़ अब तीन होने को आये, सन्दीप इस तीन टाँग के मेज और झूला-सी चारपाई का मालिक होने के अतिरिक्त और किसी बात का दावा नहीं कर सकता। वह जान रहा है पिता की सहन-शक्ति का बाँध अब टूटने ही वाला है। असह्य-खीझ उस सहज सन्तोष का स्थान ग्रहण करना ही चाहती है।

और प्रभा वहीं कहीं, किसी कालिज में नटखट लड़कियों के सान्निध्य में अपने जीवन के दिन बिताती होगी। जब-तब उसे उसकी याद आ जाती होगी। तो वह ये पत्र लिख डालती होगी, स्नेह-उपालम्भ, आदेश-सन्देश, गर्व-भरे ये पत्र!

और उसकी कला? वह मानो क्षितिज का प्रकाशमान तारा है, लाख प्रयत्न करने पर भी जो पकड़ में नहीं आता। जिस प्रकार वह प्रगति कर रहा है उसके अनुसार तो कलाविद् बनने के लिए उसे सात जन्म और लेने पड़ेंगे।

सन्दीप बड़ी सादगी से रहा करता था। पिता ने यदि पैसे न भेजे, अपनी धमकी को कार्य-रूप में परिणित कर ही डाला, तो चार-छः महीने का खर्च भली-भाँति

चल सकेगा। किन्तु उसके बाद ?

कोई भी पिता, वह कितना ही महान् क्यों न हो, सात जन्म तक पुत्र की सहायता कदापि नहीं कर सकता।

पिता के पैरों पर खड़े हो वह समर्थ बनना चाहता है ? छिः! आज वह पिता को रुपये भेजने की मनाही कर देगा। संसार में यदि कभी कुछ कर जाना है तो उसे ऐसा अपने ही पैरों पर खड़े होकर करना होगा। तभी उसका जीवन सफल हो सकेगा।

काम ? कुछ-न-कुछ काम करना ही होगा। यह समस्या भी सुलझानी ही होगी। किन्तु तात्कालिक समस्या है, यह कमीज जितनी फट चुकी है उससे अधिक और नहीं फट सकती। दूसरी बनवानी ही होगी। और इस जूते को भी अब पेंशन देना ही श्रेयस्कर है। ऐसा ही कुसमय आ पड़े तो दो समय भूखे रह जाना अच्छा, किन्तु अपनी दीनता प्रदर्शित करना किसी प्रकार भी ठीक नहीं। तीनों पत्र तकिये के नीचे दबा, उसने दूसरी कमीज पहनी जो फटी हुई तो थी, परन्तु इतनी अधिक नहीं। जेब में पैसे डाल, ताला बन्द कर जूते की लपलपाती जीभ यथाशक्ति वश में रखने का प्रयत्न करते हुए वह बाजार की ओर चल पड़ा।

राह चलते-चलते उसके विचार फिर पलटा खा गये, नौकरी करेगा ? छिः! प्रभा सुनेगी तो ?

सहसा वह तनकर लम्बे-लम्बे डग भरने लगा। नहीं, नौकरी उसके वश की बात नहीं। क्या हुआ जो अभी तक वह अभिनन्दनीय सफलता प्राप्त नहीं कर सका ? वह परिश्रम करेगा और—अथक—अथाह, असीम परिश्रम, किसी-न-किसी दिन उसे सफलता मिलेगी ही।

शैशव में बहुधा गाये गये एक गीत की पंक्ति उसके कानों में बार-बार टकराने लगी—

"लोहा छैनी है तैयार,
ला हथौड़ा दे मार,
दे मार...............
लोहा छैनी है तैयार,
ला हथौड़ा दे मार,
दे मार...............
ला हथौड़ा दे मार,
दे मार............"

ठाठ से नये जूते चमचमाते, वह कपड़े की एक बड़ी दुकान में घुस पड़ा। सामने ही मैनेजर काउण्टर पर खड़ी किशोरी को बुरी तरह से डाँट रहा था। उसे देखते ही, वह तत्क्षण पलटकर, अपने स्थान की ओर बढ़ गया।

मैनेजर के पीठ घुमाते ही, उसकी भाव-भंगिमा की नकल कर, मानो तत्क्षण उस किशोरी ने बदला ले लिया।

सन्दीप को हँसी आ गई—कितनी शरीफ है यह लड़की ! उसे अपनी ओर देखकर मुसकराते पा, वह भी हँस पड़ी। सन्दीप को वह हँसी बड़ी भली लगी।

कपड़ा पसन्द कर लिया गया। उसको लपेटते हुए किशोरी ने कहा—"आप ही मेरे अन्तिम ग्राहक हैं।"

"क्यों ? आज आपकी ड्यूटी पूरी हो गई शायद ?"

"जी हाँ, आज की ही नहीं, इस दुकान पर की भी, सदा-सदा के लिए। ये पैसे जमा कर मैं अपना वेतन ले आऊँ, बस मेरी छुट्टी।"

कथन-समाप्ति के प्रथम पल में सन्दीप ने सोचा था कि समवेदना प्रदर्शित करे, किन्तु उस परिहास-भरे, चंचल मुखड़े को देख, उसे उपयुक्त शब्द खोजे न मिले।

उसका भाव शायद वह भाँप गई। मुसकराकर बोली—"आप शायद सोच रहे हैं कि नौकरी छूट जाने पर भी मैं इतनी प्रसन्न कैसे हूँ। यह लम्बी कहानी है। यदि आपको कोई विशेष काम न हो तो चलिये हम लोग कुछ दूर सँग-सँग ही चलें। आपकी जिज्ञासा मिट जायेगी, मुझे भी सँग मिल जायेगा।"

कैसी है यह लड़की ! किस प्रकार निःसंकोच भाव से बातें करती है। किन्तु अपने मनोभाव सन्दीप ने मुख पर प्रकट न होने दिये। शिष्टतापूर्वक कहा—"तो आइये फिर आप। मैं बाहर प्रतीक्षा कर रहा हूँ।"

कुछ ही दूर चलने के बाद वह बोली—"परन्तु यूँ निरर्थक घूमने से क्या लाभ ! आइये कहीं बैठें, चाय ही पी लें।"

सन्दीप ने छिपाकर अपनी जेब टटोली, जेब में कुल चार-छः आने पड़े थे। वह नवाबी तबीयत का आदमी है। हाथ में पैसे होते हैं, तो अपने आप ही खर्च हो जाते हैं, इसलिए आजकल वह गिने-चुने पैसे हाथ में लेकर ही घर से निकलता है।

उसने कहा—"आज तो क्षमा करिये, फिर कभी..."

परन्तु युवती ने उसे बात न पूरी करने दी। बोली—"वाह ! आज छुटकारा कैसे मिल सकता है आपको ! आज तो आप मेरे अन्तिम ग्राहक थे, और कुछ नहीं तो इस खुशी में ही आपको दावत खानी पड़ेगी। एक बात अभी कहे देती हूँ, यह निमंत्रण मेरा है। जब वेटर बिल लाये तब हाथ न बढ़ाइयेगा, नहीं तो वहीं सब के सामने लड़ाई हो जायेगी।"

कितनी बातूनी है यह लड़की ! क्या यह भाँप गई है कि मेरे पास पैसे नहीं—मन-ही-मन सोचा सन्दीप ने। किन्तु सँग चलने का प्रस्ताव मान उसने स्वयं ही तो यह विपत्ति मोल ली है। अतः छुटकारे का अब कोई उपाय नहीं। इस समय मना करना असभ्यता होगी।

उसने मुसकराने का प्रयत्न करते हुए कहा—"खैर, आज का निमंत्रण आपका सही, किन्तु फिर किसी दिन आपको भी मेरा आतिथ्य स्वीकार करना होगा।"

"फिर किसी दिन क्यों, कल ही रखिये न। या आप इस मित्रता को यहीं ठप्प देना चाहते हैं ?"

सन्दीप अप्रतिभ हो उठा, कहा—"नहीं, नहीं, यह बात नहीं, मैं···मेरा आशय था कि···"

किशोरी खिलखिला पड़ी। कितनी मधुर थी वह हँसी! बोली—"वाह! देखती हूँ कि हम दोनों एक-से ही मिले हैं। मैत्री पक्की कर ली है, परन्तु एक-दूसरे का नाम, धाम, परिचय कुछ पूछा ही नहीं!"

सन्दीप ने भी उस हँसी में योग देते हुए कहा—"बात तो आपकी सही है। पहले मैं ही अपना लम्बा-चौड़ा परिचय दे डालूँ। मैं एक फाकामस्त, घर-बार-विहीन इन्सान हूँ और लेखक बनने की धुन में सड़कों की धूल छाना करता हूँ। नाम है मेरा सन्दीप।"

"और मैं? मैं बिना नोटिस दिये हुए निकाल दी गई एक सेल्स-गर्ल हूँ। मेरा नाम शर्मिला है।"

"वाह, यह तो आपका पूरा परिचय नहीं!"

"आपने ही कहाँ दिया अपना पूरा परिचय! ओह! भूल गई। लेखक का शायद इसके अतिरिक्त और कोई परिचय होता ही नहीं। अच्छा, मैं प्रभा को लिख दूँगी—"सखी सन्दीपजी की आशा छोड़। वह तो अब तुझे छोड़ राह की धूल से नाता जोड़ने की ताक में हैं।"

सन्दीप को सहसा अपने कानों पर विश्वास न हुआ। आश्चर्यान्वित हो बोल उठा—"प्रभा! आप प्रभा को जानती हैं?"

"खूब! पुष्प से पूछिये तुम पराग को पहचानते हो?"

"तो आपने मुझे तभी पहचान लिया था?"

"जी हाँ, देखते ही, आप अपनी साली को भूल जायें, तो क्या मैं भी अपने जीजा को भूल जाऊँ!"

"देखिये अपराध मेरा नहीं, विवाह के समय मैंने आपको देखा होगा, अवश्य, किन्तु उस समय आप सभी ने मिलकर इस बुरी तरह से मेरे ऊपर प्रश्नों की झड़ी लगा दी थी कि मुझे सिर उठा, किसी की ओर ध्यान देने का अवसर भी नहीं मिला था। इसलिए·····"

"झड़ी नहीं साहब, कहिये फुलझड़ियें! खैर, कोई बात नहीं, क्योंकि आप सच्चे हृदय से क्षमा माँग रहे हैं, आपको अभयदान दे दिया गया। अच्छा, अब जब कि भेद खुल ही गया है तो व्यर्थ रेस्तराँ में पैसा नष्ट न कर घर ही क्यों न चला जाये?"

"वाह, तो क्या आप अभी भेद नहीं खोलना चाहती थीं?"

"और नहीं तो क्या? चार-छः दिन आपको छका न लेती, तो कहते, परन्तु शोक, महाशोक, चार-छः दिन तो दूर, चार-छः मिनट भी मेरे पेट में बात नहीं रुकती।"

उसकी भाव-भंगिमा देख सन्दीप को हँसी आ गई, कहा—"अच्छा आप···"

"देखिये जीजाजी, अब आप स्वयं अपना मजाक उड़वाने की तैयारी कर

रहे हैं। छोटी को कोई आप कहता होगा ?"

"परन्तु आप तो छोटी साली हैं न ?" सन्दीप ने उसे चिढ़ाया। परन्तु शर्मिला ने उस ओर ध्यान ही नहीं दिया। तर्जनी उठा उसे धमकाते हुए बोली—"फिर आप ?"

सन्दीप ने सहज ही हार मान ली। कहा—"परन्तु तुम्हें भी जीजा न कह सन्दीप कहना होगा।"

यह समझौता हो गया, तो शर्मिला ने पूछा—"अच्छा सन्दीप भाई, प्रभा से आपका झगड़ा क्यों हुआ ?"

"वह तो तुम्हें मालूम ही होगा ?"

"वह तो प्रभा की बात है। मैं आपकी बात सुनना चाहती हूँ।"

"तो सुनो, मैं चाहता था कि मैं स्वतन्त्र रह, अपना सारा समय कला की उपासना में बिता सकूँ और प्रभा की इच्छा थी कि मैं चौबीस घण्टे गुलामी की जंजीरों में बँधा दम तोड़ता रहूँ।"

"बस, केवल इतनी-सी ही बात थी ?" शर्मिला खिलखिला उठी—"तो प्रभा को अभी अक्ल आई कि नहीं ?"

सन्दीप विस्मित हो उठा। उसने आशा की थी कि प्रभा का पक्ष ले, शर्मिला झगड़ा करेगी और वह मन-ही-मन उग्रातिउग्र वाद-विवाद के लिए प्रस्तुत हो उठा था। किन्तु आशा के विपरीत उसके मुख से निकलता यह प्रश्न सुन वह भौंचक्का हो उठा। केवल कह सका इतना ही—"शायद नहीं !"

"ऐसे पैदल कब तक चलेंगे, सन्दीप भाई। ये दिल्ली की सड़कें तो मानो द्रौपदी के आँचल की छोर हैं, कितना ही चलें, दूरी समाप्त होने में ही नहीं आती। आइये, यह मोटर-रिक्शा पकड़ लें।"

मोटर-रिक्शा में और भी दो सज्जन बैठे थे, इसलिए वार्तालाप का प्रवाह रुक-सा गया। शर्मिला ने बताया कि कालिज का कोर्स पूरा होने के उपरान्त जब कि प्रभा ने विवाह-बन्धन में बँधना स्वीकार कर लिया था, वह नृत्य-संगीत की उच्चतर शिक्षा पाने के लिए लखनऊ चली गई थी। चार-छः दिन हुए ही लौटी है। पत्र द्वारा उसने प्रभा से सन्दीप का पता पूछ लिया था परन्तु दिल्ली में किसी लेखक का पता नित्य वह भैया से कहती थी, और कुछ-न-कुछ बहाना बना, वह नित्य टाल देते थे, तभी आज संयोग से भेंट हो गई।

इतनी उच्च शिक्षिता, एक दूकान में साधारण-सी नौकरी करे, यह बात सन्दीप को बड़ी अटपटी लगी। परन्तु कुछ पूछना उचित न समझ वह चुप ही रहा। शर्मिला के घर में प्रविष्ट होते ही सन्दीप को एक और आघात लगा—दूकान का वह धृष्ट मैनेजर ठाट से आरामकुरसी पर पैर पसारे बैठा था !

सन्दीप के विस्मयाभिभूत मुख की ओर देख शर्मिला हँसी से लोट-पोट हो गई। मैनेजर साहब बिगड़ते हुए बोले—"इतना हँसने की क्या बात है !"

बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार हँसी रोकते हुए शर्मिला ने कहा—"ओह ! जो हुआ सो हुआ, आज एक बात तो प्रमाणित हो ही गई, भैया बड़ी डींग हाँका करते थे तुम, परन्तु आज निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया कि हम लोगों पर दृष्टि पड़ते ही कोई हमें भाई-बहन कदापि नहीं समझ सकता।"

"इसका अर्थ ?"

"अर्थ तो स्पष्ट ही है। तुम्हें मेरे ऊपर उबलते देख यह सन्दीप भाई समझे कि मैं कोई सेल्स गर्ल हूँ और मुझ बेचारी के ऊपर अपनी मैनेजरी छाँट रहे हो ?"

"ओह ! तुम ही हो सन्दीप ? जरा बचकर रहना भाई, पूरी शैतान की नानी है, यह छोकरी ! दो दिन में ही···"

"अच्छा भैया, मेरी सुकीर्ति और किसी दिन सुना देना। चलो, इन्हें पहले माँ से मिला दें।"

उसके पीछे चलते-चलते भैया ने सन्दीप की आँखों में आँखें डालकर देखा, मानो कह रहे हों, देखा ! कहा था न मैंने ?"

दो-चार दिन बाद ही एक दिन शर्मिला ने कहा—"अच्छा सन्दीप भाई, हमें भी दिखाइये कहानियाँ।"

सन्दीप बड़े उत्साह से अपना सूटकेस खोलने लगा, और वह ठाट से उसी तीन टाँग की मेज पर जमकर बैठ गई, बोली—"सन्दीप भाई, आपने अपने लिए कोई लड़की पसन्द की ?"

कागजों के बण्डल सन्दीप के हाथ से छूटकर गिर पड़े। वह विस्मय-विस्फारित नेत्रों से पूछ उठा—"क्या मतलब है ?"

नहीं समझे ? वाह ! प्रभा ने तो अपना जीवन-साथी चुन भी लिया। तलाक मिलते ही वह उससे विवाह कर लेगी।"

"यह झूठ है, ऐसा नहीं हो सकता।"

"क्यों नहीं हो सकता ? तीन वर्ष होने को आये, आपने कभी उस बेचारी की सुधि तक नहीं ली। उसके पत्रों के उत्तर नहीं दिये, आप पढ़ते भी हैं या नहीं, भगवान् जाने। वह बेचारी कब तक बैठी-बैठी आपके नाम की माला जपती रहे ?"

"बात सच है, किन्तु फिर भी मुझे दृढ़ विश्वास है कि प्रभा ऐसा नहीं कर सकती।"

"क्यों नहीं कर सकती ? भूखे को रोटी नहीं मिलती तो मरने की अपेक्षा चोरी करना अधिक पसन्द करेगा। दरिद्र को यदि एक समय रोटी नहीं मिलती, तो वह सन्तोष कर बैठ जाता है। कष्ट उसे अवश्य होता है, परन्तु हफ्ते में चार दिन प्रायः सदा ही भूखे रहने के कारण वह इसे सहन करने का अभ्यस्त हो जाता है, किन्तु धनवान् एक दिन तो क्या, एक पल की भी भूख सहन नहीं कर सकता।"

"कहाँ का गीत, कौन-सी लय ! उस बात से इसका क्या सम्बन्ध ?" भ्रमित-से सन्दीप ने खीझकर कहा।

"बहुत-कुछ, जो दोनों आँखें फैलाये बिना ही दिखता है। प्रभा समर्थ पिता की लाड़ली बेटी है। सदा से ही उसने मनमानी करना सीखा है। एक बार विवाहित जीवन बिता, यौवन-काल में ही पुनः निसंग जीवन बिताना सभी के लिए कठिन है, फिर उस बेचारी का क्या दोष!"

"किन्तु मुझे विश्वास है..."

"तो रखे रहो अपने विश्वास को सँभालकर!" और शर्मिला उठ खड़ी हुई। चार दिन बाद जब तलाक देने का निमंत्रण-पत्र आयेगा, तभी खोलना अपनी आँखों से! लाओ, ये रचनाएँ!"

"वाह! क्या ठाट हैं आपके! नहीं देते हम!"

"मत दो!" कहा शर्मिला ने, और उसके हाथ से कागज छीन भाग खड़ी हुई।

शर्मिला चली गई, परन्तु सन्दीप के मस्तिष्क में क्रान्ति मचा गई। 'ठीक तो है,' उसने सोचा था—'या तो वह प्रभा के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करे, नहीं तो उसे स्वाधीन कर दे।

'शर्मिला का कथन मिथ्या नहीं। यह ठीक है कि उसे विश्वास है कि प्रभा उसे धोखा नहीं देगी, किन्तु प्रभा एकनिष्ठ है। इसलिए क्या इतना भारी दण्ड पाने की अधिकारिणी है वह! चुपके से उसकी राह से दूर हो गई वह, उसके कहते ही, तो क्या उसे उसके जीवन से मनमाना खिलवाड़ करने का अधिकार प्राप्त हो गया है?

'यदि उन दोनों के आदर्श मेल नहीं खाते, तो क्या उसका यह कर्तव्य नहीं कि उसे मुक्त कर दे? ठीक है, आज ही वह प्रभा को पत्र लिखेगा।'

किन्तु जब लिखने बैठा, तब सन्दीप ने देखा कि यह कार्य उतना सहज नहीं। हँसती, खिलखिलाती, गुनगुनाती प्रभा के नाना रूप उसकी आँखों के आगे नृत्य करने लगे। हारकर उसने कलम नीचे रख दी—आज न सही, कल सही, ऐसी जल्दी ही क्या है?

अगले दिन वह शर्मिला के घर पहुँचा, तो उसके पिता भी घर पर ही थे। उसे देखते ही बोले—"देखो बेटा, बुरा न मानो तो एक बात कहूँ?"

"कहिये न, चाचाजी।"

"देखो सन्दीप, मैंने तुम्हारी रचनाएँ ध्यानपूर्वक पढ़ी हैं। सब बातों पर विचार करके ही, मैं तुमसे यह बात कह रहा हूँ। देखो बेटा, देश में लाखों नेता होते हैं, किन्तु प्रत्येक गांधी या जवाहर तो नहीं बन पाता। यही बात तुम्हारे विषय में भी लागू होती है। कहानियाँ लिखने पर..."

सन्दीप के हृदय को ठेस पहुँची, धीरे से कहा—"ठीक है चाचाजी, प्रत्येक नेता गांधी-जवाहर नहीं बन सकता, किन्तु यह सोच क्या किसी को प्रयत्न नहीं करना चाहिये?"

"यह तो मैंने नहीं कहा सन्दीप, प्रयत्न करना और बात है और अपने को बिलकुल

ही भुला देना और। तुम्हारी इच्छा है तो प्रयत्न अवश्य करो। किन्तु साथ-ही-साथ कुछ और भी करो। जिस दिन तुम देखो कि तुम्हारी साधना तुम्हें एक क्षण का भी अवकाश नहीं लेने देना चाहती, उस दिन शौक से वह दूसरा काम छोड़ सकते हो। परन्तु तब तक कदापि नहीं।

"स्वर्गीय शरत्चन्द्र कितने बड़े लेखक थे। आज के इस युग में उन-सा लेखक है कोई और ? किन्तु उन्हें भी जीवन-यापन के लिए अपना देश छोड़ सुदूर बर्मा में नौकरी करनी पड़ी थी।"

सिर झुका सन्दीप न जाने क्या सोच रहा था। उसे चुप ही देख उन्होंने स्मित हास-भरे मुखड़े से पूछा—"अच्छा, सच-सच बताना आजकल कितना समय तुम अपनी साधना को देते हो, और कितना नष्ट करते हो ? उस अवकाश के समय में क्या तुम कुछ भी काम नहीं कर सकते ?"

सहसा सन्दीप मानो जाग उठा, बोला—"आपकी बात ठीक है, चाचाजी, वास्तव में ये बातें नहीं सोच सका था मैं। अवश्य ही और कोई काम खोजने का प्रयत्न करूँगा।"

उनका मुख खिल गया। बोले—"शर्मिला कुछ क्यों न कहे, किन्तु मैं जानता था कि तुम निर्बोध हठी नहीं हो ? मेरे मित्र की काफी बड़ी फर्म है, उन्हें एक इञ्जीनियर की आवश्यकता है। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम कल से ही अपना काम प्रारम्भ कर सकते हो।"

"जैसी आपकी आज्ञा।" सन्दीप ने स्वीकृति देते हुए कहा।

नौकरी मिल गई थी। सन्दीप ने आज मकान भी बदल लिया। वह बहुत प्रसन्न था। आज वह पहली बार दफ्तर गया था। जब घर लौटा तो उसका मन हो रहा था कि मुक्त कंठ से गा उठे।

उसे लग रहा था कि इतने दिन भटकने के बाद उसने सच्ची राह पा ली है। इस नौकरी से सबसे बड़ा लाभ, सबसे बड़ी सुविधा यह है कि अवकाश का समय काफी मिलेगा और उस समय में...

इधर कुछ दिन से भूली वे बातें आज फिर स्मरण हो आईं। शर्मिला ने सच ही तो कहा था।

हृदय पर पत्थर रख, प्रभा को पत्र लिखने बैठ गया वह आज। जिससे वह स्नेह करती है, उससे सहर्ष विवाह कर लेने की अनुमति देते हुए उसने अन्त में लिखा था कि वह कभी भी विवाह न करेगा। वैवाहिक जीवन की जो प्रिय स्मृति उसके अन्तस्थल में संचित है, किसी नवीन अनुभव के द्वारा वह उसे कटु नहीं बनाना चाहता। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि नौकरी करते हुए वह अपना शेष जीवन अपनी साधना में लीन रहकर ही बिता देना चाहता है।

आज बहुत दिन बाद उसे सुख की नींद आई। पत्र में उसने कुछ भी लिखा हो, किन्तु न जाने क्यों उसे विश्वास था कि वह पत्र पाते ही प्रभा आ जायेगी।

शायद इसीलिए उसने स्वप्न देखा कि प्रभा आ पहुँची है, और वह चौंककर उठ बैठा। रात अभी बीती नहीं थी। उसने घड़ी की ओर देखा, चार बजने वाले थे।

सहसा न जाने कैसी एक पुलक उसके मन में प्राणों को सिहरा गई। कलम उठा, वह झट लिखने बैठ गया।

बेसुध-सा वह लिखता रहा, लिखता रहा, कहानी समाप्त हो गई तो उसने दृष्टि उठाकर देखा, नौ बजने वाले थे। झटपट तैयार हो वह आफिस की ओर चल दिया।

दिन की यथार्थता में रात की खुमारी का नशा उतर चुका था। विगत रात्रि की अपनी भावनाओं पर वह स्वयं ही हँस पड़ा। 'नहीं, जीवन का वह अध्याय समाप्त हो चुका है, प्रभा किसी और के प्रेम-पाश में बँध चुकी है, अब कभी नहीं आयेगी वह, कभी न मिलेगी।'

लेटर बक्स में कहानी के संग ही संग वह पत्र डालते समय भी उसका गला भर-सा आया। मन-ही-मन उसने कहा, 'विदा प्रभा, अन्तिम विदा!'

कहानी भली है या बुरी, यह सोचे बिना ही सन्दीप ने उसे डाक में डाल दिया था और यंत्रवत् उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था। साथ ही किसी और पत्र की भी।

सात-आठ दिन बीत गये, जिस पत्र की वह आकुल हृदय से शाम-सवेरे प्रतीक्षा करता था, वह न आया, न आया।

सन्दीप ने सच ही आशा छोड़ दी। ठीक है, यही उसके योग्य दण्ड है। उसके पचासों पत्रों की अवहेलना की है, वह यदि उसके इस शुष्क विदा-पत्र का उत्तर न देना चाहे, तो दोष सन्दीप का ही है।

क्यों वह अपने अतीत से चिपटा रहना चाहता है? जिस अभिमानिनी के कारण उसे यह सतत प्रयत्न करने का सुयोग मिला, उसके प्रति सन्दीप को कृतज्ञ होना चाहिये। यदि किसी दिन उसे सफलता मिली तो उसका श्रेय निश्चय ही उस महिमाशालिनी को ही होगा, तो क्या इस ममता-शीला के प्रति अपने मन में रोक रखेगा वह!

नहीं, उसके जीवन में जिसका इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, उस पावन प्रतिमा को अपने हृदय के उच्चासन पर प्रतिष्ठित कर वह उसकी उपासना किया करेगा। उसके विषय में अनुचित विचार मन में ला, उसकी पावन स्मृति को कलुषित नहीं करेगा वह।

विचारों में मग्न सन्दीप चला आ रहा था, कि घर में प्रविष्ट होते ही अवाक रह गया—

प्रभा वहाँ ऐसी निश्चिंत हो बैठी थी, मानो सदा से वहीं रहती आई हो।

उसे देखते ही वह उठ खड़ी हुई, सहज स्वर में बोली—"आ गये। चलो, मुँह-हाथ धो लो झटपट। चाय तैयार है।" मानो यह उसका नित्यकर्म है, कहीं कुछ व्यतिक्रम नहीं हुआ। मानो तीन वर्ष बाद नहीं, आज वे कुछ घड़ियों, कुछ घण्टों के

विछोह के बाद ही मिले हों।

एकदम सन्दीप उसकी ओर बढ़ा, किन्तु जैसे कुछ स्मरण हो गया हो, ऐसे बीच में ही रुक गया। कंठ में अटकते गोले को सटकने का व्यर्थ-सा प्रयास करते हुए कहा उसने—"अकेली ही आई हो, प्रभा?"

प्रभा हँसी—"क्यों? क्या तुम्हारी समझ में अकेले आने में डर लगता है मुझे?"

"अकेले सफर करने में नहीं, किन्तु अकेले मेरे पास आने में?"

प्रभा गम्भीर हो उठी, कहा—"हाँ, यह तो सच है, अकेले तुम्हारे पास आने में मुझे वास्तव में भय लग रहा था, सन्दीप?"

सन्दीप काँप उठा। जो सन्देह था, वह वास्तव में ही सच है। प्रभा वास्तव में ही किसी और की बनने का संकल्प कर चुकी है। मन में रोष अधिक था या पश्चात्ताप, यह वह समझ न सका, पूछा—"एकाएक चली कैसे आई?"

उसके बदलते हुए भाव पर प्रभा का ध्यान गया। उसके अधरों पर हँसी उमड़ने लगी। कहा—"तुम्हारा पत्र मिला। सहसा समझ नहीं सकी कि तुम्हारा दिमाग खराब है या मेरा। पत्र द्वारा इस बात का निर्णय न हो सकता था, इसलिए स्वयं ही चली आई।"

वेदना से सन्दीप का मुख काला पड़ गया था। व्यथित स्वर में कहा—"दिमाग मेरा ही खराब है, प्रभा, तभी तो..."

"महान् पुरुषों की विनम्रता के विषय में अनेक बातें सुनी हैं, किन्तु ऐसी विनम्रता-जैसी देखी नहीं, जनता जिसका नाम सुनते ही झूम उठे, विश्व जिसकी प्रशंसा में विभोर हो, स्वयं को भूल जाये, उसका दिमाग भी कभी खराब हो सकता है क्या?"

सन्दीप ने तड़पकर कहा—"मेरा नशा तो उतर चुका है, प्रभा, इन व्यंग्य बाणों की वर्षा कर मेरे टूटे हृदय को और छलनी न बनाओ।"

प्रभा के धैर्य का बाँध टूट गया, एकाएक वह उसके समीप खिंच आई। उसके दोनों हाथ पकड़ मृदु स्वर में कहा—"व्यंग्य क्यों बकेगी, सन्दीप, सारा संसार जो कह रहा है आज। वह क्या मुझे कहने का अधिकार नहीं?"

सन्दीप की भुजाएँ फड़क उठीं। उसके अधर काँप उठे। उसका मन हो रहा था कि उसके सुकोमल व्यक्तित्व को अपने आकर्षण में बाँध ले, किन्तु वह धीरे से पीछे हट गया।

स्वर को यथासम्भव संयत करने का प्रयास करते हुए कहा—"बहुत दिन बाद मिली हो आज, इसलिए क्या तीन वर्ष का संचित रोष पल-भर में ही उड़ेलकर निष्कृति पा जाना चाहती हो?"

भाव-विभोर प्रभा ने शायद उसकी बात सुनी ही नहीं थी। वह उसी तरह कहती रही—"देखते ही सहसा अपनी आँखों पर विश्वास हुआ था, ये ढेर सारे प्रशंसा-पत्र? कहानी-संग्रह प्रकाशित कराने के ये सम्पादकीय आग्रह? देखकर मेरा माथा

अतुल ने अपना दुपट्टा बधू के कन्धे पर डाल दिया, और बाहर की ओर जाने लगा।

भय-त्रस्त हो सरस्वती पुकार उठी—"हैं, हैं, क्या करता है, अतुल! लौट-लौट। पीछे लौट।"

परन्तु अतुल ने तो मानो सुना ही नहीं था। उसके लड़खड़ाते-से डग आगे बढ़ते ही जा रहे थे।

एकत्रित नारी-समूह में कानाफूसी होने लगी। घूँघट के अन्दर वधू के विस्मय-विस्फारित नयनों में उत्कण्ठा झलक उठी। व्याकुल हो सरस्वती चीख-पुकार मचा रही थी—"अतुल, अतुल! कहाँ जा रहा है? अतुल, लौट आ, लौट आ!"

अतुल न रुका, न रुका। भीड़ को चीर शुभा बाहर निकल पड़ी। धीर पगों से आगे बढ़, वह उसके सन्मुख जा खड़ी हुई। कहा—"यह क्या पागलपन है? कहाँ जा रहे हो?"

उसकी प्रशान्त गम्भीर वाणी, शीतल जल के छींटों के समान, अतुल के तन-मन पर शान्ति बिखरा गई। सिर उठा, उसने मुसकराने का व्यर्थ-सा प्रयास किया। कहा—"क्यों! वधू लाने का काम मुझे सौंपा गया था, वह तो पूरा हो गया न? अब मुझे विश्राम दो।"

शुभा ने कहा—"द्वार पर ही इस प्रकार वधू को छोड़कर चल देना अपशकुन है। चलो, उसके साथ अन्दर तक चलना होगा।"

धीमे स्वर में, जिससे कि और कोई सुन न सके, अतुल ने कहा—"ये अपशकुन क्या जीवन-पर्यन्त मेरा पीछा न छोड़ेंगे, शुभा? किसी अन्धविश्वास के कारण, मेरा तुम्हारा साथ छूटा। इसी···"

सरस्वती ने समझा कि शुभा की बात सुन वह कुछ नरम पड़ा है। मीठे स्वर में कहा—"अतुल, कैसा राजा बेटा है मेरा। आ, जल्दी आ, मुझे देर हो रही है।"

अतुल लौट आया। किन्तु संशय का विष, नववधू के अन्तर को झकझोर चुका था।

दिन बीता। रात हुई। रेखा ने प्रथम सम्बोधन सुना अतुल के मुख से, तो मान कर चुप बैठी रही। बोली नहीं। अतुल ने भी फिर कुछ नहीं कहा। रेखा पड़ी रोती रही, रोती रही। सबेरा हुआ, तो अतुल की ओर देखे बिना ही, चटपट बाहर निकल गई।

शुभा ने देखा, वधू की लाल-लाल आँखें और प्रपीड़ित, व्यथित मुखड़ा। वह मन-ही-मन सब-कुछ समझ गई। उसके अन्तर में रोष हिलोरें लेने लगा। उसकी समझ में नहीं आया कि वह करे क्या!

—कायर! कपटी! एक नारी का जीवन व्यर्थ कर, एक और को सताने के लिए कमर कसे बैठा था वह!—उसके नयनों से ज्वाला फूट पड़ी—इसका प्रतिकार करना ही होगा, किन्तु कैसे!

गर्मी के दिन थे। दोपहर का समय। भोजन के उपरान्त, जिसे जहाँ जगह मिली, पड़कर सो गया। शुभा धीरे-धीरे अतुल के कक्ष की ओर बढ़ गई। उसका सोचना ठीक ही निकला, अतुल का वहाँ पता न था। अकेली बैठी रेखा किसी पुस्तक के पन्ने उलट रही थी।

अन्दर आ शुभा ने द्वार की चटखनी चढ़ा दी। चौंककर रेखा उठ खड़ी हुई। मधुर मुसकान बिखेर, मीठे स्वर में शुभा ने कहा—"कौन-सी पुस्तक पढ़ी जा रही है, अकेले-अकेले?"

रेखा ने कुछ लजाकर हाथ की पुस्तक आगे बढ़ा दी। उसे एक ओर डाल शुभा पलंग पर जा बैठी, और उसे अपने निकट खींचते हुए बोली—"सुबह से बैठी हो। आओ, थोड़ी देर सो जाओ।"

वधू की पलकें उठीं और गिरीं। मृदु कोमल स्वर में बोली—"नींद नहीं आती।"

शुभा ने धीरे से उसके गाल पर हलकी-सी एक चपत जड़ दी। कहा—"रात-भर जागकर भी, दिन में नींद नहीं आती? बड़ी अद्भुत नींद है तुम्हारी!"

रेखा के गाल गुलाबी हो उठे। शुभा मुसकरा उठी, परन्तु दूसरे ही क्षण गम्भीर हो गई। कहा—"नींद नहीं आती, तो न सही। आओ लेटो, तुम्हें एक कहानी सुनाऊँ।"

वधू के अधरों पर मुसकान खेल गई। आदेश मान वह चुपके से पड़ रही।

शुभा ने कहानी प्रारम्भ की, कहा—"एक थी रानी। उसके एक ही बेटा था। बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, रानी को अपने उस बेटे से। सदा चिंतित रहा करती थीं वह उसके लिए। उनकी बस एक ही धारणा थी, कि उनके पूजा-पाठ, दान-धर्म और तावीजों के बल पर ही उनकी वह संतान जीवित है। पर रानी का अभाग्य कि सब तरह से योग्य होकर भी, वह बेटा अयोग्य सिद्ध हो गया।"

वधू को हँसी आ गई। बोली—"यह कैसे सम्भव है, दीदी?"

शुभा भी हँसी। कहा—"इस कलियुग में सब-कुछ सम्भव है, बहन। वह राजा का बेटा, ब्राह्मण की संतान; एक दीन-दरिद्र कायस्थ-कन्या से अनुराग लगा बैठा। क्या यह उसकी अयोग्यता का, उसकी बुद्धिहीनता का सबसे बड़ा प्रमाण नहीं?"

रेखा ने पैनी दृष्टि से उसे ताका। पूछा—"तुम्हारी दृष्टि में भी, दीदी?"

"मेरी बात जाने दो। मैं तो रानी और उसके समाज की बात कह रही हूँ। हाँ तो, रानी को जब पता लगा इस बात का, तो रानी रोष से फूल उठी। पर रोष में होश खो बैठने वाली नारी वह न थी। उसने सूझ-बूझ से काम लिया। उस अभागिन किशोरी की कुण्डली से राजपुत्र की कुण्डली मेल न खा सकी। एक वेतन-भोगी, महाविद्वान् पण्डित ने, राजकुमार के सामने यह सिद्ध कर दिया, कि यदि उस कन्या से उसने विवाह कर लिया, तो उसकी मृत्यु निश्चित है।"

रेखा विस्मित हो उठी। कहा—"और उस सुशिक्षित ज्ञानी राजकुमार ने उस अशिक्षित, अज्ञानी पण्डित की बात का विश्वास कर लिया?"

शुभा ने व्यंग्यपूर्वक कहा—"करता कैसे नहीं! अपशकुनों की ओट, माँ के

आँचल से ढँके-ढँके, तंत्र-तावीजों के सहारे ही तो, उसने जीवन के वे छब्बीस वर्ष पूरे किये थे। धर्म के जादू की वह उपेक्षा न कर सका, अपशकुन की बात वह अमान्य न कर सका, और एक राजा की बेटी को अपनी रानी बना लाया।"

रेखा का मुख रोष से फूल उठा। कहा—"बस, बस! रहने दो अपनी कहानी!"

"वाह, रहने कैसे दूँ! असली कहानी तो अब शुरू होती है। यह तो केवल भूमिका-मात्र थी। क्योंकि राजकुमार था कायर, प्रेयसी को समक्ष देख, वह अपने कर्तव्य को भूल गया।"

"बस, रहने दो!" उसके मुख पर अपनी कोमल हथेली रख रेखा बोल उठी—"मुझे तुम्हारे राजकुमार से घृणा होती है।"

शुभा उठ बैठी। कहा—"यही भूल तो की थी उस अबोध राजपुत्री ने। जिसका परिणाम हुआ यह कि दोनों के दिल, दिन-दिन दूर होते चले गये। मैं होती यदि उस निर्बोध के स्थान पर, तो छल-बल-यौवन, प्रत्येक कौशल का उपयोग कर, तीन-तीन प्राणियों के जीवन विनष्ट होने से बचा लेती।"

शुभा उठ खड़ी हुई। परन्तु रेखा ने उसका आँचल पकड़ लिया। बोली—"क्यों, क्या राजवधू का यह कर्तव्य नहीं कि अपने प्रति सबके हृदय में इतनी उत्कट घृणा उत्पन्न करा दे कि राजकुमार उसे छोड़, अपनी परित्यक्ता प्रेयसी से विवाह कर सके फिर से?"

"नहीं, नहीं! कदापि नहीं! ऐसी बात कभी सपने में भी मत सोचना। उस राजवधू से यदि सब घृणा करने भी लगें, तो अधिक-से-अधिक होगा यह, कि और किसी सरल राजकुमारी को उसके पल्ले बाँध दिया जायेगा।" शुभा ने कहा, और आँचल छुड़ा भाग खड़ी हुई।

अपनी बात सब कह गई, और उसकी एक भी नहीं सुनी, यह अत्याचार नहीं तो क्या है—रेखा तकिए में मुख गड़ा फूट-फूटकर रो पड़ी—जो पुरुष मन-ही-मन किसी अन्य नारी के स्नेह में डूबा है; जिसका हृदय किसी और के ध्यान में अनुरक्त है; जिसके अधर किसी और देह का स्पर्श पाने के लिए फड़कते हैं; जिसकी भुजाएँ किसी और को हृदय में समेट लेने के स्वप्न देखती हैं; वह पुरुष उसके लिए पर-पुरुष है। नहीं, पर-पुरुष से भी बढ़कर है। अनुराग-भरे हृदय से, कैसे वह अपना कौमार्य उसे समर्पित कर सकेगी? कैसे वह अपने सपनों में उसे भर सकेगी? जिसके मन को अपना नहीं बना सकी, केवल भाँवरें पड़ जाने से ही, उसे कैसे पति-रूप में स्वीकार कर सकेगी वह?

और शुभा? अपने जीवन को, अपने प्राण को, अपने दोनों हाथों से किसी और को समर्पित कर, एक ओर हट तो गई, पर उसकी मनोव्यथा को किनारा नहीं मिला। कैसे, क्या करने से, उसे वह मनोबल प्राप्त हो सकेगा, जिससे कि वह अपनी इस दुर्गम जीवन-यात्रा को सफल बना सकेगी।

विवाह ? नहीं। एक ही पुरुष का परिचय पर्याप्त है। अपने दूषित मन को लेकर, वह कैसे किसी प्रणयी के सम्मुख खड़ी हो सकेगी। तब फिर केवल एक ही राह शेष है—नौकरी।

हाँ, नौकरी ! नौकरी भी ऐसी जिसमें दिन-दिन न रहे, रात-रात न रहे। जिसमें दिन-रात, चौबीस घण्टे लगे रहना पड़े। एक स्थान पर टिककर न रहा जा सके। ऐसी ही कोई नौकरी खोज पा सके वह; तो शायद उसका जीवन, किसी प्रकार कट सके।

कोई कुछ ध्येय लेकर चले, मन में अपने गूढ़ विश्वास रखे, अपने लक्ष्य के प्रति दृढ़ आशा रखे; तो कैसे हो सकता है कि उसकी चाह पूर्ण न हो। शुभा का भाग्य जागा, रेलवे में वह लेडी टिकट-चेकर बन गई।

पुत्र और पुत्र-वधू के रंग-ढंग, वृद्धा माँ की अनुभवी आँखों से छिप न सके थे। उस दिन अतुल को बुला, निकट बैठा, उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा—"अतुल बेटा, अब तो मेरी बस केवल एक ही अभिलाषा शेष है, मरने से पहले पोते का मुख देख लूँ, देख जाऊँ अपनी इन आँखों, कि तेरे पिता, पितामह का वंश कैसे फल-फूल रहा है।"

अतुल के मन में विद्रोह जाग उठा, किन्तु क्रोध सँभाल, मृदु स्वर में बोला—"अभी विवाह हुए दिन ही कितने हुए हैं माँ, यदि अभी से वंश फलना-फूलना प्रारम्भ हो गया, तो···"

सरस्वती ने झटपट बीच में ही टोकते हुए कहा—"छिः ! छिः ! कोई अशुभ बात मुख से न निकाल बैठना, अतुल, आजकल तो जमाना ही ऐसा है, कि शादी हुई नहीं, और पटापट बच्चे होने लगे। एक वह जमाना था हमारा, कि शादी के दस-दस साल बाद बच्चे होते थे।"

"वही जमाना अच्छा था, माँ, तब लोगों को भर-पेट खाने को मिलता था, देश में दूध-घी की नदियाँ बहती थीं, नगर-नगर में···"

यह सरस्वती का प्रिय विषय था। इस विषय पर बातें छिड़ते ही, वह कभी बोलने थकती नहीं थी। किन्तु आज उसे कुछ और ही धुन लगी थी। उसने वे शब्द शायद सुने ही नहीं। अपनी ही धुन में कहती रही—"तभी, तो उस दिन ज्योतिषीजी की बात सुन, मैं खूब हँसी थी। कहने लगे वह—'माँजी, बहू क्या है, बस साक्षात् लक्ष्मी है। ऐसी शुभ घड़ी में उसने घर में पैर रखा है, कि घर में धन की बरखा होने लगेगी, और साल बीतते-न बीतते, पौत्र का मुख देखेंगी आप !'"

ज्योतिषी का नाम सुन, अतुल अपने मन में उमड़ते भावों को छिपा न सका था। उसकी बदलती मुख-मुद्रा की ओर सरस्वती का ध्यान गया था, किन्तु मानो कुछ हुआ ही न हो, इसी भाव से वह कहती रही—"हमारे ज्योतिषीजी की बात तो ब्रह्म-वाक्य होती है, बेटा ! मैंने कहा—'ज्योतिषीजी, तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर ! तुम्हारी बात मानकर ही तो मैं इस लड़की को घर में लाई हूँ, नहीं तो क्या कसर रह गई थी उस लच्छिनी के यहाँ दखल जमा लेने में !'"

अतुल ने क्रुद्ध होकर कहा—"तुम किसकी बात कह रही हो, माँ ?"

किन्तु माँ इस संकेत की ओर फटकीं तक नहीं। अतुल को रुष्ट करना उन्हें अत्यन्त अप्रिय था, किन्तु यदि उसे रुष्ट करके ही अभीष्ट सिद्ध हो सकता था आज, तो आज यही सही। उन्होंने अपनी बातों का तार न तोड़ा। कहा—"अरे, उसी सत्यानाशिन शुभा की बात कही मैंने, और किसकी कहूँगी, बेटा ! जनमते ही माँ को खा गई। कुछ ही दिन बाद बाप चल बसा। चाचा के घर आई, तो उसकी गाय को लील गई···"

"माँ !" अपने दोनों कानों में उँगली डाल, अतुल ने चीखकर कहा—"जो भी तुम कहोगी, मैं वही करूँगा, माँ। पर तुम व्यर्थ में किसी की बुराई मत करो।"

चातक क्या चाहे, केवल स्वाति की बूँद ! सन्तोषपूर्वक मुसकराकर सरस्वती चुप हो रही।

द्वार की ओट से रेखा ने माँ-पुत्र का संवाद सुना था। शुभा की बात जब-तब उसके कानों से आ टकराया करती थी। रात में बड़ी देर तक जाग-जागकर, वह पति का मुख निहारती ही रह जाया करती थी।

अर्ध-रात्रि की निबिड़-निस्तब्धता में, अनेक बार उसने मोहानिष्ठ हो सोचा था—'क्या रखा है इस व्यर्थ की भावुकता में ! क्यों नहीं वह अपने पति का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास कर ले ? कामदेव के समान सुन्दर उसके व्यक्तित्व को जीत ले। वह शिव नहीं, कि उमा के अतिरिक्त और किसी की ओर आँख उठाकर देखेगा भी नहीं··'

आज फिर रात आई। नित्य की तरह, वह किसी पुस्तक के पन्ने उलट रही थी, कि अतुल आया और अपनी शैया पर मुख ढककर लेट रहा।

रेखा ने पुस्तक उठाकर रख दी। लिहाफ उलट दिया और मधुर स्वर में पूछा—"आप मुझसे नाराज क्यों रहते हैं ?"

जिसने कभी उसकी ओर दृष्टि-निक्षेप तक नहीं किया था, उसी के मुख से इतना बड़ा अभियोग ! अतुल अकचका गया, हड़बड़ाकर बोल उठा—"नाराज ? नहीं तो !"

मृदु वीणा-विनिन्दित स्वर में कहा रेखा ने—"तब फिर आप मुझसे कुछ बात क्यों नहीं करते ?"

अतुल कुछ कह सके, इससे पूर्व ही वह उसके पैरों के निकट आ बैठी। बोली—"अपने कालिज-जीवन की कुछ बातें सुनाइये न आप मुझे। मैं आपको अपनी सहेलियों की बातें सुनाऊँगी।"

उसकी अनर्गल वाक्-धारा का एक भी शब्द अतुल के कानों में न पड़ा, मुग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखते, वह केवल यही सोच रहा था कि वह तो दिन-भर काम में फँसे रहकर, मित्रों से हँस-बोलकर किसी-न-किसी तरह अपना दिन काट ही देता है। किन्तु यह सरल, अबोध, निर्दोष किशोरी, दिन-रात अकेली रहकर कैसे दिन

काटती है अपने ! नहीं, अकेले नहीं, माँ की संगति में, जिसका न होना, होने से कहीं अधिक अच्छा है ।'

एकाएक रेखा रुक गई । बोली—"क्या सोच रहे हैं आप ?"

"सोच रहा हूँ ? वाह, तुम्हारी बात तो सुन रहा था !"

"क्या सुन रहे थे भला ?"

"यही कि, वह''यानी कि अर्थात् अभी जो कुछ कह रही थीं तुम ।"

रेखा खिलखिलाकर हँस पड़ी । उसकी वह हँसी किसी प्रकार भी रुकते न देख, अतुल स्वयं भी हँस पड़ा, कहा—"बताऊँ सच-सच क्या सोच रहा था मैं ?"

"बताइये न ?"

"मैं सोच रहा था, कि तुम माँ से क्या बातें करती होगी दिन-भर ।"

"माँ से ? बड़ी मजेदार बातें । किसी की बहू की प्रशंसा, किसी की बहू की निन्दा, किसी की बेटी के फैशन पर ताने, किसी के बेटे के चाल-चलन पर व्यंग्य, किसी ज्योतिषी की स्तुति, किसी सती-साध्वी के सर्वनाश की कामना ।"

एकाएक अतुल का मुख काला पड़ गया । उसने तत्क्षण करवट बदल ली । रेखा ने धीरे से उसके पैरों पर हाथ रख दिये अपने । कहा—"बुरा मान गये क्या ? किन्तु मैं नहीं चाहती कि मेरे और आपके बीच किसी बात का पर्दा रहे । कोई अदृश्य रेखा हम लोगों के बीच खिंची रहे । यदि जानते होते कि शुभा-दीदी मुझसे इतना स्नेह करती थीं, तो शायद मेरे मुँह से उनके प्रति संकेत करते ये शब्द सुन, आप यूँ रुष्ट न हो गये होते ।"

वेदना-विमथित वाणी में कहा अतुल ने—"अब सो जाओ, रेखा, बहुत देर हो गई आज ।"

बत्ती बन्द कर रेखा अपने पलंग पर आ लेटी । उसके मन में तुमुल-द्वन्द्व मच रहा था—'क्या वह बहुत आगे बढ़ गई ? इतने अल्प-परिचय में, इस प्रथम वार्ता में ही क्या उसे ये बातें नहीं कहनी चाहिए थीं ?'

एकाएक न जाने क्या हुआ । उसके हृदय में असीम विषाद उमड़ पड़ा । प्राणपण से उस रुदन के वेग को रोकने का प्रयत्न करते हुए भी वह फूट-फूटकर रो उठी ।

दबी हुई सिसकियाँ अतुल के कानों में पड़ीं । करवट बदल, हाथ बढ़ा, धीरे से उसके आँसू पोंछ दिये उसने । कहा—"रोओ मत, रेखा । रोने से मन में कायरता पनपने लगती है । हम कायर नहीं बनेंगे, रेखा ?"

धीरे-धीरे वह उफान शान्त हो गया । अतुल ने अपना हाथ वापस खींच लिया । कहा—"शुभा को तुम कैसे जानती हो, रेखा ?"

न जाने क्यों उस निबिड़ अन्धकार में शुभा का नाम लेना इतना कठिन नहीं लगा उसे । तीक्ष्ण आलोक के प्रकाश में जो बातें कहने में रेखा को संकोच होता, अन्धकार के उस आवरण में, वह भी सहज रूप में ही कह गई । बोली—"इस घर में

मेरा पैर पड़ते ही, उन्होंने स्वयं ही अपना परिचय दे, मैत्री स्थापित कर ली थी मुझसे और उस दिन दोपहर को उन्होंने मुझे एक कहानी भी सुनाई थी। एक हठी रानी, उसके इकलौते बेटे और एक अभागिनी बालिका की कहानी सुनकर मैंने कहा था—'उस राज-वधू का यही कर्तव्य है कि अपने प्रति सबके हृदय में, इतनी उत्कट घृणा उत्पन्न करा दे, कि राजकुमार उसे छोड़, अपनी परित्यक्ता प्रेयसी से विवाह कर सके फिर से।"

अतुल बोला, तो उसके करुण कंठ-स्वर में छिपे हुए रुदन का आभास था। पूछा—"तब ?"

"सुनकर दीदी रुष्ट हो उठीं। कहा उन्होंने—'नहीं, नहीं, कदापि नहीं। ऐसी बात सपने में भी मत सोचना। उस राजवधू से यदि सब घृणा करने भी लगें, तो अधिक-से-अधिक होगा यह, कि और किसी अबोध को उस राजपुत्र के पल्ले बाँध दिया जायेगा।"

अतुल ने गहरी साँस भरकर कहा—"उसने ठीक ही कहा था, रेखा ! कोई शिशु यदि चाहे कि गगन में झूमते चाँद को अपने अंक में भर ले, तो उसे निराश ही तो होना पड़ेगा। और वह ? वह चाँद से भी अधिक उज्ज्वल है, उससे भी अधिक शुभ्र। क्योंकि उसके उज्ज्वल मानस में, किसी भी कलंक की कोई कालिमा नहीं।"

शान्त-गम्भीर स्वर में, मधुरतापूर्वक कहा रेखा ने—"यदि यह सच है, कि तुम्हारे मन में उनके लिए इतनी भक्ति है, तो अपने मानस-मन्दिर में उस देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठित कर लो। पुजारी भक्ति-भाव से अपनी आराध्या की प्रेमपूर्वक पूजा करता है, किन्तु उसके प्रति वासना-रूपी विचार मन में सँजो, उसकी धवल-देह को कलंकित नहीं करता वह।"

रेखा चुप हो रही। अतुल ने भी फिर कुछ नहीं कहा। रेखा सो गई, किन्तु अतुल न सो सका। वह सोच रहा था—'क्या वासना और प्रेम दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं; या एक ही ? वासना, प्रेम और गृहस्थ का कर्तव्य, क्या इन तीनों का समन्वय हो सकता है ? ये तीनों एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न रूप हैं, या तीन अलग-अलग बातें ? कर्त्तव्य ? कैसा है वह कर्तव्य जिसके लिए आदि-काल से दो प्राणियों को एक सूत्र में बाँधा जाता रहा है ! कर्तव्य—जिसकी पूर्णता के लिए, भगवान् ने मानव के हृदय में प्रेम और वासना का सृजन किया है !

* * *

अतुल का ट्रांसफर हो गया। नई जगह घर मिला नहीं। इसलिए उसे अकेले ही जाना पड़ा। रेखा अकेली रह गयी, फिर भी वह अकेली नहीं थी। कुछ दिन बाद ही जो शिशु आकर उसकी गोद भर देगा, उसी की कल्पनाओं में, उसी के आने की तैयारियों में वह विभोर रहती।

सुदूर प्रवास में बैठे अतुल को, रेखा से विलग होने पर लगा, कि रेखा वास्तव में ही उसके जीवन का एक प्रमुख अंग बन चुकी है। रेखा के बिना उसका जीवन

दूभर हो उठा है। कब वे मिले, और कब अपने घर की उस स्वामिनी को अपने पास ले आ सके, इसी चिंता में व्याकुल था वह, कि उसे माँ का तार मिला।

तार देखते ही उसके तन-मन में हर्ष की लहरें लहरा गईं। धड़कते हृदय से उसने लिफाफा खोला। किन्तु तार पढ़ते ही वह सन्न रह गया। उसे मूर्च्छा-सी आने लगी, उसके हाथ-पैर की शक्ति न जाने कहाँ लोप हो गई।

रेखा की मृत्यु हो गई, और शिशु मरणासन्न है—उसके मस्तिष्क में भीषण बवंडर घहराने लगा। किसी प्रकार बैग में दो-चार चीजें ठूँस अपने शरीर को एक ताँगे में लुढ़का, वह स्टेशन की ओर चल पड़ा। उसके नेत्रों के समक्ष सैकड़ों, नन्हे-नन्हे बाल-मुखड़े तैर रहे थे। उसके कानों में रेखा की मधुर हँसी गूँज रही थी। पिछली उन भूली-भटकी स्मृतियों के आलोड़न से वह काँप-काँप उठता था।

भूला-सा वह स्टेशन पहुँचा। देखा कि ट्रेन छूटने ही वाली है। टिकट ले वह प्लेटफार्म पर पहुँचा, तब तक ट्रेन ने सीटी दे दी थी। एक खिड़की के अन्दर बैग फेंक उसने भागते-भागते, दौड़ते डिब्बे का हैंडिल पकड़ा, और पायदान पर पैर रखा। सहसा न जाने क्या हुआ। उसका हाथ फिसल गया। वह नीचे जा गिरा। धड़धड़ाती हुई ट्रेन उसे एक धक्का देती हुई गुजर गई।

ट्रेन चली गई। पन्द्रह मिनट बाद दुर्घटना का पता चला। स्टेशन पर हलचल मच गई। घायल के जेब में उसका पर्स था। पर्स में उसके नाम का कार्ड। पल-भर में ही वह नाम सैकड़ों जीभों द्वारा उच्चरित हो उठा।

प्लेटफार्म नं० ३ पर दूसरी ट्रेन छूटने को तैयार खड़ी थी। उसमें थी शुभा। उसने भी सुना। सब-कुछ भूल, पागलों के समान दौड़ी चली आई वह वहाँ।

उफ ! क्या इसी दिन के लिए, यही देखने के लिए, उसने नौकरी की थी रेलवे में ! जिसकी कभी कल्पना तक नहीं की थी, वही वीभत्स दृश्य था, उसके नयनों के सामने। वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी, किन्तु तुरन्त ही सँभलकर उठ बैठी ! घायल में अभी साँस थी। उसे तुरन्त अस्पताल ले जाने का प्रबन्ध करना परमावश्यक था।

रुग्ण-पौत्र को पड़ोसियों की दया पर छोड़, सरस्वती वहाँ आई तो पुत्र की दशा देख पागल-सी हो उठी। दीवार पर सिर पटक-पटककर वह सिर फोड़े डाल रही थी अपना कि दो हाथों ने उसे सँभाल लिया।

उसने घूमकर देखा—भाग्य की उसने सदा पूजा की थी। सदा उससे डर-डर कर चली थी। और भाग्य ने सदा उसकी हँसी उड़ाई थी। पति को छीन लिया था उस निर्मम भाग्य ने। उसी के कारण उसकी पुत्र-वधू चल बसी थी, और पुत्र इस दूर विदेश में अन्तिम साँसें गिन रहा था।

वह आज अनाथ थी। निराश्रया थी। विश्व में अपना कहने योग्य यदि कोई था, तो केवल एक दुःखिनी, अनाथ, प्रपीड़ित बालिका, जिसका उसने अभागिन कहकर सदा तिरस्कार किया था।

करोगी, जी ?"

चाची मुख से कुछ न कहतीं, किन्तु उनके मन का भाव छिपा न रहता।

भाइयों के संग प्रायः उनके मित्र घर आते। उसे प्रतीत होता मानो सारा घर चीख-चीखकर कह रहा है—"अजी, कोई लड़का तो पसन्द कर लो! किसी एक लड़के को तो चुन लो!"

और अतुल का बेटा, वह नन्हा-सा शिशु, टुकर-टुकर उसकी ओर देखता तो उसे लगता, मानो वे आँखें, अतुल की ही आँखें हैं। मानो वे अधीर हो उससे पूछ रही हैं—'तो क्या तुम मुझे भूल गईं, शुभे? क्या तुम सच ही दूसरा प्रेमी चुन लोगी? विवाह कर लोगी?'

हारकर शुभा ने पुनः अखबारों के कॉलम चाटने प्रारम्भ कर दिये थे।

जिस दिन उसने चाची से जाकर कहा था कि उसे एक सम्भ्रान्त घराने में 'गवर्नेस' का काम मिल गया है, उस दिन घर-भर में तहलका मच गया था।

चाचा क्रुद्ध हो गरजने लगे थे। भाइयों ने उससे नाता तोड़ लेने की धमकियाँ देना प्रारम्भ कर दिया था। चाची ने रो-रो आँखें सुजा ली थीं।

चाची के आँसू, चाचा का क्रोध और भाइयों के रोष को ठुकरा वह इस नई नौकरी पर आ पहुँची थी, जहाँ सौभाग्य से ऐसे मालिक मिले थे, जो उसे आत्मियों से भी अधिक प्यार करते थे।

प्रकाश को अपनी कचहरी से और राजनैतिक गुत्थियों से छुट्टी नहीं मिलती थी। सिन्धु को 'सोशल वर्क' से अवकाश न मिल पाता था। घर में रहते थे, केवल नौकर-चाकर, दोनों बच्चे, वह स्वयं और···और तिलक।

लौट-घूमकर विचार पुनः तिलक पर आ उलझते तो शुभा खीझ उठती। पुस्तक बन्द कर, चादर सिर तक तान सोने का प्रयत्न करती। नींद न आती तो तकिये में मुख गड़ा रोने लगती।

* * *

रो रही थी वह। उस रुदन का मानो अन्त नहीं था, कि किसी ने जबरन पकड़कर उसे सीधा कर दिया। आँसुओं से धुँधली उसकी दृष्टि ने देखा, एक सुन्दर मुखड़ा, स्नेह-सिंचित-सी उसकी वह दृष्टि, कुछ कहती-सी वे भुजायें।

दूसरे ही क्षण उसका सिर तिलक की गोद में था, और तिलक का मुख उसके मुख पर झुकता चला आ रहा था। वह कुछ समझ सके, इससे पूर्व ही वह बन्धन में घिर चुकी थी। पल-भर को वह तड़फड़ाई, फड़फड़ाई। अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा, उसने उस प्रबल आकर्षण का विरोध करना चाहा। फिर वह शान्त हो गई, निश्चेष्ट—मानो उसके उस शरीर में प्राण न हों, मस्तिष्क में चेतना न हो।

एक बार जल में गोता लगाना ही कठिन है। हाथ-पैर मारकर मनुष्य तैरना सीख जाता है, तो उसका भय दूर हो जाता है।

शुभा की दुविधा, भय, संशय भी धीरे-धीरे दूर हो चले। उसे प्रतीत होने लगा

मानो जिसे वह अब तक प्रेम समझती आ रही थी, वह वास्तविक प्रेम नहीं था। वह था केवल एक किशोरी का, एक किशोर के प्रति सहज, स्वाभाविक आकर्षण।

व्यर्थ ही वह इतने दिन मोह में भूली रही।

तिलक की बातें सुन-सुन शुभा की पूर्व-निर्णीत सब धारणायें गड़बड़ा गईं—विवाह से पहले प्रेम करना अनुचित है, अब तक वह यही मानती आई थी, किन्तु अब उसका वह विश्वास डोल गया।

तिलक से अतुल के विषय में उसने कभी कुछ नहीं कहा किन्तु मन-ही-मन सोचा करती थी कि वास्तव में वह धारणा कितनी मिथ्या थी। लाज-संकोच छोड़, यदि उसने वास्तव में अतुल से प्रेम किया होता, तो उसे कदापि साहस नहीं हो सकता था इस प्रकार उसे ठुकरा, किसी और को विवाह लाने का।

दो-तीन दिन तिलक दिखाई नहीं दिया, तो एक दिन भोजन करते समय वह पूछ ही बैठी, "आजकल तिलकजी दिखाई नहीं देते?"

सिन्धु हँसी, "दिखाई कहाँ से देगा! वह गया है अपनी ससुराल।"

* * *

शुभा के मुख का ग्रास विषैला हो उठा। किसी प्रकार जल के सहारे उसे कण्ठ से नीचे उतार वह बोल उठी, "कहाँ?"

सिन्धु ने विस्मय से उसकी ओर देखा, "क्या तुम्हें मालूम नहीं? उसकी पत्नी नीलिमा इस साल पी-एच० डी० कर रही है। यहाँ बच्चों के घर में पढ़ाई हो नहीं पाती थी, इसी से वह अपनी माँ के घर गई हुई है।"

शुभा को चक्कर-सा आ गया। पानी का गिलास उसके हाथ से छूट गया। मेज का कोना पकड़ते-पकड़ते वह मूर्च्छित हो नीचे आ गिरी।

न जाने कितनी देर बाद शुभा की चेतना लौटी।

उसने आँखें खोलीं तो देखा कि सिन्धु का व्याकुल मुख उसके ऊपर झुका हुआ है। उसे आँखें खोलते देख सिन्धु ने व्याकुल स्वर में पूछा, "क्या हुआ, बहन?"

"कुछ नहीं, जरा चक्कर आ गया था।" शुभा ने कहा और उठ बैठी।

* * *

अतीत निरानन्द था, वर्तमान अनिश्चित, और भविष्य अन्धकारमय। सोच-सोचकर भी किनारा नहीं सूझा शुभा को तो सप्ताह-भर की छुट्टी ले वह घर चली गई। लौटी तो अपने साथ लेती आई अतुल के पुत्र सुबोध का एक फोटो।

उसके शयन-कक्ष में वह फोटो टँगा देख, एक दिन सिन्धु ने पूछा, "यह किसका चित्र है, शुभा?"

शुभा ने मुख दूसरी ओर मोड़ते हुए कहा, "मेरे···मेरे बेटे का।"

सिन्धु ने हाथ बढ़ा, चिबुक पकड़, उसका मुख अपनी ओर घुमा लिया स्नेहपूर्वक कहा, "तो इसमें लजाने की क्या बात है, पगली!"

शुभा का सिर और भी नीचे को झुक गया।

सिन्धु ने कुछ हँसकर कहा, "तू माँ बनी बैठी है, और मैं सोचा करती थी कि तू अभी कुमारी ही है। यह है इस आधुनिक फैशन का परिणाम ! न माँग में सिन्दूर है, न माथे पर बिन्दिया। किसी को पता चले तो कैसे ! पता होता तो ढेर-सारे खिलौने देती इस नटखट के लिये। इस बार घर जाये तो उसे साथ ले आना।"

सिन्धु चली गई, तो तकिये में मुख गड़ाकर शुभा फूट-फूटकर रो दी—हाँ माँ बनी बैठी है वह ! यह है इस आधुनिक सभ्यता का परिणाम ! मनमानी करने का अभिशाप !

नित्य सोचा करती शुभा—'तिलक लौटेगा, तब कैसी-कैसी खरी-खोटी वह सुनायेगी उसे। किस प्रकार उसे विवश कर देगी कि अपनी उस नीलिमा को तलाक दे, वह उससे विवाह कर ले। अनेक बार वह रूठा है, और शुभा ने उसे मनाया है। इस बार वह रूठ जायेगी और विवश हो तिलक को उसे मनाने आना ही पड़ेगा। उस निठुर को उसकी मनोवांछा पूरी करनी ही पड़ेगी।

किन्तु तिलक न लौटा।

न उसका कुछ समाचार ही मिला।

मिलता भी कैसे ! स्वामिनी से कुछ पूछ सके, इतना साहस नहीं था शुभा के कातर मन में।

पल युग बन गये और दिन काल। छः महीने मानो छः नवीन नरक बन अतीत में बिखर गये और तब अचानक एक दिन तिलक पत्नी-सहित आ उपस्थित हुआ।

घर में धूम मच गई। सिन्धु ने आनन्द के आवेग में धरती-आकाश एक कर डाला। बच्चों की किलकारियों से घर का कोना-कोना गूँज उठा। और हर्ष-आवेग की उन मचलती आँधियों के बीच नवागता का सलज्ज सलोना मुखड़ा देख शुभा का समस्त विद्रोह गलकर बह गया। उसके कानों में अतुल की माँ का तीखा स्वर गूँज उठा—"अरे ! वह तो जनम की अभागिन है। जनमते ही माँ को खा गई। कुछ दिन बाद ही बाप को निगल लिया। चाचा के घर आई, तो···"

दोनों हाथों में अपना मुख छिपा, शुभा अपने कक्ष में भाग आई। बन्द द्वार की सन्धि में से लहराते आते उस हर्ष-संगीत को भुलाने के लिए उसने अपने दोनों कानों में अंगुलियाँ ठूँस लीं।

अब वह अधिकतर अकेली ही रहती। नववधू नीलिमा को नौकरों को सिर पर चढ़ाना पसन्द न था। तिलक बहुत दिन से उपेक्षित अपने व्यापार को सँभालने में खोया रहता। बबली दिन-भर नई चाची के राग में रँगी रहती। बड़ी कठिनाई से जबरन पकड़-पकड़कर लाना पड़ता उसे, भोजन खिलाने या सुलाने के लिये।

मन में एक विरक्ति का-सा भाव छा गया था। लगता था जब तिलक को ही उसकी परवाह नहीं, तब वही क्यों जाये उसके पास ! स्वयं प्रयत्न कर उससे बात करने का अवसर भला वह स्वयं ही क्यों खोजे ?

भगवान् ने उसे नारी बनाया है। उसके शरीर में एक अरक्षणीय दुर्बलता भर दी है—क्या केवल इसी कारण उसे याचक बन पुरुष के पास जाना होगा उससे आश्रय की भीख माँगनी होगी ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं !

*　　　*　　　*

शुभा बैठी बब्बू की कापी जाँच रही थी कि तिलक निकट आ खड़ा हुआ। कहा, "बधाई।"

शुभा ने अपनी दृष्टि कापी में गड़ा दी। पूछा, "कैसी बधाई !"

तिलक ने कौतूहलपूर्वक कहा, "और तुमने मुझे कभी बताया भी नहीं, संकेत से भी नहीं, कि तुम विवाहिता हो ?"

मन के रोष को मन में ही दबा, शुभा ने संयत स्वर में कहा, "मुझे कुमारी समझते हुए भी, तुमने स्वयं विवाहित होकर मेरे साथ जो व्यवहार किया, क्या वह उचित था ?"

तिलक सिटपिटा गया, परन्तु क्षण-भर को ही। दूसरे ही पल, सँभलकर बोला, "तो तुम्हें मालूम नहीं था कि मेरा विवाह हो चुका है ? मैं तो समझता था कि भाभी ने तुम्हें बता दिया होगा।"

"दगाबाज !" शुभा ने मन-ही-मन दाँत पीसते हुए कहा।

उसे चुप देख तिलक ने शरारतभरे स्वर में कहा, "अपने पतिदेव से कब मिलाओगी मुझे ?"

"जब तुम चाहो।" शुभा रोषपूर्वक बोली।

"यदि मैं कहूँ अभी ?"

"तो उस दर्पण में अपनी छवि देख लो।"

तिलक के मुख पर से शरारत विलीन हो गई।

हतबुद्धि के समान पल-भर उस झुके मुख की ओर देख, वह आतंक-मिश्रित स्वर में बोल उठा, "यह झूठ है, शुभा।"

शुभा ने दृष्टि ऊपर उठाई। कहा, "यह सच है, तिलक।"

उस प्रखर दृष्टि का तेज तिलक सहन न कर सका। चुपके से कमरे के बाहर निकल गया।

भयाकुल भाव से घर-बाहर घूम किसी प्रकार भी उसके मन को शान्ति नहीं मिली। तीन-चार दिन बाद ही वह बगिया में अकेली बैठी शुभा के निकट जा बैठा।

विनीत स्वर में कहा, "मेरी उस तनिक-सी भूल का इतना भारी दण्ड मुझे न दो, शुभा। कह दो, यह झूठ है।"

तनिक-सी भूल—शुभा का सर्वांग काँप उठा, पर उसने पुस्तक पर से दृष्टि न उठाई।

"शुभा !"

मलिन मुसकान-भरे मुख से शुभा बोली, "मेरे कुछ कहने या न कहने से क्या

सिन्धु ने कुछ हँसकर कहा, "तू माँ बनी बैठी है, और मैं सोचा करती थी कि तू अभी कुमारी ही है। यह है इस आधुनिक फैशन का परिणाम ! न माँग में सिन्दूर है, न माथे पर बिन्दिया। किसी को पता चले तो कैसे ! पता होता तो ढेर-सारे खिलौने देती इस नटखट के लिये। इस बार घर जाये तो उसे साथ ले आना।"

सिन्धु चली गई, तो तकिये में मुख गड़ाकर शुभा फूट-फूटकर रो दी—हाँ ! माँ बनी बैठी है वह ! यह है इस आधुनिक सभ्यता का परिणाम ! मनमानी करने का अभिशाप !

नित्य सोचा करती शुभा—'तिलक लौटेगा, तब कैसी-कैसी खरी-खोटी वह सुनायेगी उसे। किस प्रकार उसे विवश कर देगी कि अपनी उस नीलिमा को तलाक दे, वह उससे विवाह कर ले। अनेक बार वह रूठा है, और शुभा ने उसे मनाया है। इस बार वह रूठ जायेगी और विवश हो तिलक को उसे मनाने आना ही पड़ेगा। उस निठुर को उसकी मनोवांछा पूरी करनी ही पड़ेगी।

किन्तु तिलक न लौटा।

न उसका कुछ समाचार ही मिला।

मिलता भी कैसे ! स्वामिनी से कुछ पूछ सके, इतना साहस नहीं था शुभा के कातर मन में।

पल युग बन गये और दिन काल। छः महीने मानो छः नवीन नरक बन अतीत में बिखर गये और तब अचानक एक दिन तिलक पत्नी-सहित आ उपस्थित हुआ।

घर में धूम मच गई। सिन्धु ने आनन्द के आवेग में धरती-आकाश एक कर डाला। बच्चों की किलकारियों से घर का कोना-कोना गूँज उठा। और हर्ष-आवेग की उन मचलती आँधियों के बीच नवागता का सलज्ज सलोना मुखड़ा देख शुभा का समस्त विद्रोह गलकर बह गया। उसके कानों में अतुल की माँ का तीखा स्वर गूँज उठा—"अरे ! वह तो जनम की अभागिन है। जनमते ही माँ को खा गई। कुछ दिन बाद ही बाप को निगल लिया। चाचा के घर आई, तो···"

दोनों हाथों में अपना मुख छिपा, शुभा अपने कक्ष में भाग आई। बन्द द्वार की सन्धि में से लहराते आते उस हर्ष-संगीत को भुलाने के लिए उसने अपने दोनों कानों में अंगुलियाँ ठूँस लीं।

अब वह अधिकतर अकेली ही रहती। नववधू नीलिमा को नौकरों को सिर पर चढ़ाना पसन्द न था। तिलक बहुत दिन से उपेक्षित अपने व्यापार को सँभालने में खोया रहता। बबली दिन-भर नई चाची के राग में रँगी रहती। बड़ी कठिनाई से जबरन पकड़-पकड़कर लाना पड़ता उसे, भोजन खिलाने या सुलाने के लिये।

मन में एक विरक्ति का-सा भाव छा गया था। लगता था जब तिलक को ही उसकी परवाह नहीं, तब वही क्यों जाये उसके पास ! स्वयं प्रयत्न कर उससे बात करने का अवसर भला वह स्वयं ही क्यों खोजे !

भगवान् ने उसे नारी बनाया है। उसके शरीर में एक अरक्षणीय दुर्बलता भर दी है—क्या केवल इसी कारण उसे याचक बन पुरुष के पास जाना होगा? उससे आश्रय की भीख माँगनी होगी? नहीं, नहीं, कदापि नहीं!

* * *

शुभा बैठी बब्बू की कापी जाँच रही थी कि तिलक निकट आ खड़ा हुआ। कहा, "बधाई।"

शुभा ने अपनी दृष्टि कापी में गड़ा दी। पूछा, "कैसी बधाई?"

तिलक ने कौतूहलपूर्वक कहा, "और तुमने मुझे कभी बताया भी नहीं, संकेत से भी नहीं, कि तुम विवाहिता हो?"

मन के रोष को मन में ही दबा, शुभा ने संयत स्वर में कहा, "मुझे कुमारी समझते हुए भी, तुमने स्वयं विवाहित होकर मेरे साथ जो व्यवहार किया, क्या वह उचित था?"

तिलक सिटपिटा गया, परन्तु क्षण-भर को ही। दूसरे ही पल, सँभलकर बोला, "तो तुम्हें मालूम नहीं था कि मेरा विवाह हो चुका है? मैं तो समझता था कि भाभी ने तुम्हें बता दिया होगा।"

"दगाबाज!" शुभा ने मन-ही-मन दाँत पीसते हुए कहा।

उसे चुप देख तिलक ने शरारतभरे स्वर में कहा, "अपने पतिदेव से कब मिलाओगी मुझे?"

"जब तुम चाहो।" शुभा रोषपूर्वक बोली।

"यदि मैं कहूँ अभी?"

"तो उस दर्पण में अपनी छवि देख लो।"

तिलक के मुख पर से शरारत विलीन हो गई।

हतबुद्धि के समान पल-भर उस झुके मुख की ओर देख, वह आतंक-मिश्रित स्वर में बोल उठा, "यह झूठ है, शुभा।"

शुभा ने दृष्टि ऊपर उठाई। कहा, "यह सच है, तिलक।"

उस प्रखर दृष्टि का तेज तिलक सहन न कर सका। चुपके से कमरे के बाहर निकल गया।

भयाकुल भाव से घर-बाहर घूम किसी प्रकार भी उसके मन को शान्ति नहीं मिली। तीन-चार दिन बाद ही वह बगिया में अकेली बैठी शुभा के निकट जा बैठा।

विनीत स्वर में कहा, "मेरी उस तनिक-सी भूल का इतना भारी दण्ड मुझे न दो, शुभा। कह दो, यह झूठ है।"

तनिक-सी भूल—शुभा का सर्वांग काँप उठा, पर उसने पुस्तक पर से दृष्टि न उठाई।

"शुभा!"

मलिन मुसकान-भरे मुख से शुभा बोली, "मेरे कुछ कहने या न कहने से क्या

होता है, तिलक ! यदि यह सोचने से तुम्हारे मन को शान्ति मिल सके, तो तुम ऐसा ही समझ लो कि यह झूठ ही है।"

पल-भर तिलक ने उसे निहारा। हताश भाव से कहा, "तब यह सच है ?"

शुभा ने पुनः अपना सिर झुका लिया।

तिलक अपना रोष न सँभाल सका। तीखे स्वर में कहा, "तब तुमने कुछ उपाय क्यों नहीं किया ? क्यों दिन-रात इस भूल को फलने-फूलने दिया ?"

शुभा के विस्मय का पार न रहा, "उपाय ! उपाय मैं कर ही क्या सकती थी ?"

"क्यों ! सैकड़ों दवा आती हैं आजकल। किसी भी सस्ती पत्रिका के पन्ने पलटकर देख लेती।"

आतंक से शुभा सिहर उठी। घृणा से भरकर बोली, "तिलक, तुम जाओ यहाँ से !"

तिलक क्रोध से पागल हो उठा—"तुम यह न समझना कि इस तरह मैं तुम्हारे वश में हो जाऊँगा। तुम्हारी कमजोरी के कारण अपना मान-सम्मान और भविष्य मिट्टी में मिल जाने दूँगा।"

अचरजभरी दृष्टि उठा, शुभा ने तिलक की ओर देखा। सहसा सत्य उसके नयनों आगे मूर्तिमान हो उठा—तिलक उसके भविष्य, उसके शिशु के भविष्य के लिए व्याकुल नहीं था ! वह अपने भविष्य, अपनी मान-प्रतिष्ठा की चिन्ता में ही पागल हो उठा था।

शिला-सम घृणा-भार तले दब शुभा तड़फड़ा उठी। कठोर स्वर में बोली, "कुछ भी क्यों न हो जाये, किन्तु पुरुष को आँच न आये—यही है न तुम्हारे समाज का चिर-अटल नियम ? वही होगा। तुम चिन्ता न करो। तुम्हारी मान-प्रतिष्ठा धूल में न लोटने पायेगी।"

"इसका अर्थ ?"

"थोड़ी-सी भी बुद्धि होती, तो इसका अर्थ तुम सहज ही समझ जाते। यदि मेरी बात पर विश्वास कर सको तो कर लेना—दुनिया इधर से उधर क्यों न हो जाये, पर तुम्हारा भेद मैं कभी नहीं खोलूँगी।" शुभा ने दृढ़ स्वर में कहा और उठकर चल दी।

रोष के प्रथम पल बीत गये तो घृणा, तिरस्कार और अपमान की भावनाएँ शुभा के मन में पनप उठीं। प्रतिकार की भावना मानस में हिलोरें खाने लगीं। उसने सैकड़ों युक्तियाँ सोच डालीं, परन्तु बदला लेने का कोई भी उपाय उसे न सूझा।

अपने को श्रेष्ठ समझने वाली उस अभिमानिनि नारी से, उसके नारीत्व को कुचल डालने वाले उस पुरुष से बदला लेना ही होगा—परन्तु कैसे ?

* * *

एक ही अस्पताल में, एक ही लेडी डॉक्टर के हाथ से, दो दिन के आगे-पीछे

दो शिशु इस धरती पर आ रोये। संग-ही-संग वे दोनों प्रकाश की हवेली में लौट आये।

उस दिन सिन्धु ने उल्लासपूरित स्वर में कहा, "आज से तुम दो नहीं, चार शिशुओं की संरक्षिका हो गई हो, शुभा, इसलिये मैंने तुम्हारा वेतन भी दूना कर दिया है।"

तब प्रथम बार दृष्टि घुमाकर, शुभा ने समीप पड़े उन दो बालकों की ओर निहारा और सहसा प्रतिकार का उपाय उसे सूझ गया। मन की प्रफुल्लता अधरों पर फूट पड़ी। उस हर्ष-युक्त मुसकान का मनमाना अर्थ लगा, सिन्धु सन्तुष्ट हो चली गई।

और शुभा मन-ही-मन सोच रही थी कि अपनी योजना को शीघ्र ही कार्यान्वित करना होगा। देर होने पर शिशु पहचाने जा सकते हैं।

सन्ध्या को सिनेमा जाने का प्रोग्राम बना।

जब से नीलिमा आई थी, कहीं बाहर जाते समय शुभा से नहीं पूछा जाता था। पहले इस बात ने शुभा को कष्ट पहुँचाया था, परन्तु आज इसी कारण उसे अपूर्व हर्ष हुआ। उसने गृह-स्वामिनी से कहा कि पिक्चर हाउस पहुँचकर वे मोटर लौटा दें, क्योंकि वह मन्दिर जाना चाहती है।

आज मन्दिर जाने का एक विशेष कारण था।

कल अवसर पाकर जब उसने बालकों का स्थान बदलने के लिए अपने शिशु को गोद में उठाया था तो उसके हाथ काँप उठे थे।

तब उसने मन-ही-मन सोचा था—'नहीं, यह ठीक नहीं। यह सच है कि मैं कुछ अन्याय नहीं कर रही हूँ। बालकों का पिता तो एक ही है, मैं केवल उनकी माँ की गोद ही बदल रही हूँ। परन्तु बालक सदा पाँच जनों की साक्षी में ही गोद लिये जाते हैं। मुझे यदि इतनी सुविधा नहीं तो मैं भगवान को साक्षी बनाकर ही बालक गोद लूँगी। प्रभु की विधिवत् पूजा कर, उनकी अनुमति लेकर ही, इस महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिये हाथ बढ़ाऊँगी।'

मोटर के लौटते ही शुभा उसमें जा बैठी।

मन्दिर तक पहुँचने में अधिक देर न लगी। हाथों में पूजा की थाली सँभाले, शान्त गम्भीर भाव से सीढ़ियाँ चढ़, वह ऊपर जा पहुँची।

किन्तु वह द्वार पर ही ठिठककर खड़ी हो रही।

प्रभु की मूर्त्ति के सम्मुख एक तेरह-चौदह वर्ष का किशोर बालक, घुटने टेके बैठा था। उसके नेत्र बन्द थे। कपोलों पर अश्रुधारा बह रही थी। अधर फड़क रहे थे और हाथ जुड़े हुए थे।

उस नन्हे से भक्त की तन्मयता को देख, अभिभूत हो, वह ठगी-सी खड़ी-की-खड़ी रह गई।

न जाने कितनी देर वे अश्रु ढुलकते रहे। वे अधर फड़कते रहे। वह विभोर-सी खड़ी रही।

एकाएक वह अनजाने ही बोल उठी—"शिशु, लाल!"

बालक चौंक गया।

उसने नेत्र खोल राधा-कृष्ण की उस युगल-मूर्त्ति की ओर निहारा। झपटकर वह माँ राधा के चरणों में जा गिरा।

अश्रुसिंचित, भक्तिपूरित वाणी में बोल उठा, "माँ, माँ! क्या तुमने मुझे पुकारा था, माँ? क्या मेरी इच्छा पूरी होगी? बोलो माँ, कह दो न!"

अपने भोले-भाले नयन ऊपर उठा, मूर्त्ति को निहारते बालक साँस रोककर बैठ रहा। उस एक पल में शुभा की अश्रुपूरित दृष्टि को भी प्रतीत हुआ कि राधा-कृष्ण की वह मूर्त्ति मुसकरा उठी है।

भूमिष्ठ हो जगत्माता के चरणों में प्रणाम कर बालक उठ खड़ा हुआ।

एक ओर धरती पर पड़े दो कागज उठाकर वह चलने लगा तो मानो शुभा की चेतना लौटी। मृदु-स्नेह-सिंचित स्वर में बोली, "तुम्हें क्या दुःख है, तात?"

बालक ने उस मातृरूपिणी रमणी की ओर निहारा। समवेदना के दो बोल सुन उसके हृदय में दबा उच्छ्वास फूट पड़ा, "परसों हमारे स्कूल की चित्र-प्रदर्शनी का उद्घाटन होगा। सभी कहते थे—अवश्य अशोक को ही प्रथम पुरस्कार मिलेगा। परन्तु वह तीन दिन से बुखार में पड़ा है। डॉक्टर कहते हैं—शायद उसे टाइफाइड हो गया है। तब उसका चित्र कैसे पूरा होगा? कैसे प्रदर्शनी में टँगेगा?"

"देखूँ, कैसा चित्र है?" शुभा ने कहा।

बालक ने उसके हाथ में दो चित्र पकड़ा दिये। कहा, "यह चित्र मेरा है। यह मेरे मित्र अशोक का···"

शुभा ने देखा—वास्तव में वे चित्र अद्वितीय थे।

उन दोनों चित्रों को देखकर कोई कह नहीं सकता था कि इतने नन्हे-नन्हे बालकों ने उन्हें बनाया होगा।

उसका उत्साह बढ़ाने के लिए, शुभा उत्साहवर्धक स्वर में बोली, "परन्तु तुम भी तो बहुत सुन्दर चित्रकारी कर लेते हो। तुम्हीं इसे पूरा कर दो न। थोड़ा-सा काम ही तो शेष है। किसी को क्या पता चलेगा।"

बालक ने विस्मित हो उसकी ओर देखा, "परन्तु यह तो बेईमानी होगी!"

शुभा संकुचित हो उठी, "करीब-करीब पूरा तो हो ही गया है। जब वह बीमार है, असमर्थ है, तो उससे पूछकर पूरा कर देने में कुछ हानि तो है नहीं।"

बालक ने बिना किसी दुविधा के कहा, "नहीं, यह ठीक नहीं। मैं जानता हूँ कि मैं सहज में इस चित्र को पूरा कर सकता हूँ। पर मेरे द्वारा बनाये जाने पर, यह सच्चे अर्थों में पूरा न हो सकेगा। तब इस चित्र में वह बात न आ सकेगी, जो उसके द्वारा बनाने पर आयेगी। आप ही बोलिये, चित्र बनाते समय उसके मन में जो भाव उठे होंगे, जो कल्पनाएँ उदित हुई होंगी, उन्हें मैं कहाँ से पाऊँगा?"

उस सरल शिशु के सहज ज्ञान पर शुभा विस्मित हो उठी। धीरे से कहा, "तुम ठीक कहते हो, शिशु। भगवान तुम्हारी पुकार अवश्य ही सुनेंगे। तुम देखना, कल तक तुम्हारा मित्र अवश्य ठीक हो जायेगा।"

बालक के मुख पर हर्ष जगमगा उठा।

दोनों हाथ जोड़ शुभा को प्रणाम करते हुए वह चटपट भाग खड़ा हुआ।

पूजा की थाली एक ओर पड़ी रह गई। भ्रान्त-सी शुभा राधा-कृष्ण की मूर्ति की ओर एकटक निहारती ही रह गई। उसका मन बार-बार उन्हीं शब्दों की आवृत्ति कर रहा था, "हाँ, चित्र तो पूरा हो जायेगा, किन्तु उसमें वे भावनायें, वे कल्पनायें तो अंकित न हो सकेंगी, जो उसके निर्माता के मानस में उदित हुई होंगी?"

उसका शिशु भी किसी दिन बड़ा हो जायेगा। किन्तु उसके मन में वे आदर्श तो न जाग सकेंगे, उसका वह चरित्र तो न गढ़ा जा सकेगा, जिसकी कल्पना में वह इधर पिछले दस महीनों से विभोर हो उठी थी।

एकाएक उसके नयनों में अश्रु छलछला आये। माँ-राधा के चरणों में लोट-लोटकर, वह फूट-फूटकर रो उठी। रो-रोकर कहने लगी, बार-बार—"तब क्या मैं गलत राह पर जा रही हूँ? क्या यही सच्चा मार्ग है? बोलो माँ, कह दो एक बार। मुझे सच्चा पथ दर्शा दो, माँ···"

सहसा उसके मन-प्राणों में शक्ति-सी भर आई। एक अपूर्व शान्ति से उसका अभ्यन्तर दीप्त हो उठा। उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसकी भक्ति भावना से विगलित हो, स्वयं मंगलमय प्रभु, बालक का वेष धर, उसे पथ दिखला गये हैं।

दृढ़ कदमों से सीढ़ियाँ उतर वह मोटर में जा बैठी।

उस रात सिनेमा से लौटने पर प्रकाश को पता चला कि उनके बच्चों की गवर्नेस नौकरी छोड़कर चली गई है।

जाते समय वह दे गई है—केवल एक पत्र।

विस्मिता सिन्धु ने पत्र खोलकर देखा।

सदा के लिए विदा लेते समय, केवल इतना ही लिख गई थी शुभा···

'भाभी मेरी,

जितना आदर, जितना स्नेह, मैंने तुम्हारे हाथों पाया, इतना कभी नहीं पाया था। फिर भी आज मैं अपने शिशु को लेकर, तुम्हारा सुखद-आश्रम छोड़कर जा रही हूँ। विदा की इस बेला में, मैं कारण नहीं बता सकूँगी। फिर भी इतना कह दूँ कि आज मैं एक महापाप करने जा रही थी, किन्तु एक बालक की निर्बोध सरलता ने मुझे बचा लिया, उबार लिया।

आशीर्वाद दो मुझे और मेरे नन्हे-से शिशु को, कि हम सत्य-पथ पर चल सकें, कि किसी दिन बड़ा होकर वह किसी योग्य बन सके—और मैं सहज भाव से

तुम्हारे सम्मुख आकर बता सकूँ, कि मैं क्यों भागी थी, किस प्रबल आकर्षण के भय से भागी थी।

तुम्हारी,
शुभा।'

बारी-बारी से सबने पढ़ा वह पत्र।

पढ़कर प्रकाश ने विस्मय से सबकी ओर निहारा।

सिन्धु के नयनों में विषाद के अश्रु छलक आये।

तिलक ने स्वस्ति की साँस भरी।

और नीलिमा ने अवज्ञापूर्वक उसके दो टुकड़े करते हुए, उसे दूर कोने में फेंक दिया।

५ | आत्महत्या

"मीठे-रसीले आम दसहरी, मीठे...रसीले...ए-ए..." सड़क पर से फल वाली की अनवरत पुकार सुनाई दे रही थी। लेने का मन न हो, तब भी मन कर आए—ऐसी ही मधुर आह्वान-भरी पुकार थी वह। सुमन्त बड़ी देर से इसे अनसुनी कर रहा था। परन्तु ठीक द्वार के सामने खड़ी हो, जब फल वाली ने पुनः वही गुहार मचाई, तो सुमन्त की उँगलियों ने उसे बुला ही लिया।

दो सेर आम ले वह अन्दर आया। आम टोकरी में रख दिए और कुर्ते की जेब में से पैसे निकालने लगा, परन्तु जेब खाली थी। उसने पुकारा—"चन्द्रा, मेरे कुर्ते की जेब में पाँच रुपए का नोट पड़ा था न।"

"तो पड़ा होगा उसी में।" अन्दर से ही उसका तीखा स्वर गूँज उठा।

"इसमें तो नहीं है।" सुमन्त ने फिर पुकारा।

"नहीं है, तो मैं क्या करूँ ?" और चन्द्रा दनदनाती हुई आ पहुँची। बोली—"चीज इधर-उधर रख देते हो, आफत आती है मेरी। इसी में होगा, जायेगा कहाँ ?"

उत्तर में सुमन्त ने दोनों जेबें उलट दीं।

"तो मुझे दिखा क्या रहे हो ? तुम्हीं ने रखे होंगे और कहीं !" वह तुनककर बोली।

"नहीं, मैंने तो इसी में रखे थे, मुझे अच्छी तरह याद है। कल की ही तो बात है। पाँच रुपए का कोयला लाया था और पाँच इसी में रख दिए थे।"

"तब कौन ले गया ? घर में नौकर-चाकर है नहीं। एक महरी है, सो वह इस कमरे में झाँकती तक नहीं। मैंने तो तुम्हारा कुर्त्ता छुआ भी नहीं। हाँ, यदि तुम्हारे लाड़ले ने चुरा लिए हों, तो मैं जानती नहीं।"

"क्या कह रही हो तुम ?"

"मेरी बात का तुम्हें विश्वास क्यों होने लगा भला ! मैं दूसरी माँ जो ठहरी ! बुलाकर पूछ न लो उससे। मेरी बात झूठ निकले, तो जो चोर की सजा, सो मेरी सजा।"

सुमन्त हतबुद्धि की तरह उसका मुँह ताकता ही रह गया। पाँच रुपए तो क्या, लड़के ने कभी पाँच पैसे भी बिना पूछे नहीं लिये थे। परन्तु चन्द्रा का तर्क भी तो असंगत नहीं लगता था। लेने वाला और था ही कौन ? हो सकता है उसे कोई

जरूरत पड़ गई हो और बताने या पूछने का अवसर न मिला हो। उसने स्वर ऊँचा कर पुकारा—"किशोर, जरा यहाँ तो आना।"

किशोर सामने आ खड़ा हुआ। भोला-भाला-सा तेरह वर्षीय सुकुमार, जिसके नयनों में अभी से प्रौढ़ता की गम्भीर छाप थी।

"तुमने इस कुर्ते में से रुपए लिए थे, बेटा?" मृदु प्यार-सहित सुमन्त ने पूछा।

"नहीं तो।" उसने कुछ चकित होकर कहा।

"तुमने नहीं लिये, तो किसने लिये?" चन्द्रा व्यंग्यपूर्वक बोली—"और कौन आता है इस कमरे में?"

कारण-अकारण विमाता के ताने और धमकियाँ सुनते-सुनते किशोर का कोमल हृदय छलनी हो चुका था। सिर झुकाकर सब-कुछ सुन लेना और कुछ उत्तर न देना, यही प्रण वह किये बैठा था। किन्तु चोरी का अपराध सिर पर मढ़े जाते देख वह बेतरह चिढ़ गया। एक टेढ़ा उत्तर दिये बिना वह न रह सका। बोला—"मुझे क्या मालूम? मैं क्या दिन-रात तुम्हारे कमरे का पहरा देता रहता हूँ?"

सुमन्त दंग रह गया। चन्द्रा रोष में भरकर चीख उठी—"जवाब देता है नालायक! ऐसे बेटे से तो बेटा न होना अच्छा! चोरी करता है और ऊपर से झूठ बोलता है! लाज नहीं आती तुझे जरा-जरा-सी बात पर झूठ बोलते?"

एक बार जबान खुल जाती है, तो उस पर दिमाग का नियन्त्रण ढीला पड़ जाता है। किशोर ने तनकर कहा—"देखा था तुमने मुझे चोरी करते? मेरे ही पिता से दिन-रात मेरी ही चुगली खाते और नित नये दोष मढ़ते तुम्हें कभी लाज नहीं आती, तो मुझे ही क्यों आने लगी? तुम्हारा ही तो बेटा हूँ न!"

"देख रहे हो! सुन रहे हो इसकी बात!" चन्द्रा के नयनों से टप्-टप् आँसू टपकने लगे।

"छिः किशोर, क्या माँ से बात करने का यह ढंग है?"

"बस, केवल यही?" रोना भूल चन्द्रा भिनभिना उठी—"और कोई बाप होता, तो ऐसी उच्छृंखलता पर बेटे की चमड़ी उधेड़कर रख देता। तभी तो इसका साहस बढ़ता जा रहा है। आज तो पाँच रुपए ही चुराये हैं, देखना कल घर का सारा सामान चुराकर बेच न खाये तो मेरा नाम नहीं।"

"देखो, किशोर!" सुमन्त ने समझाने के ढंग से कहा—"माता-पिता से पूछे बिना रुपए कदापि नहीं लेने चाहिएँ। चाहे कितना ही आवश्यक कार्य क्यों न हो। अच्छा, बता दो अब भी कि किसलिए लिये थे रुपये तुमने?"

किशोर तड़प उठा। बोला—"आप भी यही समझते हैं, डैडी? जब मैं कह रहा हूँ कि मैंने नहीं लिये···"

चन्द्रा ने मुँह बिराकर कहा—"ऐसा ही सच बोलने वाला है न जो डैडी झट से विश्वास कर लेंगे। कमीने का बेटा कमीनेपन की बातें नहीं करेगा, तो दिखेगा कैसे कि माँ कैसी सतवन्ती थी!"

दिवंगता माँ का यह अपमान ! कहाँ को बात कहाँ जा पहुँची ! उचित-अनुचित का ज्ञान जाता रहा। किशोर की आँखों में खून उतर आया। उसने तड़ से एक चाँटा विमाता के मुँह पर जड़ दिया।

चन्द्रा की आँखों में आँसू झलक आये। गाल पर हथेली रख वह फलवाली को पैसे देने चली गई।

अपनी आँखों के सामने पत्नी का यह अपमान ! अपरिमेय रोष से सुमन्त काँप उठा। उसका हाथ उठा और गिरा, उठा और गिरा। उसे होश नहीं था कि वह क्या कर रहा है और किशोर चुपचाप पिटता रहा। उसके मुँह से एक आह तक न निकली, एक उफ तक न तड़पी। सहसा सुमन्त का छोटा लड़का आकर उसकी टाँगों से लिपट गया—"क्या है, डैडी ! क्यों मार रहे हो भैया को ? डैडी···"

अबोध बालक का क्रन्दन सुन सहसा सुमन्त को होश आया। उसे गोद में उठा उसके नन्हे से वक्ष में अपना मुख छिपा वह तेजी से बाहर निकल गया।

सिर नीचा किये किशोर धीरे-धीरे अपने कमरे में लौट आया। उसका शरीर दुख रहा था, पर उसे पता न था। उसका हृदय जल रहा था, पर उसे होश न था। उसे याद आ रहे थे वे स्वर्णिम दिन, जब कि उसकी माँ इस धरती पर हँसती थी, गाती थी और वह मचल-मचलकर लोटता था। माँ दुलार कर-करके मनाती थी, पर आज कोई नहीं है ऐसा, जिसकी गोद में मुँह छिपा वह जी भरकर रो सके। तब रोने से क्या लाभ ?

* * *

भाग्यवान सुख-स्वर्ग में बसते हैं, कठोर वास्तविकता की यह निर्मम धरती है अभागों की। किसी का भाग्य अधिक खोटा है, किसी का कम। बस, केवल इतना ही तो। धरती पर राजा के पुत्र भी पलते हैं और दीन-अभागे, राह की धूलि में लोटने वाले अनाथ भी। सबकी सुधि लेने वाला वह ईश्वर तो एक ही है न। वही तो है जगत-नियन्ता, जगत-पिता, जड़-चेतन का विध्वंसक और निर्माता।

क्षणिक सुख-भोग की पूर्ति के लिए जो पुरुष उसके जन्म का कारण बना था, स्नेह की उस कड़ी के टूट जाने पर यदि वह आज अपनी उस भूल के लिए पश्चात्ताप करता है, तो क्या उसके लिए यह उचित है कि जोंक की तरह उससे चिपटा रहे ? मूक-बधिर-पंगु बन उसके घृणित आश्रय में जीवन के क्षण गँवाता रहे ? जब पत्थर में रहने वाला अदना कीड़ा भी अपनी उदर-पूर्ति के लिए साधन जुटा लेता है, तब दो हाथ और दो पैरों वाला स्वस्थ-सबल वह मानव की सन्तान क्या अपने जीवन का लक्ष्य स्वयं न खोज सकेगा ? किशोर का सम्पूर्ण शरीर थर-थर काँप रहा था। दोनों हथेलियों के बीच मुख छिपा वह तकिए में सिर गड़ाकर पड़ रहा।

और आत्म-ग्लानि से सुमन्त का हृदय फटा जा रहा था। आज उसने मातृहीन किशोर को मारा था। अपने शिशु को, अपने लाल को !! क्योंकि वह अपनी माँ का अपमान सहन नहीं कर सका था। सुमन्त का हृदय रो रहा था, पर उसकी आँखें

जल रही थीं ? उसका अन्तर्मन उसे बार-बार धिक्कार रहा था—'अपनी भावनाएँ तो भुला ही चुका था अभागे, उसकी भावनाओं का भी आदर न कर सका तू ! छिः ! मनुष्यता भुलाकर एकदम पशु बन बैठा तू ! जिस हाथ से मृत्यु-शैया पर पड़ी पत्नी की अलकें सँवारी थीं, जिस हाथ से उस अकाल काल-कवलिता का हाथ थाम वचन दिया था कि केवल पिता ही नहीं, उस अभागे शिशु की माँ भी बनकर रहेगा, आज उसी हाथ से अपने उस रक्त-बिन्दु के अन्तस्तल में अपने प्रति घोर घृणा भर दी ! माँ बनना तो दूर रहा, पिता का कर्तव्य भी पूरा न कर सका ! हाय अभागे ! क्या यह घृणा अब इस जन्म में दूर हो सकेगी ? क्या वह शिशु अब भी तेरा वही लाड़ला बेटा बना रह सकेगा ?'

"क्यों नहीं रह सकेगा ? पिता-पुत्र की ममता का बन्धन इतना कच्चा नहीं कि ऐसी आसानी से टूट जाय।" सुमन्त ने जोर से कहा। हृदय के उद्गार मुख से निकल पड़े, तो उसके टूटते हृदय को और बल मिला। उसने मन ही-मन सोचा कि वह पुत्र से क्षमा माँगेगा और भविष्य में उसे चन्द्रा से दूर ही रखेगा।

लड़का अब बड़ा हो गया है। जरा-जरा-सी वस्तु के लिए पैसे माँगने में उसे संकोच होता होगा। जहाँ से भी हो, जैसे भी हो, उसे कुछ जेब-खर्च अवश्य देना होगा। अब वह अबोध नहीं, समझदार है। घर की आर्थिक स्थिति उसे भली-भाँति अवगत है। वह कभी पैसे व्यर्थ नहीं फूँक सकता। फिर वह स्वयं भी इतना दरिद्र नहीं कि बच्चे की एक साध भी पूरी न कर सके। पत्नी के लिए साड़ी, लिपस्टिक, पाउडर आदि में न जाने कितने रुपये फुँक गये, किन्तु किशोर की एक भी बाल-इच्छा पूरी न हो सकी। एक कैमरा यदि खरीद ही लिया गया होता, तो कोई बड़ी भारी कमी न आ जाती। तर्क द्वारा पश्चात्ताप को पराजित कर सुमन्त मन-ही-मन उत्फुल्ल हो उठा। उस दिन कार्यवश वह बाजार न जा सका और इस कारण पुत्र को समक्ष बुलाने का साहस भी न कर सका।

* * *

अगले दिन दफ्तर से लौटते समय सुमन्त एक सुन्दर-सा कैमरा खरीद लाया। आज उसके पैरों में मानो पंख लग गये थे। पुलकित मन के आगे बार-बार एक मनोकल्पित दृश्य नाच उठता था। जब वह किशोर के हाथ में कैमरा देगा, तो उसके नेत्र एकदम चमक उठेंगे। वर्षों की अधूरी इच्छा पूरी होते देख उसका बाल-मुख कमल-सा खिल उठेगा। तब उसे अपने अंक में भर उसका मुख चूम लेगा और अपने अपराध के लिए क्षमा भी माँग लेगा। न-जाने कब से उसने पुत्र का चुम्बन नहीं किया। यह बात भी आज उसे याद आई। वह अधीर हो उठा। उन अरुणाभ कपोलों का स्पर्श पाने के लिए उसका वात्सल्य फड़क उठा।

घर की चौखट में पैर रखते ही उसने पुकारा—"किशोर ! अरे ओ किशोर !"

"किसे पुकार रहे हो !" चन्द्रा ने आकर कहा—"कल से उसका तो कहीं पता भी नहीं है। वह तो एकदम आवारा हो गया है।"

चलन है, वह मेरे घर में पैर नहीं रख सकता !"

सुमन्त ने फटी-फटी आँखों से उसकी ओर देखा, मानो उसे पहचानता ही न हो। फिर धीर-गम्भीर भाव से कहा—"घर जितना तुम्हारा है, उतना ही उसका भी है। रही आवारा होने की बात, सो वह अभी आवारा नहीं हुआ है। किन्तु यदि तुम्हारी सोहबत में रहा, तो निश्चय ही आवारा हो जायेगा।"

चन्द्रा की सारी देह में मानो आग लग गई। तड़पकर बोली—"अपनी बेजबान पत्नी को झूठ-मूठ कलंक लगाते तुम्हें लज्जा नहीं आई ? मुझे बदचलन कहने से पहले···"

"मेरी जबान कटकर क्यों नहीं गिर गई, यही न ?" सुमन्त ने हँसकर कहा—"महारानी, तुम्हारी जबान की मिठास से मैं भली-भाँति परिचित हो चुका हूँ। उसमें अब और अमृत घोलने का प्रयत्न मत करो। सुन लो कान खोलकर कि किशोर यहीं रहेगा, इसी घर में ! और जैसा व्यवहार तुम नन्हे के साथ करती हो, वैसा ही उसके साथ भी करना होगा; नहीं तो याद रखना, मैं तुम्हारे नन्हे को घर से निकालकर आवारा बना दूँगा।"

चन्द्रा ने तड़पकर अपने अन्तिम अस्त्र का प्रयोग किया। कहा—"यदि वह इस घर में आयेगा, तो मैं अपने नन्हे को मार, स्वयं आत्म-हत्या कर लूँगी !"

सुमन्त ठठाकर हँस पड़ा। कहा—"तुम्हारी आत्मा शेष है ही कहाँ, जिसकी अब हत्या करोगी ? उसकी तो तुम नित्य सौ-सौ बार हत्या किया करती थी, जब कि तुम दो अबोध बालकों में भेद किया करती थी; किसी की बाल-सुलभ चपलता पर प्रेम उमड़ने पर भी जब तुम अपनी आत्मा का गला घोंट, उसका निरादर कर दूसरे से स्नेह करती थीं। कुढ़-कुढ़कर आत्म-हत्या तो बहुत कर चुकीं, अब हँस-हँसकर जीना भी सीखो। आओ मिसरानी माँ, चलें।"

चलन है, वह मेरे घर में पैर नहीं रख सकता !"

सुमन्त ने फटी-फटी आँखों से उसकी ओर देखा, मानो उसे पहचानता ही न हो। फिर धीर-गम्भीर भाव से कहा—"घर जितना तुम्हारा है, उतना ही उसका भी है। रही आवारा होने की बात, सो वह अभी आवारा नहीं हुआ है। किन्तु यदि तुम्हारी सोहबत में रहा, तो निश्चय ही आवारा हो जायेगा।"

चन्द्रा की सारी देह में मानो आग लग गई। तड़पकर बोली—"अपनी बेजबान पत्नी को झूठ-मूठ कलंक लगाते तुम्हें लज्जा नहीं आई ? मुझे बदचलन कहने से पहले···"

"मेरी जबान कटकर क्यों नहीं गिर गई, यही न ?" सुमन्त ने हँसकर कहा—"महारानी, तुम्हारी जबान की मिठास से मैं भली-भाँति परिचित हो चुका हूँ। उसमें अब और अमृत घोलने का प्रयत्न मत करो। सुन लो कान खोलकर कि किशोर यहीं रहेगा, इसी घर में ! और जैसा व्यवहार तुम नन्हे के साथ करती हो, वैसा ही उसके साथ भी करना होगा; नहीं तो याद रखना, मैं तुम्हारे नन्हे को घर से निकालकर आवारा बना दूँगा।"

चन्द्रा ने तड़पकर अपने अन्तिम अस्त्र का प्रयोग किया। कहा—"यदि वह इस घर में आयेगा, तो मैं अपने नन्हे को मार, स्वयं आत्म-हत्या कर लूँगी !"

सुमन्त ठठाकर हँस पड़ा। कहा—"तुम्हारी आत्मा शेष है ही कहाँ, जिसकी अब हत्या करोगी ? उसकी तो तुम नित्य सौ-सौ बार हत्या किया करती थी, जब कि तुम दो अबोध बालकों में भेद किया करती थी; किसी की बाल-सुलभ चपलता पर प्रेम उमड़ने पर भी जब तुम अपनी आत्मा का गला घोंट, उसका निरादर कर दूसरे से स्नेह करती थीं। कुढ़-कुढ़कर आत्म-हत्या तो बहुत कर चुकीं, अब हँस-हँसकर जीना भी सीखो। आओ मिसरानी माँ, चलें।"

दूध में एक भाग पानी मिला उसने अपने लिये चाय बनाई। केक का एक बड़ा-सा टुकड़ा हाथ में ले, वह सड़प-सड़प कर चाय का आनन्द लेने लगा।

जब वह कमरे में लौटा, तब तक अधिकांश लोग चाय-पान कर चुके थे। बिखरे प्याले समेट, वह नल के नीचे डाल आया। पुनः अपने स्थान पर आकर लेटा ही था कि उसकी नाक बजने लगी।

कमरे में खेल पूर्ववत चलता रहा। भाग्य साथ बदलता रहा। मन का विषाद मन में छिपा, मुखड़े मुसकराने का प्रयास करते रहे। मन का उल्लास, मन में दबा, मुखड़े गम्भीर बनाने का यत्न करते रहे।

बाहर चौकीदार का घण्टा बज उठा—एक-दो।

श्रीमती वाजपेयी चौंक गईं—"अरे, दो बज गये। बस भई, मैं तो चलती हूँ। मेरा तो छोटा-सा बेबी है।"

"अरे, बैठिये भी।" अहमद साहब बोले—"आया तो होगी उसके पास!"

"जहाँ जरा देर हुई कि वह कमबख्त पड़कर सो जाती है। उस बेईमान का तनिक भी विश्वास नहीं।" वह बोलीं।

"हाँ भई, अब खतम ही करो।" मि० घोष भी बोले—"हमें भी सवेरे दौरे पर जाना है। जल्दी उठना होगा।"

वाजपेयी हँसे—"जल्दी यानी नौ बजे? अरे म्याँ, हम सब समझते हैं।"

सब हँस पड़े। खन्ना ने कहा—"बस, एक अन्तिम बाजी और हो जाये।"

श्रीमती वाजपेयी फिर बैठ गईं।

मित्तल हिसाब जोड़ रहे थे। बोले—"वाह मिसेज खन्ना, आज तो आपका सितारा खूब चमका। चौंसठ रुपये जीती हैं आप, चौंसठ!"

श्रीमती खन्ना को पता था कि वह जीत रही हैं। पर इतने कि न उन्हें आशा थी, न उन्होंने कल्पना ही की थी। गर्व से फूलकर बोलीं—"अरे, यह तो कुछ भी नहीं। हारा भी तो करती हूँ सौ-सौ रुपये।"

"और हम, हमारा क्या हाल है भई।" चार-छः व्यग्र आवाजें एक साथ उठीं।

"आज तो बाजी मेजबानों के ही हाथ रही।" मित्तल खन्ना साहब की पीठ पर हाथ मारते हुए बोले—"तुम दोनों ही भाग्यशाली हो दोस्त, तुम बावन रुपए जीते हो।"

खन्ना खिल गये।

श्रीमती खन्ना मन-ही-मन सोच रही थीं—चौंसठ और बावन, एक सौ सोलह, इतने में एक साड़ी तो आ ही जायेगी।

खन्ना अलग मन के लड्डू फोड़ रहे थे—"एक सौ सोलह, इतने में एक सूट तो बन ही जायेगा।"

श्रीमती माथुर बोल उठीं—"सन्ध्या को घर से निकली थी तो यह सोचा ही

नहीं था कि इतनी देर हो जायेगी । कोई शाल होगा, मिसेज खन्ना ?"

"अरे वाह, मिसेज माथुर ! क्या बातें करती हैं आप भी ! मेरे घर से दुशाला लपेटकर जायेंगी आप ? शेरसिंह ! जरा मेरा लाल कोट तो निकाल लाना आलमारी में से !"

चलने-चलाने के कोलाहल में शेरसिंह की नींद टूट गई थी—किसी तरह ये बलायें टलीं तो—वह मन-ही-मन सोच रहा था ।

"जी अच्छा !" उसने कहा, और तत्क्षण चल दिया ।

दूसरे ही क्षण उसकी हृदय-विदारक चीख की ध्वनि सुन, सभी के दिल दहल गये ।

इधर-उधर देख, खन्ना ने कार्निस पर रखी अपनी पिस्तौल हाथ में सँभाल ली । जो अतिथि बरामदे तक पहुँच गये थे, वे भयभीत हो लौट पड़े ।

पहरे पर बैठा सिपाही अपनी बंदूक सँभालते आ पहुँचा—"क्या बात है, साहब ? क्या हुआ, हुजूर ?" निस्तब्धता में उसकी वाणी गूँज उठी ।

और तभी बदहवास शेरसिंह दौड़ते हुए आ पहुँचा । आते ही चीखा—"गजब हो गया, हुजूर ।"

उसे सही-सलामत देख सबकी रूकी हुई साँस मानो लौट आई ।

"हुजूर के बच्चे !" खन्ना दहाड़े—"खड़ा-खड़ा काँप क्या रहा है ! कहता क्यों नहीं क्या हुआ ?"

"बॉक्स-रूम खाली पड़ा है, हुजूर ।"

"ऐं !"

"जी हाँ साहब, सब चोरी हो गया । कुछ भी नहीं बचा ।"

उपस्थित जनों को मानो पाला मार गया ।

आगे-आगे खन्ना चले । पीछे-पीछे और सब ।

बॉक्स-रूम सच ही सूना पड़ा था । जिन ईंटों पर बक्स रखे थे, उनके अतिरिक्त वहाँ और कुछ भी शेष न था । ईंटों के बीच में, दीवार के किनारे-किनारे कूड़ा इकट्ठा हो रहा था । फर्श पर बिछे मोटे पर्शियन कालीन के स्थान पर धूल की मोटी-सी तह बिछी हुई थी ।

खन्ना साहब के शरीर में मानो किसी ने अनगिनत कीलें ठोक दीं । श्रीमती खन्ना के नयनों में अश्रु छलक आये ।

मिसेज माथुर, मिसेज भल्ला के कानों में फुसफुसा रही थीं—"क्या डींग हांक करती थी ! क्या नाज था इन्हें अपनी सफाई-पसन्द तबीयत का ! आज पोल खुल गई न । देख लो, यही है इनकी स्वच्छता !"

मि० वाजपेयी घोष बाबू के कानों में कह रहे थे—"कमिश्नर होकर इनके घर चोरी हो गई, तो हम साधारण लोगों की क्या बात !"

मुख पिचकाकर घोष बाबू ने गरदन हिलाई । बोले—"मैं तो भाई इसीलि

घर में कुछ रखता नहीं। सब बैंक में। श्रीमती जी बहुत बिगड़ीं भी, कि चीज के होने से क्या फायदा यदि काम न आये, पर मैंने एक न सुनी। आज वे यहाँ होतीं तो उनकी आँखें खुल जातीं।"

बाहर पहरा बदला। नये सिपाही ने घण्टा बजाया—एक-दो-तीन।

दूर सड़क पर गश्त करते पुलिसमैन की सीटी ने पुनः अपना संगीतमय राग छेड़ दिया था—हिर्र-हिर्र-हुर्र-र्र-र्र।

१८ | मिट्टी के खिलौने

कुन्द की सहेली थी सुनन्दा। मिल-मालिक की बेटी सुनन्दा को बड़ी भली लगती थी अपने माली की वह नटखट बिटिया। दिनोंदिन इस अनोखी मैत्री का बन्धन दृढ़ होता ही जा रहा था कि एकाएक खोंचा खाकर थम गया।

कीमती कालीन पर पैर पड़ा भी न था कुन्द का कि सुनन्दा की माँ ने उसे दस उलटी-सीधी सुना डालीं।

अभिमानिनी कुन्द सहेली-माँ की धमकी सहन न कर सकी। उसी दिन से उसने उस ओर जाना ही छोड़ दिया। सुनन्दा थी धनी पिता की बेटी। मन बहलाने के साधनों का उसके पास अभाव न था। किन्तु उन निर्जीव खिलौनों के प्रति उसकी तनिक भी रुचि नहीं थी। उसे तो चाहिये केवल चंचल, चपल कुन्द।

हारकर मोहिनी को माली से कहना ही पड़ा—"तेजू, वह तुम्हारी बिटिया दिखाई नहीं दी इधर कुछ दिन से। जरा भेज देना उसे, बेबी बहुत याद कर रही थी।"

स्वामिनी की बेबी बुलाती तो सेवक की बिटिया को जाना ही पड़ता—किन्तु कुछ बहाना बना वह चट् से भाग खड़ी होती। निदान उसे रोक रखने के लिये, सुनन्दा को नित नये आविष्कार करने पड़ते।

कुन्द घर पहुँची तो देखा माँ बैठी चक्की पीस रही थी। माँ के गले में अपने दोनों छोटे-छोटे हाथ डाल, उसकी पीठ पर झूलते हुए बोली वह—"माँ, दीवाली किसे कहते हैं?"

अपनी अल्हड़ बिटिया की बात सुन मंगला को हँसी आ गई—एक हाथ से उसे अपनी गोदी में खींचते हुए उसने कहा—"पगली! अरी, इतनी जल्दी भूल गई? याद नहीं, जब पारसाल हमने अपने गाँव के घर में दिये जलाये थे? लक्ष्मी मैया की पूजा की थी, वही तो थी दीवाली।"

"ओह! वह थी दीवाली। शहर की लक्ष्मी मैया गाँव की लक्ष्मी मैया से बड़ी होती है न, अम्मा? इसीलिए होती है न शहर में उनकी पूजा इतनी अधिक धूमधाम से?"

'क्या बेतुकी बातें करती है यह लड़की!' मंगला को इतना अवकाश कहाँ कि बेटी को गोद में लेकर लाड़ लड़ाती रहे और उसके संगत-असंगत प्रश्नों का उत्तर

देती रहे। चक्की पीसने के बाद उसे अभी मालकिन की भैंस के लिये कुट्टी काटनी थी। अपनी रोटी भी बना नहीं पाई थी। कहा—"होती होगी, चल उठ, काम करने दे! अभी सारा काम पड़ा है मेरा।"

कुन्द झटपट पीठ पर से उतर पड़ी। माँ के समीप घुटनों के बल झुक, चक्की का हत्था पकड़ते हुए बोली—"ला अम्मा, मैं जल्दी-जल्दी पिसवा दूँ तेरा आटा, फिर तू मुझे कहानी सुना।'

"क्या लड़की है! दिन हो या रात—इसे हर समय कहानी ही सूझती है!" झिड़ककर कहा मंगला ने—"हट जा, कुन्द! तंग न कर। जा, बाहर खेल।"

कुन्द तनिक भी नहीं खिसकी, वहीं जमकर बैठ गई और कहा—"सुनन्दा के घर टोकरी-भर दीपक आये हैं, माँ। हमें एक टोकरी ही मँगवा दो न।"

माँ ने बेटी के मुख की ओर देखा, कहा—"पगली, उसका इतना बड़ा बंगला है। इस छोटी-सी कोठरी में टोकरी-भर दीपक कहाँ जलायेगी तू?"

अपनी छोटी-सी कोठरी को अच्छी तरह निरख, कुन्द रुआँसी हो गई। पहले कभी नहीं लगा था उसे कि इस कोठरी में किसी बात का अभाव है, सच तो है। सुनन्दा इसीलिए इतने बड़े बँगले में रहती है।

पूछा—"तब तुम भी खूब बड़ी-सी कोठी में क्यों नहीं रहती, माँ?"

"बड़ी कोठी में रहने के लिये उतना ही पैसा भी तो चाहिये, बिटिया।" मंगला ने कुछ हँसकर कहा।

पैसे की बात कुन्द की समझ में बिलकुल नहीं आती। पूछा—"पैसा कहाँ से आता है, माँ?"

"मेहनत से।" संक्षिप्त-सा उत्तर था मंगला का।

"कितना झूठ बोलती हो तुम, अम्मा। क्या मेहनत करते हैं सुनन्दा के बापू? दिन-भर आरामकुरसी पर पड़े-पड़े मजे से अखबार या किताबें पढ़ा करते हैं। बहुत किया तो मोटर में बैठकर ठाट से घूम आये कहीं। मोटर तक तो चलानी नहीं पड़ती उन्हें, और मेरे बापू? धूप हो या बारिश, दिन-भर फावड़ा चलाते हैं, फिर भी बापू के पास पैसा नहीं आता।"

"तू बहुत बोलती है, कुन्द!" मंगला ने खीझकर कहा—"लड़कियों का इतना बोलना अच्छा नहीं होता। जा, दो मूली रखी हैं वहाँ, उठा ला उन्हें, काट दे तो चूल्हे पर चढ़ा दूँगी।"

"बस, मूली! रोज-रोज मूली! आज आलू बनाओ न, अम्मा, हम नहीं खायेंगे मूली!"

"ऐसा ही शौक है तो कहती क्यों नहीं अपने बापू से? उनके सामने कहाँ चली जाती है जबान तेरी! कह देना—कल ही ला देंगे बाजार से पाव-भर आलू।"

"बाजार से क्यों? वह जो पचासों टोकरे आलू खोदे हैं मेरे बापू ने खेत में, क्या उनमें से कुछ भी हमारे नहीं?"

"नहीं, नहीं, सौ बार नहीं !" मंगला ने कुछ रुष्ट होकर कहा—"तू अब उठती है कि लगाऊँ एक चपत ?"

चपत का तो कुछ भय नहीं था, किन्तु आज वह माँ को रुष्ट नहीं करन चाहती थी। भागकर चाकू उठा लाई और मूली भी।

चुपके से माँ के समीप आकर बैठ गई वह तो माँ की आँखों में से अश्रु छलक आये—नन्ही भोली-सी बिटिया, क्यों धमका दिया भला उसे? यह क्या इसकी काम करने की उमर है? कहीं हाथ में चाकू लग गया तो? मन हुआ कि उसे मना कर दे। किन्तु मना भी नहीं कर सकी। आँखों के आँसू आँखों में ही पीकर तेजी से हाथ घुमाने लगी।

अपने बड़े-बड़े नेत्र ऊपर उठा कुन्द ने माँ की ओर ताका। मन-ही-मन सोचा—कहूँ कि न कहूँ? धीरे से बोली—"अम्मा, एक बात कहूँ? मानोगी?"

वात्सल्य से मंगला का हृदय छलक उठा। बोली—"मानने की होगी तो मानूँगी क्यों नहीं?"

उसकी सदय मुसकान देख, कुन्द के नन्हे से हृदय को बल मिला। कहा—"अच्छा माँ, परसों दीवाली है। मेरे लिए खिलौने लाओगी न?"

"बापू से पूछना।" मंगला ने टालने की गरज से कहा।

"नहीं मेरी अम्मा, तू ही कहना बापू से। कहना कि कुन्द को ढेर सारे खिलौने नहीं चाहिएँ। उसे तो बस एक गुड़िया ला देना, सोती-जागती गुड़िया।"

"कैसी गुड़िया?" विस्मित हो मंगला बोल उठी।

"तुझे विश्वास नहीं होता, अम्मा। सच कहती हूँ मैं ऐसी गुड़िया चाहती हूँ जो लिटाने से आँखें बन्द कर ले और बैठाने से खोल दे। आज ही मँगाई है नन्दा की मम्मी ने उसके लिए। गुलाबी-गुलाबी गाल हैं उसके, नीली-नीली आँखें। सिर पर रिबन बँधा है, पैरों में नन्हे-नन्हे से जूते। सच अम्मा, बहुत ही सुन्दर है वह गुड़िया।"

मन की पीड़ा को मन में दबा, मंगला ने मुसकराने का प्रयास करते हुए कहा—"सच! मेरी गुड़िया से भी अधिक सुन्दर है क्या?"

कुन्द को गुस्सा आ गया। बोली—"चलो, हटो! तुम्हें तो हर समय मजाक ही सूझता है। मैं नहीं बोलती तुमसे।"

चाकू-तश्तरी वहीं पटक, वह उठकर चल दी और अपने घर के पिछवाड़े जा पहुँची।

पिता को नित नये पेड़ लगाते देख, कुन्द को बड़ा चाव होता था बागवानी करने का। किन्तु तेजू उसे सदा झिड़क दिया करता था, हाथ में खुरपी देखते ही। तब मन-ही-मन सोचा था कुन्द ने—चुपके से सबसे छिपाकर वह अपना बाग तैयार करेगी। जब तैयार हो जायेगा, तब बापू को वहाँ बुलाकर, उन्हें दिखाकर एकदम चकित कर देगी।

चोरी-चोरी बापू की खुरपी ले, चुपके-चुपके चार गढ़े खोद डाले थे उसने।

आज सुबह सबकी दृष्टि बचा, एक आम की और एक अमरूद की टहनी भी तोड़ लाई थी वह ।

सुनन्दा के झगड़े में पौधा रोपना रह ही गया—यह सोचती हुई, लुटिया ले वह नल के नीचे जा खड़ी हुई ।

उसे खोजते-खोजते सुनन्दा जब वहीं आ पहुँची, तो उसने देखा कि कुन्द बड़े मनोयोग से पौधा रोपने में जुटी है । आम और अमरूद की टहनियें सीना ताने खड़ी थीं । एक हाथ से नीम की टहनी की जड़ थामे, कुन्द दत्तचित्त हो दूसरे हाथ से मिट्टी थपथपा रही थी ।

सुनन्दा की छोटी-छोटी आँखें फैलकर बड़ी-बड़ी-सी दिखने लगीं । उस षड्यन्त्र में शामिल हो उसने फुसफुसाते हुए पूछा—"क्या कर रही है, कुन्द ?"

कुन्द ने दृष्टि उठा सहेली को देखा । मधुर हँसी से उसका मुख उज्ज्वल हो उठा । बोली—"किसी से कहना नहीं, सुनन्दा । एक छोटी-सी बगिया लगा रही हूँ मैं अपनी अलग ।"

"क्या-क्या लगायेगी अपनी इस बगिया में ?"

"बताऊँ ?" कुन्द उत्साहित हो उठी—"देख, इधर तो रहेंगे छायावाले वृक्ष । इनकी छाया में बनाऊँगी गुड़िया का घर और देख, यहाँ और यहाँ, इधर और इधर लगाऊँगी रंग-बिरंगे तरह-तरह के फूल ।"

सुनन्दा ने ताली बजाकर कहा—"हाँ-हाँ, कुन्द ! बड़ा अच्छा रहेगा । पर बता तो, कैसी-कैसी गुड़िया रहेंगी तेरे इस घर में ?"

मिट्टी चढ़ाते नन्हे-नन्हे हाथ एकाएक थम गये । नीम की टहनी टेढ़ी हो एक ओर को झुक गई । नयन गीले हो उठे । कुन्द के सारे उत्साह पर सहसा मानो पाला मार गया ।

सच तो है ! इतनी मेहनत वह करे किसके लिए ? उसके पास तो एक भी गुड़िया नहीं जो इस घर में सो सके । क्या सूना ही पड़ा रहेगा उसका यह घरौंदा ?

सुनन्दा विस्मित हो बोल उठी—"रुक क्यों गई, कुन्द ? देखती नहीं, तेरा पेड़ टेढ़ा हो गया ?"

"हो जाने दो !" कुन्द ने रुआँसे स्वर में कहा ।

"अच्छा तो चल । फिर कभी लगा लेना इसे । आ मेरे साथ ।" सुनन्दा ने सन्तोषभरी वाणी में कहा ।

"नहीं ।" जोर से अपना सिर झटकते हुए कुन्द बोली ।

"नहीं ? क्यों नहीं ? चल न दिल्ली से मेरे चाचा आये हैं । कैसे बढ़िया बढ़िया खिलौने लाये हैं—पटरी पर दौड़ने वाली रेल; आसमान में उड़ने वाला वायुयान; टन-टन बजने वाला पियानो; फिट-फिट करने वाला साईकिल-सवार । आ, चल न !" उसका हाथ पकड़कर खींचते हुए सुनन्दा ने कहा ।

"नहीं ! नहीं ! नहीं !" कुन्द ने जोर से कहा, और झटककर अपना हाथ

छुड़ा भाग खड़ी हुई। चक्कर काट वह अपने घर में जा घुसी।

और कोई समय होता तो नये खिलौनों की बात सुन, वह चट से चल देती; किन्तु आज उसके मन को बड़ी ठेस लगी थी। यद्यपि उसका बाल-हृदय यह समझ नहीं सका था कि उसे सुनन्दा की लम्बी-चौड़ी बातों ने ही चोट पहुँचाई है, तथापि उसका मन सहेली के प्रति विमुख हो उठा था।

मन-ही-मन सोच रही थी वह—क्या मजे से बगिया सँवार रही थी मैं। क्या जरूरत थी सुनन्दा को वहाँ आने की? आकर मेरे सुन्दर नीम को टेढ़ा करा देने की?

घर में घुसते ही, सिर तक चादर खींच, वह खटिया पर लेट रही। आँसू उसकी आँखों में जल रहे थे, पर वह रोना नहीं चाहती थी। माँ ने कहा था न 'रोते हैं वे, जो कायर होते हैं। मेरी बेटी तो शेर की बेटी है। ऐसे बाप की बेटी जो पत्थर फोड़कर पानी निकाल दे सकता है।'

मंगला घर में घुसी। असमय ही बेटी को पड़े देख उसका हृदय आशंकित हो उठा। पुकारा—"कुन्द!"

कुन्द को माँ पर भी गुस्सा आ रहा था—एक जरा-सी चीज के लिए कहा, तो कैसे मजे से बात टाल गई? अब नहीं बोलेगी वह माँ से। कभी नहीं! कभी नहीं!

मंगला समीप आई। चादर उठा उसने कुन्द के माथे पर हाथ रखा। माथा गरम न था। शान्ति का निःश्वास छोड़, वह चूल्हा जलाने चल दी।

माँ के हटते ही कुन्द के अधरों पर मुसकान दौड़ गई—खूब छकाया आज अम्मा को! अम्मा को छकाना भी कितना सहज है। जरा-सा रो दो, जरा-सा बिगड़ जाओ; बस, झट से माँ वश में आ जाती है। जब-जब भी वह खिलौनों की बात कहती है, माँ सदा ही हँसकर टाल देती है। कुछ भी हो, कैसे भी क्यों न हो, वैसी गुड़िया तो वह अवश्य लेगी। लेकर ही रहेगी। कभी एक जरा-सा झुनझुना तक नहीं माँगा उसने, पहली ही बार कुछ माँग रही है वह। कहने से क्या बापू एक गुड़िया खरीद नहीं देंगे?

तेजू ने घर में पैर पीछे रखा, पहले पूछा—"खाना तैयार है?"

मंगला आटा गूँथ रही थी। बोली—"बस, तवा रख ही रही हूँ। तब तक हाथ-मुँह धो लो तुम।"

"कुन्द कहाँ है?" तेजू ने पूछा। साथ ही बोल उठा—"अरे, आज अभी से कैसे सो गई यह? तबीयत तो ठीक है न?"

कुन्द का मन हुआ कि कह दे—'नहीं, मैं तो जाग रही हूँ।'

तभी मंगला बोल उठी—"तबीयत तो ठीक ही लगती है। थक गई होगी। दंगा क्या कम करती है दिन-भर।"

तेजू हँसने लगा। कहा—"अरी, यही तो दंगा करने के दिन हैं उसके

फिर तो तू उसे कोल्हू के बैल की तरह दिन-रात काम में जोते रखा करेगी। सच मंगला, सोचता हूँ···" उसने गम्भीर होते हुए कहा—"कि अब की मालिक से तनख्वाह बढ़ाने को कहूँ। चार रुपये भी बढ़ गये तो कुन्द को स्कूल में दाखिल करा देंगे।"

कुन्द मन-ही-मन हर्ष से फूल उठी—'कितना प्यार करते हैं उसके बापू उसे!'

किन्तु मंगला चिढ़ गई थी। चूल्हे पर तवा पटकते हुए बोली—"क्यों? कौन किसी जज-कलक्टर से ब्याह करना है उसका, जो पढ़ाने में पैसा फूँकोगे? तन पर साबुत कपड़े नहीं, दो जून दाल खाने को भी तरसती है मेरी बच्ची, और अरमान संजो रहे हो उसे पढ़ाने के? न बाबा, यह फिजूलखर्ची मेरे वश की नहीं—घर-गृहस्थी सँभालना सीख जाये वह, इतना ही बहुत है उसके लिए।"

लोटे में पानी ले, तेजू ने उसके निकट ही पटरे पर बैठते हुए कहा—"मैंने एक बात कही नहीं कि तू शेरनी की तरह बिफरने लगती है। यही आदत तो अच्छी नहीं लगती मुझे!"

"बिफरने की बात नहीं है" उसकी थाली में भुजिया परोसते हुए मंगला ने कहा—"है तुम्हारे पास इतना पैसा कि उसे बी० ए०, एम० ए० करा दोगे, जो दो रोटी खाने लायक कमा सके वह? इससे तो यही अच्छा है कि उसे सिलाई-बुनाई सिखा दो। अगर कभी अटक पड़े, तो चार जनों की सिलाई कर, चार पैसे तब भी कमा लेगी।"

"मान गया मंगला, तेरी बात। बड़ी दूर की सोचती है तू। अफसोस तो बस इतना ही है कि यदि मेरे से कुछ पढ़ना-लिखना आता होता, तो इतना तो उसे पढ़ा ही देता कि चिट्ठी-पाती पढ़ ले।"

"मालिक के मुंशी जी हैं न। रोज उनकी देही में मालिश कर दिया करो। मैं उनके घर का चौका-बर्तन कर दिया करूँगी तो इतना तो वह भी पढ़ा देंगे मेरी गुड़िया को।"

"तू करेगी उस मुंशी के घर का चौका-बर्तन? नहीं, मेरे जीते-जी तो कदापि नहीं।" तेजू ने तनकर कहा।

"तो पढ़ा लो अपनी लाड़ली को! यही झूठा घमण्ड लिए बैठे रहो। सीख चुकी वह कढ़ाई-बुनाई!"

पत्नी के व्यंग्य से तेजू तिलमिला उठा। किन्तु कहता भी क्या! चुप हो रहा। यदि उसके पिता ने उसे थोड़ा-बहुत पढ़ाया होता, तो वह कहीं मुंशीगिरी ही कर लेता। यदि कोई और करतब सिखवा दिया होता तो कोई अपना निजी धन्धा ही कर लेता, कहीं करघा चला लेता या किसी मिल में नौकरी कर लेता। परन्तु उसे तो यह मालीगिरी करके ही अपना सम्पूर्ण जीवन काटना था।

माली का काम? जिसमें कि मालिक लाख घिस-घिस करने पर भी, इतना

१९

बिन्दिया

अपनी पहली पत्नी विमला को संग ले, मोटर में बैठ, सेठ किशोरीलाल क्लब चले गये। खिड़की के सामने बैठी ललिता ने दृष्टि उठाकर देखा और एक गहरी साँस खींच पुनः अपनी पुस्तक में आँखें गड़ा दीं। किन्तु मन ने आँखों का साथ न दिया—चुपके-चुपके कह रहा था वह—'तेरे विवाह को दो महीने बीत चुके हैं !'

तभी बिन्दिया पीछे आ खड़ी हुई। धीरे से बोली—"रोती हो, छोटी रानी ?"

"रोऊँगी क्यों, बिन्दिया ?" थके-से स्वर में ललिता ने कहा, "पर तूने मुझे फिर छोटी रानी कहा ? छोटी रानी कहने वाले तो और बहुत हैं; या तू मुझे सखी नहीं बनाना चाहती ?"

"ऐसा न कहिये, रानी जी !"

"फिर रानी जी ?" ललिता ने उसे धमकाते हुए कहा—"कह ललिता सखी।"

"यह तो मुझसे कभी न होगा, जीजी रानी।" हँसते हुए बिन्दिया बोली—"एक बात कहूँ ? बुरा तो न मानोगी ?"

"तेरी बात का बुरा मानूँगी, बिन्दिया ? तेरे सिवा यहाँ मेरा और है ही कौन ?"

"यह तुम्हारे मुँह की बात है, जीजी रानी, मन की नहीं !"

"क्यों ?"

"और क्या ? यदि तुम मुझे अपना समझतीं तो यों छिप-छिपकर मन-ही-मन रोती न रहतीं। किसी से कह देने से, खुलकर रो लेने से, दुःख हलका हो जाता है, जीजी रानी।"

हलकी हँसी ललिता के अधर छू गई। बोली, "मुझे कौन दुःख है, बिन्दिया ?"

"दुःख नहीं होगा ? सेठ जी सदा बड़ी रानी के संग घूमते रहते हैं। आज दो महीने होने को आये। तुमने कभी घर के बाहर पैर तक नहीं रखा। सेठ तुम्हारी ओर कभी देखते तक नहीं। ऐसा ही प्रेम था बड़ी रानी से, तो फिर यह विवाह किया ही क्यों ?"

"यह तो सभी जानते हैं, बिन्दु।"

"माना मैंने। किन्तु ऐसे आचरण से उनकी वह अभिलाषा पूरी हो सकेगी क्या ?"

"उनकी अभिलाषा इस जन्म में पूरी नहीं हो सकेगी, बिन्दिया।"

"छिः! जीजी रानी! ऐसा नहीं कहते। कुछ भी हो, कैसे भी हों, वे तुम्हारे पति हैं। उनके मन को अपने वश में करने का प्रयत्न तुम्हें करना ही चाहिये। पति के आदर से ही नारी का आदर होता है।"

"जानती है, बिन्दिया? मेरे पिता आज जीवित होते तो उनकी भी यही आयु होती।"

"चुप रहो जीजी, चुप रहो। ऐसा नहीं सोचना चाहिये।"

ललिता हँसी। कहा—"अभी तू कह रही थी—'मन की बातें दबानी नहीं चाहिएँ।' पहली बात बोलते ही कहती है—'चुप रहो, चुप रहो।' जानती है, दिन-रात यही बातें मेरे मन में घुमड़ती रहती हैं? उनके मोटे-मोटे हाथ देख, मुझे अपने पिता के हाथ याद आ जाते हैं। उनकी मोटी-मोटी आवाज सुन, मुझे अपने पिता की बोली याद आ जाती है। उनकी भारी-भरकम चाल देख···"

बिन्दिया ने बीच में ही बाधा देते हुए कहा—"अभी प्यार मिला नहीं है न, जीजी रानी, तभी ये ऊटपटांग बातें सूझ रही हैं। जिस दिन मिलेगा, सब भूल जाओगी।"

बात बढ़ाने से क्या लाभ? ललिता ने सोचा, और स्नेहपूर्वक सखी के गाल खींचते हुए कहा—"तू भूली है क्या?"

और उधर मोटर में बैठी विमला भी, पति से इसी बात पर झगड़ रही थी। अन्त में खीझकर बोली—"यह जरा-सी बात भी यदि तुम्हारे लिए इतनी कठिन है, तब तुमने यह विवाह किया ही क्यों?"

उन्होंने अत्यन्त आश्चर्य से कहा—"और सुनो! दिन-रात रो-रोकर नाक में दम कर दिया। चुपके से चाची द्वारा लड़की देखने से लेकर विवाह तक की सब बातें पक्की करा लीं। यह विवाह मैंने अपने लिये नहीं, तुम्हारे लिये किया है, विमला, क्या तुम इतना भी नहीं समझ सकीं?"

"तब फिर मेरे लिये ही इतना और करो—उससे बोलो, बात करो, उसका मन रखो। उसको यों दूर-दूर न करो।"

"अभी बहुत बढ़-बढ़कर बोल रही हो। जिस दिन अपना स्नेह छिनते देखोगी, उस दिन रो-रोकर घर भर दोगी।"

"नहीं, सच कहती हूँ। मुझे जरा भी दुःख नहीं होगा। सब बातें सोच-समझकर ही मैंने यह राह अपनाई थी। यदि मेरे मन में, इस बात का तनिक भी संशय होता, तो मैं यह विवाह कराती ही क्यों?"

"सो तो तुम जानो। मैं तो बस केवल इतना जानता हूँ कि यदि मैं जरा-सा भी बदल गया, तो तुम दिन-दिन-भर कोठरी में घुस-घुसकर रोओगी।"

"मान लिया। किन्तु थोड़ा-बहुत शोक यदि होगा भी, तो तुम्हें दिखाने न आऊँगी। नन्हे से शिशु की केलि-क्रीड़ा में, मैं अपने सब दुःख भूल जाऊँगी।"

सेठ जी ने विनोदपूर्वक कहा—"अपना बेटा वह तुम्हें देगी ही क्यों ?"

पति की यह बात विमला को खटकी, अभी से इनके मन का यह भाव है, तो ? किन्तु कहा—"उससे माँगने जाऊँगी ही क्यों ? मेरे घर की धरती, नन्हे से शिशु के डगमग करते चरणों से डोल उठे, बस केवल इतना ही तो चाहती हूँ ?"

फिर अश्रुपूरित कण्ठ से कहा—"मैंने क्या सुख से यह शादी कराई है ? यह राय अपनाई है ? कौन तीर्थ छोड़े, कौन-सा व्रत नहीं किया ? देवी के मन्दिर और पीर के मजार, सभी की तो खाक छानी। मेरे मन की वेदना तुम निष्ठुर क्या समझोगे ?"

पत्नी का हाथ, अपने हाथों में ले, उन्होंने कोमल स्वर में कहा—"ऐसा न कहो, विमला। मेरे मन में भी क्या वही पीड़ा नहीं है ?"

"तो फिर तुम अपना कर्तव्य क्यों नहीं निभाते ?"

इस बात का सेठ किशोरीलाल ने कुछ उत्तर नहीं दिया; और अधिक कहना उचित न समझ विमला भी चुप हो रही।

सेठ किशोरीलाल की बिलकुल इच्छा ही न हो, सो भी बात नहीं थी। यह विवाह करने की उनकी सचमुच ही इच्छा न थी, किन्तु शुभ-दृष्टि के समय नव-वधू का किशोर मुखड़ा देख, उनकी सुप्त अभिलाषाएँ जाग उठी थीं।

पहले दिन कुछ उत्साह से ही वह अपने कमरे में घुसे थे। किन्तु ललिता का दयनीय मुख, और नितान्त, असहनीय, करुण-भाव देख, उनके हृदय पर सौ-सौ घनों की चोट एक साथ पड़ने लगी थी, फिर भी उन्होंने कुछ बात करने का प्रयत्न किया था। पलंग के समीप खड़े हो मसहरी के डण्डे से खेलते-खेलते कहा था—"तुम्हारी सबसे अधिक प्रिय इच्छा क्या है, ललिता ?"

वधु का झुका सिर ऊपर न उठा था। उन्होंने ही कहा था फिर से—"हमारे यहाँ की यह रीति है कि वधू की प्रथम कामना को अवश्य पूरा किया जाता है। तुम अपनी अधूरी अभिलाषा बताओ मुझे। मैं अवश्य पूरी करूँगा उसे।"

ललिता ने सिर उठाकर देखा था। उसके नयनों में एक अपूर्व ज्योति उद्भासित हो उठी थी। अधर बोल उठे थे—"सच !"

सेठ किशोरीलाल का हृदय एकबारगी उछल पड़ा था। पलंग की पाटी पर बैठते हुए उन्होंने कहा था—"हाँ, सच।"

ललिता ने सिर झुकाकर कहा था—"विवाह के कारण मेरी शिक्षा अधूरी ही रह गई। मुझे अवसर दीजिये कि मैं अपनी शिक्षा पूरी कर सकूँ।"

सेठ किशोरीलाल अवाक् रह गये थे। हतबुद्धि के समान, उन्होंने उस विनीत मुखड़े की ओर निहारा था। कभी स्वप्न में भी उन्होंने ऐसी माँग की कल्पना नहीं की थी। नव वधू बहुमूल्य साड़ी माँगे, हीरे-जवाहरात माँगे, नई मोटर माँगे, सौत के साथ रहना स्वीकार न कर नई हवेली माँगे—इन सब बातों के लिए वह तैयार थे। किन्तु यह माँग इतनी अप्रत्याशित थी, कि उनका दिमाग चकरा गया।

हतबुद्धि के समान उसकी ओर देखते हुए बोले—"यह तो असम्भव है, ललिता—जरा समझ से काम लो। मेरी पत्नी होकर, यदि तुम साधारण लड़कियों के समान कालिज जाओगी, तो क्या मेरे सारे सम्बन्धी, नगर के सारे लोग मेरी हँसी नहीं उड़ायेंगे ? इसके अतिरिक्त और जो-कुछ भी तुम कहो मैं करने को तैयार हूँ।"

ललिता के मुख पर, पहले से भी अधिक व्यथा उमड़ आई थी। उसे चुप देख, उन्होंने असीम आग्रह-भरे स्वर में कहा था—"बोलो, ललिता।"

"नहीं, मुझे और कुछ नहीं चाहिये," उसने धीरे से कह दिया था। तब सेठजी को कहने के लिए और कुछ भी नहीं सूझा था। अपने आहत अभिमान को समेट, वह अपनी शैया पर जा लेटे थे, और करवट बदलकर सो रहे थे। उस दिन से फिर उनका कभी भी साहस नहीं हुआ था, ललिता से कुछ बातें करने का।

आज जब वह अपने कमरे में घुसे तो अवाक् रह गये। उन्हें लगा कि इतना अपूर्व सौन्दर्य कभी किसी ने सम्पूर्ण विश्व में कहीं न देखा होगा। उन्हें क्या पता था कि ललिता की निष्प्राण देह को सजाने में, आज बिन्दु और विमला ने अपना समस्त कौशल खर्च कर दिया था।

माथे पर खिलखिलाती बिन्दी, हाथों में जगमगाती चूड़ियाँ, तन पर झिलमिल करती, सितारे टँकी साड़ी, और फूलों से गुँथी हुई, घनी, लम्बी वेणी। दो झुकी हुई पलकें, कण्ठ में पड़े हीरे की आभा से प्रतिभासित दो रक्तिम अधर—और वह देख न सके। मन फिर धोखा देने लगे, इससे पूर्व ही उन्होंने आगे बढ़, बत्ती बुझा दी।

उफ् ! जाल में फँसी मछली भी ललिता से कहीं अधिक स्वतन्त्र है। कम-से-कम उसे तड़पने का अधिकार तो है ही। माता की स्मृति में, कभी पढ़ी किसी हास्य-प्रद पुस्तक की घटनाओं की स्मृति में डूबने का प्रयत्न करते हुए ललिता ने अपने अधर दाँतों के बीच दबा लिये। उनमें से रक्त फूट पड़ा किन्तु ललिता को इसका पता न चला। रोकते-रोकते भी उसके हृदय से हल्की-सी चीख फूट पड़ी।

भूखे बाघ ने दम-तोड़ती हिरनी की अन्तिम चीख की ओर कभी ध्यान दिया है क्या ?

भोर हुई। नभ में लाली छा गई। जगती जाग उठी। दिन के काम पुनः नित्य के समान प्रारम्भ हो गये।

दिन चढ़ने लगा। प्रातः कर्म प्रायः समाप्त होने को आये, किन्तु ललिता की कोठरी के बन्द द्वार न खुले।

आखिर बिन्दिया से न रहा गया। द्वार पर थपकियें देते हुए उसने पुकारा—"छोटी रानीजी, छोटी रानीजी ! जीजी रानी, जीजी रानी, जीजी···" पहले धीरे-धीरे, फिर जोर से, और जोर से, और जोर से, परन्तु अन्दर से कोई भी उत्तर नहीं मिला।

उसने सहमकर, द्वार से कान लगाकर सुना—अन्दर निस्तब्धता छाई थी। मृत्यु की-सी नीरवता !

उसने घबराकर द्वार ढकेले, और अन्दर घुस पड़ी।

वहाँ का दृश्य देखते ही वह स्तम्भित रह गई—शीशे के सामने ललिता बैठी थी। बाल बिखरे हुए, वस्त्र अस्त-व्यस्त, जड़, निस्पन्द, मानो उसकी चेतना खो चुकी हो, बिसर चुकी हो।

उसका कन्धा हिलाते हुए बिन्दिया ने पुकारा—"जीजी रानी, जीजी···"

ललिता ने उसका हाथ हटा दिया। वह बोली तो लगा मानो वे स्वर कहीं दूर, बहुत दूर से आ रहे हैं—"हटो! मुझे स्पर्श न करो। मैं शव हूँ, सुहाग का शव!"

"क्या कह रही हो? तुम क्या पागल हो गई हो? उठो, होश में आओ। मुँह-हाथ धोकर नाश्ता कर लो।" बिन्दिया ने झिड़ककर कहा।

"नाश्ता? हा-हा-हा···" ललिता सच ही पागलों के समान हँसने लगी।

बिन्दिया किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठी। सहसा उसने हाथ बढ़ाया, और चटाचट, चार-छः चाँटे ललिता के कोमल कपोलों पर जड़ दिये। चोट की तीव्रता से ललिता की बड़ी-बड़ी आँखों में अश्रु झलक आये।

उन्हीं आँसूभरी आँखों को ऊपर उठाते हुए उसने पूछा—"कौन? बिन्दु!"

"हाँ बिन्दु—तुम्हारी सखी।" बिन्दु ने कहा, और उसके गले से लिपट गई।

ललिता के अश्रुपूरित नयनों में हास झलमला उठा। बोली, "मरे को और क्यों मारती है, सखी?"

कण्ठ तक आये अश्रुओं को पी, बिन्दिया ने कहा—"नहीं मारूँगी, मेरा कहना मानो। आओ, उठो। मुँह-हाथ धो लो।"

ललिता धीरे से उठ खड़ी हुई। अबोध शिशु के समान यंत्रवत् उसके आदेशानुसार सब काम करती रही। नहा-धोकर आई तो बिन्दु ने कहा—"आओ, बैठो यहाँ। तुम्हारे बाल मैं बाँधूँगी।"

सयत्न बाल सँवार, बिन्दु ने जूड़ा बाँधा। कुमकुम की डिबिया उठा, बिन्दी लगाने ही चली थी कि सहसा ललिता ने हाथ मारा। बिन्दु के हाथ से डिबिया छूट पड़ी। चारों ओर लाली-ही-लाली बिखर गई।

दोनों हाथों में अपना मुख छिपाते हुए ललिता ने कहा—"मुझे ले चल, कहीं ले चल, सखी। जहाँ मुझे लाली न दिखे, सिन्दूर न दिखे, कुमकुम न दिखे। चल...अभी..."

"ऐसा नहीं........"

"जल्दी चल, बिन्दु, जल्दी! यह कुमकुम, यह सिन्दूर, माथे पर की यह बिन्दिया, ये सब मेरी हँसी उड़ाते हैं, मेरा उपहास करते हैं, मुझ पर खिलखिलाकर हँसते हैं। चल, बिन्दिया, चल; नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी, एकदम पागल!"

बिन्दिया की समझ में बात न आई। परन्तु सहारा दे, वह उसे शैया की ओर ले चली। वहाँ पहुँचते ही ललिता फिर से तड़प उठी। उसे मूर्छा-सी आने लगी।

बिन्दु को लगा, वह उसके मन की बात समझी है। धीरे से दूसरे कमरे में ले जा उसने उसे पलंग पर लिटा दिया, और थोड़ी-सी ब्रांडी ला, जबरन उसे पिलाने का यत्न करने लगी।

सहसा उसकी गोदी में मुख छिपा, ललिता फूट-फूटकर रो दी। रोते-रोते ही बोली—"ब्रांडी नहीं। ब्रांडी नहीं। यदि तू मुझे सच ही प्यार करती है बिन्दिया, तो थोड़ा-सा जहर ला दे। मैं इस असहनीय यंत्रणा से मुक्ति पा जाऊँ।"

"तुम्हारा दुःख मैं समझती हूँ, जीजी रानी। और कुछ दिन धैर्य रखो। नन्हे-से फूल के गोदी में आते ही सब दुःख भूल जाओगी।"

"अन्धकार के घोरतम क्षणों में भी, आशा की इसी एक किरण का दामन थाम, मैंने जीने का प्रयत्न किया था, बिन्दु। किन्तु···किन्तु, मेरा मातृत्व सदा अपूर्ण ही रहेगा, सखी। तुम लोगों की यह आशा कभी पूरी न हो सकेगी।"

"तुम्हारी बात समझ में नहीं आती, जीजी रानी। उस दिन तुमने यही कहा था, आज फिर यही बात दोहरा रही हो। उस दिन भी······"

"उस दिन मैंने व्यंग्य ही किया था, परन्तु आज मैं सच ही कह रही हूँ।"

"जीजी?"

"हाँ, बिन्दु, हाँ। एक बार नहीं, सौ बार हाँ। वह···वह···तुम्हारे सेठ—वह इस योग्य ही नहीं कि·····"

"जीजी!" बिन्दु चीख उठी।

"मैं निर्बोध नहीं हूँ, बिन्दिया। तुझे मालूम नहीं क्या? मैं डॉक्टरी पढ़ रही थी।"

"तुमने···तुमने उनसे कह दिया, जीजी?"

"मैंने? मैं कहूँगी? कुछ पागल हुई है तू?"

"पागलपन तुम कर रही हो! इसमें लज्जा की क्या बात है? उन्हें अपना इलाज कराना ही होगा। यदि तुम नहीं कह सकतीं, तो मैं ही उनसे कहूँगी। यदि उन्होंने मेरी बात नहीं मानी तो···तो···"

उसका आक्रोश-पूरित दृढ़ कण्ठ-स्वर सुन, रोना भूल ललिता चौंककर उठ बैठी।

इस लड़की का इस घर में क्या स्थान है? यह ललिता आज तक नहीं समझ सकी थी। यह स्वच्छंद, चंचल, चपल बालिका, अपनी वेशभूषा और निर्द्वन्द्व आचरण से, घर की कोई सेविका नहीं जान पड़ती थी। उसे कभी कुछ काम नहीं करना पड़ता था, फिर भी वह सेठ जी को मालिक कह सम्बोधित करती थी। वह कोई नातेदार नहीं थी, किन्तु निश्चय ही सेविका भी नहीं थी। तब? कौन थी वह? इस घर में उसका क्या स्थान था?

"तो क्या करेगी?" पूछा ललिता ने।

"समझ नहीं पाती, जीजी रानी, कि तब क्या करूँगी।" बिन्दिया

उसने घबराकर द्वार ढकेले, और अन्दर घुस पड़ी।

वहाँ का दृश्य देखते ही वह स्तम्भित रह गई—शीशे के सामने ललिता बैठी थी। बाल बिखरे हुए, वस्त्र अस्त-व्यस्त, जड़, निस्पन्द, मानो उसकी चेतना खो चुकी हो, बिसर चुकी हो।

उसका कन्धा हिलाते हुए बिन्दिया ने पुकारा—"जीजी रानी, जीजी···"

ललिता ने उसका हाथ हटा दिया। वह बोली तो लगा मानो वे स्वर कहीं दूर, बहुत दूर से आ रहे हैं—"हटो! मुझे स्पर्श न करो। मैं शव हूँ, सुहाग का शव!"

"क्या कह रही हो? तुम क्या पागल हो गई हो? उठो, होश में आओ। मुँह-हाथ धोकर नाश्ता कर लो।" बिन्दिया ने झिड़ककर कहा।

"नाश्ता? हा-हा-हा···" ललिता सच ही पागलों के समान हँसने लगी।

बिन्दिया किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठी। सहसा उसने हाथ बढ़ाया, और चटाचट, चार-छः चाँटे ललिता के कोमल कपोलों पर जड़ दिये। चोट की तीव्रता से ललिता की बड़ी-बड़ी आँखों में अश्रु झलक आये।

उन्हीं आँसूभरी आँखों को ऊपर उठाते हुए उसने पूछा—"कौन? बिन्दु!"

"हाँ बिन्दु—तुम्हारी सखी।" बिन्दु ने कहा, और उसके गले से लिपट गई।

ललिता के अश्रुपूरित नयनों में हास झलमला उठा। बोली, "मरे को और क्यों मारती है, सखी?"

कण्ठ तक आये अश्रुओं को पी, बिन्दिया ने कहा—"नहीं मारूँगी, मेरा कहना मानो। आओ, उठो। मुँह-हाथ धो लो।"

ललिता धीरे से उठ खड़ी हुई। अबोध शिशु के समान यंत्रवत् उसके आदेशानुसार सब काम करती रही। नहा-धोकर आई तो बिन्दु ने कहा—"आओ, बैठो यहाँ। तुम्हारे बाल मैं बाँधूँगी।"

सयत्न बाल सँवार, बिन्दु ने जूड़ा बाँधा। कुमकुम की डिबिया उठा, बिन्दी लगाने ही चली थी कि सहसा ललिता ने हाथ मारा। बिन्दु के हाथ से डिबिया छूट पड़ी। चारों ओर लाली-ही-लाली बिखर गई।

दोनों हाथों में अपना मुख छिपाते हुए ललिता ने कहा—"मुझे ले चल, कहीं ले चल, सखी। जहाँ मुझे लाली न दिखे, सिन्दूर न दिखे, कुमकुम न दिखे। चल...अभी..."

"ऐसा नहीं........"

"जल्दी चल, बिन्दु, जल्दी! यह कुमकुम, यह सिन्दूर, माथे पर की यह बिन्दिया, ये सब मेरी हँसी उड़ाते हैं, मेरा उपहास करते हैं, मुझ पर खिलखिलाकर हँसते हैं। चल, बिन्दिया, चल; नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी, एकदम पागल!"

बिन्दिया की समझ में बात न आई। परन्तु सहारा दे, वह उसे शैया की ओर ले चली। वहाँ पहुँचते ही ललिता फिर से तड़प उठी। उसे मूर्छा-सी आने लगी।

बिन्दु को लगा, वह उसके मन की बात समझी है। धीरे से दूसरे कमरे में ले जा उसने उसे पलंग पर लिटा दिया, और थोड़ी-सी ब्रांडी ला, जबरन उसे पिलाने का यत्न करने लगी।

सहसा उसकी गोदी में मुख छिपा, ललिता फूट-फूटकर रो दी। रोते-रोते ही बोली—"ब्रांडी नहीं। ब्रांडी नहीं। यदि तू मुझे सच ही प्यार करती है बिन्दिया, तो थोड़ा-सा जहर ला दे। मैं इस असहनीय यंत्रणा से मुक्ति पा जाऊँ।"

"तुम्हारा दुःख मैं समझती हूँ, जीजी रानी। और कुछ दिन धैर्य रखो। नन्हे-से फूल के गोदी में आते ही सब दुःख भूल जाओगी।"

"अन्धकार के घोरतम क्षणों में भी, आशा की इसी एक किरण का दामन थाम, मैंने जीने का प्रयत्न किया था, बिन्दु। किन्तु···किन्तु, मेरा मातृत्व सदा अपूर्ण ही रहेगा, सखी। तुम लोगों की यह आशा कभी पूरी न हो सकेगी।"

"तुम्हारी बात समझ में नहीं आती, जीजी रानी। उस दिन तुमने यही कहा था, आज फिर यही बात दोहरा रही हो। उस दिन भी······"

"उस दिन मैंने व्यंग्य ही किया था, परन्तु आज मैं सच ही कह रही हूँ।"

"जीजी?"

"हाँ, बिन्दु, हाँ। एक बार नहीं, सौ बार हाँ। वह···वह···तुम्हारे सेठ—वह इस योग्य ही नहीं कि······"

"जीजी!" बिन्दु चीख उठी।

"मैं निर्बोध नहीं हूँ, बिन्दिया। तुझे मालूम नहीं क्या? मैं डॉक्टरी पढ़ रही थी।"

"तुमने···तुमने उनसे कह दिया, जीजी?"

"मैंने? मैं कहूँगी? कुछ पागल हुई है तू?"

"पागलपन तुम कर रही हो! इसमें लज्जा की क्या बात है? उन्हें अपना इलाज कराना ही होगा। यदि तुम नहीं कह सकतीं, तो मैं ही उनसे कहूँगी। यदि उन्होंने मेरी बात नहीं मानी तो···तो···"

उसका आक्रोश-पूरित दृढ़ कण्ठ-स्वर सुन, रोना भूल ललिता चौंककर उठ बैठी।

इस लड़की का इस घर में क्या स्थान है? यह ललिता आज तक नहीं समझ सकी थी। यह स्वच्छंद, चंचल, चपल बालिका, अपनी वेशभूषा और निर्द्वन्द्व आचरण से, घर की कोई सेविका नहीं जान पड़ती थी। उसे कभी कुछ काम नहीं करना पड़ता था, फिर भी वह सेठ जी को मालिक कह सम्बोधित करती थी। वह कोई नातेदार नहीं थी, किन्तु निश्चय ही सेविका भी नहीं थी। तब? कौन थी वह? इस घर में उसका क्या स्थान था?

"तो क्या करेगी?" पूछा ललिता ने।

"समझ नहीं पाती, जीजी रानी, कि तब क्या करूँगी।" बिन्दिया ने शिथिल

स्वर में कहा, "मन में आता है कभी-कभी, कि इस दुनिया को उलट-पुलट कर दू, उफ ! कोई अत्याचारी, दो-दो अभागिनों का जीवन नरक-तुल्य बना दे, और उसे कुछ भी दण्ड न मिले ? नहीं, जीजी, नहीं । ऐसा हो नहीं सकता । यह दुनिया अब भी चलती है, अभी भी यहाँ भगवान् बसते हैं ।"

झटपट उठकर, वह आँधी-सी बाहर निकल गई ।

थोड़ी देर बाद नौकरानी दूध और नाश्ता ले आई । समस्त संकोच को दूर भगा ललिता ने उससे पूछ ही लिया—"यह बिन्दिया कौन है, पार्वती ?"

"आपको नहीं मालूम, रानीजी ? इसकी माँ बड़ी रानी की दासी थी । वह उन्हीं के संग उनके मायके से आई थी । मालिक ने उसका विवाह करा दिया था । उसका दूल्हा यहीं कारखाने में कुछ काम करता था । यह बिन्दिया दस-पन्द्रह दिन की ही थी, तभी एक दिन न जाने क्या हुआ । उससे लड़-झगड़ वह घर से भाग गया, और उसके जाते ही इसकी माँ ने जहर खा लिया ।"

ललिता सिहर उठी—क्या इस संसार में कहीं भी सुख नहीं भगवान् ? धीरे से पूछा—"ऐसा किस बात पर झगड़ा हुआ था, कि जहर ही खा लिया ?"

"बताता कौन, रानीजी ? बहुत खोज करवाई मालिक ने, पर उसका कहीं पता न लगा । हमारे ही हाथों यह बिन्दिया पली और बड़ी हुई । मालिक ने इसे छठी तक पढ़ाया भी, और पिछले साल ब्याह भी कर दिया था इसका । इसका दूल्हा अभी काम सीख रहा है । साईकिल की दुकान जमा लेगा अपनी कुछ दिन में, तब इसे ले जायेगा ।"

चार-शब्दों में पूरे जीवन का इतिहास सुना, पार्वती चली गई और ललिता निर्निमेष नेत्रों से, खिड़की के बाहर ताकती बैठी रही, बैठी रही ।

मध्याह्न भोजन के उपरान्त, सेठजी दिवानिद्रा का उपभोग करने के लिये लेटे, तभी बिन्दिया आ पहुँची । बोली—"पैर दबा दूँ, मालिक ?"

"नहीं रे !" वह स्नेहपूर्वक बोले, "मुझे नींद आ रही है ।"

"बहुत दिन से नहीं दबाये, मालिक, दबा दूँ ?" और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह पायताने जा बैठी ।

"एक कहानी सुनाऊँ, मालिक ?"

"कहानी ? नहीं भई, मुझे नींद आ रही है ।"

"छोटी-सी है, मालिक, सुन लो । एक राजा था, एक उसकी रानी थी । राजा के सन्तान नहीं थी । वह बड़ा दुःखी रहता था । उसने दूसरी शादी कर ली । फिर भी बेटा नहीं हुआ । राज्य कैसे चले ? एक-एक कर राजा ने सात शादी कर डालीं···"

"तंग मत कर, बिन्दिया । सोने दे । तेरे राजा-रानी कहीं भाग नहीं जायेंगे ।"

"आधी तो हो भी गई, मालिक । हाँ, तो छोटी रानी एक दिन बगिया में बैठी रो रही थी कि एक साधु उधर से आ निकले । रोने का कारण पूछा । रानी ने कहा—'राजा के कोई सन्तान नहीं । वह हम पर तरह-तरह के अत्याचार करते हैं ।

इसीलिए मैं रोती हूँ।' साधु ने उसे अभय देते हुए कहा—'वहाँ सामने कुंज में मैंने बसेरा डाला है। राजा से पूछ लेना। यदि उसकी इच्छा हो, तो आकर मेरे से एक फल ले जाना। उसे खाने से सन्तान अवश्य हो जायेगी, परन्तु आना अकेले।'

"राजा ने सहर्ष अपनी अनुमति दे दी। साँझ के घिरते अँधेरे में, रानी उस कुंज की ओर चल दी। घण्टे-भर बाद वह फल लेकर लौट आई। ठीक समय पर राजकुमार ने जन्म लिया। राज्य-भर में खुशियाँ मनाई गयीं···"

"हो गई तेरी कहानी ? भाग अब यहाँ से !"

"कहानी तो हो गई मालिक, किन्तु जिस लिये कहानी सुनाई थी, वह बात तो रह ही गई। तुम्हारी अनुमति हो तो मैं भी कोई साधु खोज लाऊँ। एक नहीं दोनों रानियों की गोद भर जायेगी।"

"तू पागल हुई है, बिन्दिया। आजकल ऐसे महात्मा कहाँ ?"

"ऐसे महात्मा आज भी गली-गली मारे-मारे फिरते हैं, मालिक। फल में तासीर नहीं, तासीर उनके महात्म्य में ही है।"

इस कटूक्ति का मर्म हृदयंगम करते ही सेठजी तड़पकर उठ बैठे। क्रुद्ध होकर बोले, "तुझे पढ़ाने-लिखाने का यही नतीजा हुआ ? बच्चों की कहानी को यों घृणित मत बना। उल्टे-सीधे अर्थ न लगा, मनोकल्पित बात के।"

"दुनिया में घृणित कुछ भी नहीं, मालिक। वासना से अधिक त्याज्य वस्तु और क्या होगी, फिर भी संसार उसी के पीछे दीवाना है। सच तो है यह, कि ये कहानियाँ मानो दुधारी तलवार हैं। बच्चों को आमोद प्रदान करती हैं और बड़ों को शिक्षा। बोलो, खोज लाऊँ साधु ?"

सेठजी ने गरजकर कहा—"तू आज मार खायेगी, बिन्दिया। ऐसी मार कि तेरे शरीर का रोम-रोम काँप उठे।"

बिन्दिया उठ खड़ी हुई। तनकर बोली—"मार लो, परन्तु स्मरण रहे, मेरे प्राण लेने से कुछ लाभ न होगा। हाँ, लज्जा-संकोच छोड़, यदि डॉक्टर के पास चले जाओ, तो शायद कुछ लाभ ही हो।" कहकर वह रुकी नहीं। तेजी से बाहर निकल गई।

विस्मय का प्रथम आघात मिट गया, तो सेठजी घायल सिंह की भाँति तड़प उठे—इस छोकरी की यह मजाल ? बहुत सिर चढ़ाने का यही परिणाम है। शिक्षा देने का फल आज मिला। अभी वह डॉक्टर के पास जायेंगे, और उसकी कही बात सुना, काला मुख कर इसे घर से निकाल बाहर करेंगे। अपनी बेटी की तरह पढ़ाया-लिखाया, शादी-विवाह किया। वह सब व्यर्थ हुआ।

कुछ भी हो, है तो दासी की बेटी ही। नीच मनोवृत्ति नहीं होगी तो क्या होगा ? अच्छा हुआ जो उन्होंने आज तक किसी के सामने प्रकट नहीं होने दिया, कि वह उन्हीं की सन्तान है।

इस असमय में उन्हें मोटर मँगाते देख, विमला ने चकित हो पूछा—"भरी

दोपहरी में कहाँ चल दिये ?"

कुछ उत्तर दिये बिना ही वह बाहर निकल गये।

पर जिस तेजी से वह घर से निकल पड़े थे, उस तेजी से घर में घुस न सके। डॉक्टर के एक-एक शब्द ने लौह-तपी शलाखा का काम किया था। उन तीखे शब्दों ने उनके एक-एक पोर में सौ-सौ छेद कर दिये थे।

उनका मन हो रहा था कि अपने हाथों अपना गला घोंट लें। उफ! उन्होंने दो नहीं, चार-चार जीवन नष्ट किये।

बिन्दिया मजदूर की बेटी है ? वह उनकी कोई नहीं लगती ? वह व्यर्थ के मोह-जाल में फँसे पड़े थे ? व्यर्थ ही उन्होंने उसे पढ़ाया-लिखाया ? वह सब पैसा व्यर्थ ही नष्ट हुआ ?

नहीं ! नष्ट कैसे हुआ ? वही मजदूर की बेटी यदि आज अपना सम्पूर्ण दर्प और तेज समेट, इस प्रकार उनके सामने न आ खड़ी हुई होती, तो कैसे उन्हें बोध होता, ज्ञान मिलता ? पूर्ण प्रायश्चित्त करने का यह अवसर कैसे मिलता ?

घर में घुसते ही, वह शैया पर जा गिरे, और ऐसे गिरे कि उस दिन फिर उठ न सके। विमला लाख-लाख प्रयत्न कर हार गई, किन्तु भोजन तो दूर, वह उन्हें एक घूँट दूध तक न पिला सकी।

उसी रात को उन्हें तीव्र ज्वर ने आ घेरा।

सात-आठ दिन बीत गये। इस बीच उन्हें बड़े-बड़े यशस्वी डॉक्टर, नामी वैद्य और मशहूर हकीम, लगभग हर समय ही घेरे रहे। बहुमूल्य दवाओं का ढेर लग गया, किन्तु उनकी दशा में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ।

उस दिन उन्होंने आँखें खोलीं, तो विमला ने रोकर कहा—"ऐसे कैसे काम चलेगा ? आठ-नौ दिन हो गये, तुमने एक बूँद दूध तक कण्ठ के नीचे नहीं उतरने दिया। खाओगे नहीं, अच्छा होना ही नहीं चाहोगे, तो वैद्य-डॉक्टर ही क्या करेंगे ?"

क्षीण, दुर्बल स्वर में वह बोले—"खाऊँगा—जरा ललिता को बुला दो।"

विमला का नारियोचित अभिमान जाग उठा—उसकी इतनी पुरानी प्रीति का कुछ मूल्य नहीं ! रुग्णावस्था में यह चार दिन की आई ललिता ही याद आ रही है !—किन्तु यह मान-अभिमान का समय नहीं। उनका संकेत पा, पायताने बैठी बिन्दिया उठकर ललिता को बुला लाने के लिये चली गई।

ललिता आई। उसके शुष्क, श्रीहीन मुख को, आज मानो सेठजी ने नये सिरे से देखा—उफ् ! तुच्छ धन के लोभ में, अपनी व्यक्तिगत स्वार्थ-भावना के वशीभूत हो; मनुष्य अपने स्नेह की पूँजी, अपनी निर्धनता के धन, अपनी आँखों की मणि को भी बलि-वेदी पर चढ़ा सकता है क्या ? हाँ, ऐसा भी होता है।

नहीं तो क्यों आज यह कुसुम-कलिका उनके घर में यूँ मुरझाई-सी पड़ी होती ? यदि उसके मामा ने अपना स्वार्थ न देखा होता, तो क्या आज इस कलिका ने कुसुमित हो, किसी के गृह-सदन को अपने मधुर-हास से मुखरित न कर डाला होता ?

क्षीण स्वर में बोले—"मैंने तुम्हारे ऊपर बड़ा अत्याचार किया है, ललिता। इसलिए मैं चाहता हूँ कि मेरी मृत्यु के उपरान्त..."

उनकी रोग-शीर्ण, जरा-जीर्ण, अशक्त काया को देख, ललिता के कोमल मन में करुणा जाग उठी। तत्क्षण, बीच में ही टोकते हुए बोली—"बीमारी में ये सब बातें नहीं सोचनी चाहिएँ। आपको हुआ ही क्या है? चार दिन में अच्छे हो जायेंगे।"

"नहीं, मैं अब अच्छा नहीं होना चाहता। मैं चाहता हूँ कि मेरी मृत्यु हो जाये जिससे कि तुम्हें मुक्ति मिल जाये और तुम दूसरा विवाह कर सको।"

विमला चीख उठी—"होश में आओ! क्या उलटी-सीधी बातें कर रहे हो?"

"होश में ही हूँ, विमले। खेद है तो केवल यही कि इतनी बुद्धि पहले ही क्यों नहीं आई? तभी तो मैं चाहता हूँ कि···"

वृद्ध के मन का दुःख ललिता ने समझा। उसका कोमल हृदय करुणा से विगलित हो उठा। समीप बैठ, सदय कण्ठ से बोली—"जो होना था, वह हो चुका, अब उन बातों को सोच-सोचकर मन को दुःखी करने से कोई लाभ नहीं। क्या आप समझते हैं, कि तब कोई भी मुझ से विवाह करने को तैयार होगा? भारत अभी इग्लिस्तान नहीं बना है, और न उसके निवासियों के मन में अभी ऐसे संस्कार जागे हैं, कि वे विधवाओं को शुभ दृष्टि से देख सकें।"

कुछ देर को वहाँ निस्तब्धता छा गई। कुछ पल बाद, मौन तोड़ सेठजी ने ही कहा—"तुम ठीक कहती हो, ललिता। मेरे लिये अब केवल एक ही राह बची है। तुम अब भी इस घर में रहोगी, किन्तु मेरी बेटी बनकर।"

विमला से यह सहन न हो सका। उसने समझा कि सेठ जी सरसाम में ऊटपटांग बातें बक रहे हैं। कहा—"जा ललिता, अब तू···"

सेठजी ने अधीरतापूर्वक कहा—"ठहरो विमला, पहले मेरी बात सुन लो। तुम्हें सन्तान चाहिये न? लाओ, आँचल फैलाओ। मैं तुम्हें सन्तान देता हूँ। मुझे पागल मत समझो, विमले, बहुत सोच-विचारकर ही मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ।"

"सोचने-विचारने की तुम्हारी शक्ति भूख और रोग ने हर ली है। संसार तुम्हारी खिल्ली उड़ायेगा, समाज···"

"समाज और संसार से मैं नहीं डरता। वे पैसे के गुलाम हैं, केवल पैसे के! देखना तुम, कोई मेरी ओर अँगुली तक नहीं उठायेगा, अपितु सब मिलकर मुझे श्रद्धा और प्रशंसा का पात्र बना डालेंगे। और यदि वे निन्दा करें भी, तो मुझे उनकी परवाह नहीं। अपने अपराध का परिक्षालन करने के लिए, मैं इस संसार से जूझने को तैयार हूँ। मैं अपने हाथों, अपनी बेटी का विवाह करूँगा। अपने हाथों से उसके सिर पर किरण-टँकी चुनरी उढ़ाऊँगा, उसके माथे पर बिन्दिया लगाऊँगा···"

भावोद्रेक से उनके नयनों में अश्रु भर आये। बोले—"परन्तु ललिता, तुम्हें आज मुझे क्षमा करना ही होगा। आज नौ दिन से मैं इसी ज्वाला में जल रहा हूँ, इसी ताप में तप रहा हूँ। यदि तुमने मुझे क्षमा न किया, तो यह ताप कभी कम न

देखो—न माँ की ममता याद रही, न पिता का लिहाज। इस छोकरी पर जान देने को तैयार है। मैं कहती हूँ···"

उनके अमूल्य वाक्य हृदयंगम करने का धीरज मुझमें न था। मैं क्रोध में भरा उठ खड़ा हुआ।

"अरे, यह क्या? जा रहा है, क्या तू?"

कुछ उत्तर न दे मैं बाहर की ओर चल दिया।

चाची थोड़ा हँसी। "चल तुझे बाहर तक पहुँचा आऊँ।"

निशा के साथ दो बातें करने की इच्छा भी दुराशा ही रही। क्रोध, खीझ, निराशा, असन्तोष···मेरा तन-मन क्रोध की लपटों में अग्नि-शिखा-सा फुँकने लगा।

* * *

मैंने कलम उठा लिया—मैं दिवाकर को लिखे देता हूँ, अभी सब-कुछ। पर सामने पड़े उसके उस पत्र पर दृष्टि जाते ही हाथ रुक गया। वह राह दिवाकर ने स्वयं ही बन्द कर दी थी।

लिखा है उसने—"कोई कुछ भी कहे, पर मैं भली-भाँति जानता हूँ कि निशा ने आत्महत्या मेरे ही कारण की। मैं अपना कर्त्तव्य, अपना प्रण पूर्ण न कर सका। आज से संसार के लिए मैं भी मर चुका। यदि किसी दिन, किसी प्रकार अपने मुख की यह कालिमा दूर कर सका, तो तुम्हारे सम्मुख आऊँगा, अन्यथा नहीं। बस, भाई, विदा।"

दोनों हाथों में अपना मुख छिपा मैं फूट-फूटकर रो उठा। बचपन की वे विस्तृत तसवीरें, नाना रूप-रंग धर, नयनों के सम्मुख नृत्य करने लगीं।

यकायक अँधेरे में आशा बिजली बन तड़प उठी—चाचाजी? क्या उन्हें पता है? क्या वह जानते हैं यह सब? सुदूर दक्षिण अफ्रीका में, अपने देशबन्धुओं के लिए जो जेल-यन्त्रणा सह रहे हैं; वह क्या जानते हैं कि यहाँ घर पर, उनकी लाड़ली बेटी पर क्या जुल्म ढाये जा रहे हैं?

तीन महीने? हाँ, उनके छूटने में, घर लौटने में अभी तीन महीने और रहते हैं।

पर तब तक क्या निशा जीवित रह सकेगी! शारीरिक और मानसिक कष्टों से तंग आ, क्या वह सच ही आत्महत्या न कर लेगी? और दिवाकर? उसका पता ही कैसे चलेगा?

माँ कब से पीछे आकर खड़ी थीं, मुझे पता न चला था।

"सन्ध्या होने आई, रे! आज तू कुछ खाये-पियेगा नहीं? यह क्या? तुझे तो बुखार है!"

उनकी गोदी में सिर रख मैं रो दिया। रोते-ही-रोते सारी घटना उन्हें सुना दी।

सुनकर माँ स्थिर हो बैठी रह गईं। तभी पिताजी आ गए।

पिताजी हँसकर बोले—"अरे! माँ-बेटे यहाँ बैठे-बैठे मेरे विरुद्ध कुछ गुप्त मन्त्रणा कर रहे हैं क्या?"

सदा की भाँति उनके उच्च-अट्टहास में हम उनका साथ न दे सके।

सब-कुछ सुनकर भी उनकी हँसी में कोई अन्तर न आया।

"अरे, तो इसमें इतना चिन्तित होने की कौन बात है! रामकृष्ण की तो याद है न तुम्हें? वह भी लन्दन में ही है आजकल। मेरा पत्र पाते ही वह दिवाकर को खोज निकालेगा। रमेश के जेल से छूटते ही सब ठीक हो जायेगा।"

तीन महीने बाद चाचा देश लौट आये।

पिताजी के मित्र भी दिवाकर को खोजकर ही माने। पिताजी ने दिवाकर को घर न जाने दिया, अपने पास ही रोक लिया।

उस मिलन के दिन कितनी आँखें भर-भर आईं; कितने हृदय स्नेह, ममता और आशा-विश्वास से धड़क उठे। वर्षों से संचित शोक-विषाद उन मीठे आँसुओं में घुल-मिल बह-बह गये।

परन्तु उस हर्षभरी मण्डली से चाची दूर ही रहीं। उन्होंने साफ-साफ कह दिया—"यदि दिवाकर और निशा का विवाह कर दिया गया, तो मैं जीवन-भर उनका मुँह नहीं देखूँगी, इस घर से चली जाऊँगी।"

सुनकर चाचा हँसे। कहा—"तुम क्यों यह त्याग करती हो! हम तुम्हें कोई कष्ट नहीं देना चाहते। तुम इसी घर में रहो। हम किराये का घर लेकर, वहाँ से अपनी बेटी की शादी कर देंगे।"

परन्तु चाचा की इस बात को सुनते ही माँ क्रुद्ध हो उठीं। उन्होंने साफ-साफ कह दिया—"बेटी तुम्हारी है—चाहे महल से ब्याह करो या जंगल से—पर मेरी बहू का पैर मेरे ही घर में पड़ेगा।"

२१

मंजिल का दीप

दरवाजे की घण्टी बजाते शुभा के हाथ काँप गये। उल्लास के आवेग से या उत्तेजना की प्रतिक्रिया से, यह वह स्वयं ही न समझ सकी।

दस महीने पूर्व की वह घटना, उसे एक बार फिर से स्मरण हो आई। उस मोटे मैनेजर के वे तीखे बोल एक बार फिर से उसके कानों में गूँज गये, "यह फाइलों और मिसलों का काम आपके बस का नहीं, मैडम ! जाइये ! जाइये ! आप तो जाकर किसी फिल्म कम्पनी में हीरोइन बन जाइये। सिर्फ वही काम आप ठीक से कर सकेंगी। क्यों यहाँ रहकर व्यर्थ अपना भी समय बर्बाद करती हैं, और मेरे काम का भी नुकसान करती हैं !"

उस दिन शुभा के हृदय में रोष छलक पड़ा था, और आँखों में आँसू जल उठे थे, परन्तु आज वह स्मृति भी सुखद थी। उसके मानस में आह्लाद भर आया और नयनों में हँसी गमक आई—'क्रोध में भरकर, उस दिन किसी ने जो कुछ कह दिया था, आज वही बात सत्य होने जा रही थी।'

दरवाजा खुला।

शुभा ने अन्दर पैर रखा।

माणिक बाबू ने उठकर, अपने पान-भरे मुख पर हँसी फैलाने की कोशिश करते हुए, उसका स्वागत किया, "आइये, आइये, शुभादेवी, मैं कब से आपकी प्रतीक्षा कर रहा था।"

शुभा ने अपनी कलाई घड़ी पर दृष्टि डाली, मानो कह रही हो—'किन्तु आपने दस बजे का ही तो समय दिया था ? मुझे तो पल-भर की भी देर नहीं हुई !'

माणिक बाबू हँसे। समीपवर्ती कुर्सी की ओर संकेत करते हुए बोले, "नहीं, नहीं, आप घड़ी न देखिये। आप तो सदा समय से ही आती [illegible]। मेरी ही मूर्खता है, जो समय से पहले ही प्रतीक्षा करने लगता हूँ।"

सामने वाली कुर्सी खिसका शुभा बैठ गई। बोली, "मूर्खता [illegible] नहीं, माणिक बाबू, इससे तो बस यही प्रमाणित होता है कि अपने काम के प्रति, [illegible]आपको कितनी लगन है कि पल-भर विलम्ब करना भी आपको रुचिकर नहीं।"

"जी हाँ, जी हाँ, बेशक। आपका कहना बिल्कुल [illegible] है। काम में देरी

करना या पसोपेश करना मुझे बिलकुल पसन्द नहीं। अब यही देखिये न। आपको एक नजर देखते ही मैं समझ गया था कि आप कितनी प्रतिभाशालिनी हैं। आप मेरी नई फिल्म की बेहतरीन 'हीरोइन' बन सकेंगी। यह खूबसूरती, यह चेहरा, बोलने का यह अन्दाज...''

''यह केवल आपकी गुण-ग्राहकता है, माणिक बाबू, नहीं तो मैं भली-भाँति जानती हूँ कि वास्तव में, मैं किस योग्य हूँ, और अपने ध्येय को प्राप्त करने के लिए, अभी मुझे कितना परिश्रम और अभ्यास करना है।''

''सभी बड़े लोग यही कहा करते हैं, शुभा जी। अच्छा तो लीजिये, यह काण्ट्रेक्ट। इस पर दस्तखत कर दीजिये।''

शुभा ने उस छपे हुए फार्म पर एक दृष्टि डाली।

उसकी सभी शर्तें वह पहले पढ़ चुकी थी और वे उसे मान्य थीं, फिर भी एक सरसरी निगाह से, वह उन्हें आद्योपान्त पढ़ गई। तत्पश्चात् कलम उठा, उसने दृढ़तापूर्वक, बड़े-बड़े अक्षरों में अपने हस्ताक्षर अंकित कर दिये।

उस फार्म को सन्तोषपूर्वक निहारते, माणिक बाबू ने गहरी साँस भरकर कहा, ''यह तो हुआ। अच्छा, अब लाइये, जरा अपना हाथ तो दिखाइये।''

''हाथ!'' शुभा सहसा कुछ समझ न सकी।

सस्मित मुसकान-भरे मुख से माणिक बाबू बोले, ''जी हाँ, हाथ। किसी की रेखाओं में छिपे उसके भविष्य को पहचान लेने का मुझे बड़ा शौक है।''

''अवश्य होगा, परन्तु मुझे हाथ दिखाने का शौक नहीं।''

''लेकिन, शुभा जी, यह मेरा उसूल है। किसी नये व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करने से पहले, मैं उसके हाथ की रेखाओं में, उसके भविष्य की कालिमा या लालिमा परख लेना चाहता हूँ।''

''हाथ की रेखाओं पर मैं विश्वास नहीं करती, माणिक बाबू। मैं कर्म की गति पर विश्वास करती हूँ। मनुष्य यदि चाहे तो क्या नहीं कर सकता?''

''कर्म की गति और भाग्य की रेखायें, दोनों ही एक-दूसरे के जाल में फँसी हैं, शुभा जी। आखिर आपको हाथ दिखाने में आपत्ति ही क्या है?''

''कुछ नहीं।'' शुभा ने कुछ चिढ़कर कहा, और अपनी हथेली सामने फैला दी।

''वह दूसरी भी।''

कुछ विरक्ति से शुभा ने अपना दूसरा हाथ भी आगे बढ़ा दिया।

माणिक बाबू की गिद्ध-सी पैनी दृष्टि उसकी हथेलियों पर गड़ गई।

कुछ देर शुभा निश्चल बैठी रही। फिर बोली, ''क्या देख रहे हैं? कुछ मुझे भी बतलाइये।''

माणिक बाबू हँसे। बोले, ''परन्तु आप तो हाथ की रेखाओं पर विश्वास नहीं करतीं न?''

"विश्वास न करने पर भी यदि कोई सामने बैठकर देखे तो उत्सुकता होना स्वाभाविक ही है।"

"सुनेंगी ? सुनिये···नहीं···आप रहने ही दीजिये।"

"बोलिये, बोलिये···बोलते-बोलते आप रुक क्यों गये ?"

"देखिये, शुभाजी, वास्तव में मुझमें एक बहुत बड़ी बुराई है। मैं सदा साफ बात कहना ही पसन्द करता हूँ। बात को घुमा-फिराकर या शब्दों के जाल में लपेटकर कहने का मुझे अभ्यास नहीं।"

"इसमें बुराई की क्या बात है ?" भोली शुभा बोली, "यह तो एक तरह से अच्छा ही है। आप-जैसे आदमी कभी किसी को धोखा नहीं देते।"

"बेशक, बेशक, यही बात है। इसीलिए मैं बुरा हूँ, बदनाम हूँ। इसीलिए मैं सोचता हूँ कि जो कुछ मैं कहूँगा, उसे आप बर्दाश्त नहीं कर सकेंगी।"

"क्यों नहीं कर सकूँगी ! मैं सच बात ही सुनना चाहती हूँ। मन खुश करने की बात तो, हाथ में सवा रुपया रख देने पर कोई भी ज्योतिषी बता देगा।"

माणिक बाबू हँस पड़े। फिर उसकी हथेलियों पर सिर झुकाते हुए बोले, "देखिये, असल में बात यह है कि आप बड़ी 'सैण्टिमैण्टल' हैं।"

"यह क्या ! यह तो कोई बात नहीं हुई ! कुछ काम की बात बतलाइये न।"

"यही तो सबसे भारी काम की बात है, मैडम। यह 'फिल्मी दुनिया' तो 'सैण्टिमैण्ट्स' की ही बनी है। कलाकार तो भावनाओं पर ही जीता है। अब जब कि तुम इस दुनिया में आ ही गई हो, तो यहाँ के रीति-रिवाज, नियम-उपनियम भी तुम्हें सीखने होंगे।"

शुभा कुछ समझ न सकी। धीरे से बोली, "भावुकता तो कलाकार की जन्म की निधि है। वह सीखने-सिखाने की चीज नहीं।"

"बेशक ! बेशक ! ठीक कहा तुमने। कलाकार जन्म से ही भावुक होता है। शायद यही वजह है कि मैं भी बड़ा 'सैण्टीमैण्टल' हूँ। प्यार की भावना···" कहते-कहते माणिक बाबू ने अपना हाथ शुभा के हाथ पर रख दिया।

बिजली की सी तेजी से अपना हाथ खींच, शुभा तड़ित वेग से उठ खड़ी हुई। मुख तपते लोहे-सा लाल हो गया, साँस धौंकनी-सी चलने लगी, सारी देह से मानों चिनगारियाँ-सी फूट पड़ीं।

माणिक बाबू भी विस्मित-से उठ खड़े हुए। आगे बढ़ते हुए बोले, "यह क्या ! आपने अपना हाथ क्यों खींच लिया ?"

तल में लहरें तूफान भले ही मचा डालें पर सागर अपनी सीमा नहीं टूटने देता। संयत, प्रशान्त स्वर में शुभा ने कहा, "जो कुछ देखना था, वह तो आप देख चुके। काण्ट्रेक्ट पर मैं हस्ताक्षर भी कर चुकी। अब आज तो और कुछ काम नहीं। मैं जाती हूँ।"

" वाह ! अभी से कैसे जाओगी ? बैठो, कुछ बातें करेंगे। अब हमें साथ-साथ

काम करना है, साथ रहना है। तुम्हारे इस तरह दूर-दूर भागने से तो काम नहीं चलेगा, शुभा।"

* * *

शुभा के नेत्रों से ज्वाला फूट पड़ी। तीखे स्वर में बोली, "क्या मतलब!"

माणिक बाबू हँसे, "इस सीधी-सी बात का भी अर्थ न समझ सको, इतनी नादान तुम नहीं हो। बैठो, पहले तुम्हारा नाम बदलने वाली बात तय कर लें।"

"मैंने आपसे उसी दिन कह दिया था कि मैं अपना नाम बदलने को तैयार नहीं हूँ।" शुभा के स्वर में दृढ़ता थी।

"मैंने भी तुम्हारे सामने उसी दिन स्पष्ट कर दिया था कि इस नाम के बदले तुम्हें कोई खूबसूरत-सा नाम रखना ही होगा। अब तुम मेरे साथ काम करोगी। तुम्हें मेरी मर्जी पर चलना ही होगा, शुभा।" माणिक बाबू भी अपनी बात पर अड़िग अटल थे।

शुभा के माथे पर बल पड़ गये। बोली, "काम के सम्बन्ध में आप जो-कुछ भी कहेंगे, मैं आपकी सब सुनूँगी। लेकिन अपनी व्यक्तिगत बात में आपका बोलना मैं बर्दाश्त नहीं कर सकूँगी।"

"सिर्फ मेरा बोलना ही नहीं, अब तुम्हें मेरी बहुत-कुछ बातें बर्दाश्त करनी होंगी, शुभा।"

शुभा क्रोध से काँप उठी, "आखिर आप कहना क्या चाहते हैं! साफ-साफ कहिये न।"

"यह 'फिल्मी-दुनिया' है, मैडम। यहाँ बातें समझाई नहीं जातीं, खुद समझनी पड़ती हैं। फिर भी अगर तुम इतनी ही नादान बनना चाहती हो, तो मैं तुम्हें खुद समझाने के लिए तैयार हूँ। आओ, इधर आओ।"

शुभा का रक्त खौल उठा। तत्क्षण काण्ट्रेक्ट का फार्म उठा, उसने टुकड़े-टुकड़े कर डाला और मुड़कर लौट चली।

"ठहरो! कहाँ जाती हो?" पीछे से माणिक बाबू गरज उठे।

शुभा के पैर न रुके। बोली, "घर।"

"लेकिन दरवाजा बन्द है। जब तक मैं न खोलूँगा, वह नहीं खुलेगा।"

"तो मेहरबानी कर, उसे खोल दीजिये।"

"यदि तुम इतनी कायर, इतनी बुजदिल थीं, तो आज इतवार के दिन, तुमने यहाँ अकेले ऑफिस में आने की जुर्रत कैसे की?"

उस वाणी में निहित व्यंग्य शुभा को छू भी न गया। दृढ़ स्वर में बोली, "क्योंकि मुझे आपके ऊपर विश्वास था। मैं सोच भी न सकी थी, कि आप इस तरह मुझे धोखा देंगे।"

"इसमें धोखे की क्या बात है? यह तो इन्सान की सख्त और अहम् जरूरियात है। इस बात से तो तुम इन्कार नहीं कर सकतीं कि भगवान् ने आदमी और औरत को

एक दूसरे के लिये बनाया है। फिर तुम यह कैसे सोच सकती हो, कि दिन-रात साथ-साथ काम करने पर भी, हम एक दूसरे से दूर रह सकेंगे।"

"मैं अपनी गलती मानती हूँ। यह दरवाजा खोल दीजिए। मुझे जाने दीजिये।"

"बन्द दरवाजे का खुलना इतना सहज नहीं, शुभा जी। काम शुरू करने की बात सोचते समय, क्या आपको इस बात का एहसास नहीं हुआ था, कि आपको अकेले हमारे साथ काम करना होगा। उस समय क्या आप यह नहीं सोच सकी थीं कि एक वक्त ऐसा भी आयेगा, कि एक जबरदस्त कशिश के आगे, आपको अपना यह ऊँचा सिर झुकाना ही पड़ेगा।"

शुभा का तन-मन काँप उठा, 'उफ़! आज वह किस नर-पिशाच के फन्दे में फँस गई! सच तो है! यह पापी यदि इस समय हाथ बढ़ाकर उसका हाथ पकड़ ले, तो वह क्या कर सकेगी?

जिन्दगी के उस पल को देखने से पूर्व ही, क्या प्राण त्याग देना उचित न होगा!

लेकिन मौत दूर थी, और जिन्दगी सामने खड़ी पैशाचिक हँसी हँस रही थी। शुभा को लगा—'इस संसार में केवल दो वर्ग के प्राणी हैं—एक भेड़िया, दूसरा बकरी।' भेड़िये के पैने दाँत, हमेशा बकरी के कोमल अंग की घात में लगे रहते हैं। बकरी का इष्ट है—अपनी प्राण-रक्षा का प्रयत्न करते, आत्मत्याग कर देना।

क्यों न वह इस खिड़की की पाँच मँजिलों से धरती की गोद में कूदकर आत्म-त्याग कर दे?

सामने सड़क पर मोटरें दन्नाती हुई इधर से उधर जा रही थीं। किनारे खड़ा एक अंगहीन व्यक्ति उन्हें भूखी आँखों से ताक रहा था।

शुभा काँप उठी, उसकी देह की रग-रग तड़प उठी—क्या प्रमाण है कि खिड़की से कूदकर भी वह मर सकेगी?

यदि अंग-भंग होने के पश्चात् वह जीवित ही रह गई, तो क्या वह जिन्दगी, मौत से भी अधिक भयानक न होगी?

सहसा शुभा को मानो होश आया—किसलिये वह प्राण त्याग देना चाहती है! क्यों उसके मन में इतनी कायरता पनप आई है?

जीवित रहने की कामना, इस दीन-दरिद्र, अंगहीन भिखारी के मन में भी है। कुत्ते के समान, जीवन के दिन बिताकर भी, वह जीने को तैयार है। उसने किसी दिन घबराकर, अपनी जिन्दगी का अन्त नहीं कर डाला!

क्यों!

कौन-सी प्रेरणा है, वह कौन-सी शक्ति है, जो उसे जीवित रहने को बाध्य कर रही है?

क्या उसी शक्ति ने शुभा को भी जन्म नहीं दिया है?

क्या वही प्रेरणा उसके जीवन की संचालिका, उसके नयनों की ज्योति, उसकी आत्मा का सम्बल नहीं है? क्या अधिकार है शुभा को, अपने अन्तर्मानस में ज्योतित

उस ज्योति को बुझा देने का ?

नहीं, वह मानव की सन्तान है। उसे अमानवीय साधन अपनाने का अधिकार नहीं। उसे जीवित रहना ही होगा। पथ पर निरन्तर चलती रहेगी, तो किसी-न-किसी दिन, मंजिल को मजबूर हो पास आना ही होगा।

माना कि वह दुर्बल है, निर्बल है, निस्सहाय बकरी के समान शक्तिहीन है, परन्तु उसकी वह शक्ति-विहीन निर्बलता साधारण दुर्बलता नहीं। उसमें मानव-बुद्धि का सशक्त बल घुला-मिला है। वह साधारण बकरी नहीं, मानव की सबल सन्तान है।

सहसा शुभा के अन्तर्मानस में दिवंगता माँ की मंजुल मूर्ति लहरा गई। कानों में उसके मीठे बोल गूँज उठे। याद आ गई शैशव में सुनी कोई कहानी, जब कि एक नाई ने शेर की आँखों में आँखें डाल, उसे परास्त कर दिया था।

और शुभा को लगा, मानो मानस में मूर्त्तित माँ, मधुर हँसी-भरे अधरों से बोल रही है, 'बेटी, दुर्बलता तन की नहीं, मन की होती है। आत्मरक्षा का साधन, शारीरिक शक्ति नहीं, केवल आत्मबल है। आत्मबल के पुण्य तेज से ही एकाकिनी सीता, लंकाधीश रावण से अपनी रक्षा कर सकी थी।'

शुभा नख से शिख तक काँप उठी।

चेतना ने खिलखिलाकर कहा, 'पापी के मन में शक्ति नहीं होती, बावरी! आत्मबल से नरपशु सिंह को भी वश में किया जा सकता है। इस बुजदिल नारकीय कीड़े की तो बात ही क्या! तुझे शक्तिमान बनना होगा। मन के भय का प्रगट में चिह्न तक न देना होगा। यदि इस मानवीय दानव को पता चल गया कि तेरे मन में तनिक-सा भी भय है, तो यह अभी भूखे भेड़िये-सा तुझ पर टूट पड़ेगा, और...'

प्रयासपूर्वक स्वर को सतेज और निर्भीक बनाते, स्थिर नेत्रों से उसकी ओर ताकते, शुभा ने दृढ़तापूर्वक कहा, "नहीं, इस प्रकार की किसी दुर्भावना को मैं अपने मन में स्थान नहीं दे सकी थी।'

"लेकिन क्यों ? आपका ऐसा सोचना ही तो स्वाभाविक था।"

"क्या स्वाभाविक था ? यह सोच लेना कि संसार में केवल कामुकता को ही स्थान है। भाई-बहन के स्निग्ध-स्नेह का कहीं कुछ मूल्य नहीं।"

"बहन और भाई में रक्त का सम्बन्ध होता है, शुभा जी। लेकिन..."

"मानव और मानव में भी रक्त का सम्बन्ध होता है, माणिक बाबू। इन्सान को इन्सान के ऊपर भरोसा करना ही पड़ता है। मैं दावे के साथ कह सकती हूँ कि जब तक धरती पर इन्सानियत है, तब तक किसी भी लड़की को, किसी भी लड़के से भय खाने की जरूरत नहीं।"

"क्या आप ऐसा समझती हैं ?" माणिक बाबू आगे बढ़ते हुए बोले।

शुभा दो डग पीछे हट गई। बोली, "केवल समझती ही नहीं हूँ, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। दरवाजा खोल दीजिये, माणिक बाबू। आप अच्छी तरह जानते हैं कि आप इतने बुजदिल नहीं हैं, जो एक निरीह नारी पर अत्याचार कर सकें।"

"बुजदिल ?"

"हाँ, बुजदिल ! जिसको अपनी शक्ति पर विश्वास नहीं होता, वही नारी के दुर्बल शरीर पर जय पाकर, अपनी सामर्थ्य का प्रमाण पाना चाहता है। क्या आप बुजदिल हैं ? कायर हैं ?"

"नहीं।"

"इसका प्रमाण ?"

माणिक बाबू ने तेजी से आगे बढ़ दरवाजे का ताला खोल दिया।

शुभा लड़खड़ाते पैरों से सीढ़ियाँ उतर गई।

२२

लाल बोतल, पीले पत्ते

छुट्टी होने में अभी देर थी। आफिस में बैठे-बैठे अशोक सोच रहा था कि मैनेजर से कहकर जाना उचित होगा या बिना पूछे ही उठकर चल दे।

आज उसे बैंक जाना था।

बैंक में जितना भी धन था, 'लौकर' में जितना भी जेवर था, सब निकाल लाना था, क्योंकि रात की ट्रेन से, वह बम्बई भाग रहा था।

अधिक तर्क-वितर्क न कर, उसने मन-ही-मन निश्चय किया, 'जब कि कल से इस आफिस में पैर ही नहीं रखना है, तब मैनेजर की गुलामी आज से ही क्यों न छोड़ दे!'

'हाँ, यही ठीक है। मैनेजर से कुछ कहने या पूछने की कोई आवश्यकता नहीं।'

अनायास ही उसकी दृष्टि कैलेण्डर की ओर उठ गई।

"अरे, आज शनिवार है। पहले से ध्यान ही नहीं रहा। दो बज रहे हैं। बैंक तो बन्द हो गया होगा।"

अशोक खिन्न हो उठा।

सामने रखे कागज को पैंसिल से चीरते हुए, मन-ही-मन कहा, "खैर, कल ही सही।"

अशोक घर छोड़ बम्बई भाग रहा था।

मन में दुविधा नहीं थी, संकोच नहीं था। घर पर था ही कौन, जिसकी वह चिन्ता करे!

पत्नी की मृत्यु हो चुकी थी। माँ को वह फूटी आँखों नहीं सुहाता था। उठते-बैठते, सोते-जागते, दिन-रात वह उसे कोसती रहती थीं।

और राधा?

वह उसकी दूसरी पत्नी थी।

किसी दिन भी अशोक उसे पत्नी-रूप में स्वीकार न कर सका था। जिस लड़की को देख-भालकर, माँ घर ले आई थीं, उसका भार माँ पर ही छोड़, वह निश्चिन्त था।

उसने कभी दृष्टि उठा, उसकी ओर देखने का प्रयास तक न किया था।

वे दोनों अपनी स्थिति से सन्तुष्ट थीं। उन्हें अशोक की आवश्यकता न थी।

उन्हें एक दूसरे के सहारे छोड़कर चले जाने में कोई दोष न था—ऐसा अशोक का दृढ़ विश्वास था।

अधिक तर्क-वितर्क करना अशोक का स्वभाव न था। घर था, और वे दोनों थीं। उस घर को किराये पर उठा, मजे से उन दोनों का काम चल सकता था।

वे जेवर शीला के थे, और वह संचित धन, उसकी अपनी कमाई का था। निश्चय ही उस पर, उन दोनों का कुछ भी अधिकार न था।

राधा भी यही सोचती थी—

घर से वह भाग नहीं सकती थी, पर जिन्दगी से तो भाग ही सकती थी। जिस साधन से लाभ उठाया जा सकता हो, उससे लाभ न उठाये इतनी मूर्ख वह कदापि नहीं।

पति गये आफिस और सास पड़ोस में गप्पें लड़ाने—इससे अच्छा अवसर भला और कब मिलेगा?

राधा ने लपककर आँगन की साँकल लगा दी।

स्टूल उठा लाई और उस पर चढ़कर, काँपते हाथों से झूले की रस्सी में फन्दा कसने लगी।

तभी किसी ने द्वार खटखटाया—खट्-खट्-खट्!

राधा के पैरों तले से धरती खिसक गई।

स्टूल डगमगाया और गिर पड़ा। मूर्छिता राधा को अपने पदतल तले दबा, वह अट्टहास कर उठा।

मौत का फन्दा अधर में झूलता ही रह गया।

स्टूल के गिरने की ध्वनि बाहर तक पहुँची, पर कोई द्वार खोलने न आया। बाहर प्रतीक्षा करता अशोक कुछ समझ न सका।

घर के रखवालों की वह जोड़ी बहुत पुरानी है। एक पल्ले को खींचकर, दूसरे को धक्का देकर, बीच की झिरी में से बहुत-कुछ देखा जा सकता है।

उस सन्धि में आँख गड़ा, अशोक ने जो-कुछ देखा, उससे उसका हृदय सनाका खा गया।

फाइलें नीचे पटक, उसने इधर-उधर देखा—समीप की सारी धरती सूखे पत्तों से आच्छादित हो रही थी।

प्रबल आँधी के झकोरे खा-खा, जो वृक्ष मतवाले हो झूम रहे थे, वे अपनी प्राण-रक्षा के निमित्त, उस चंडिका की सेवा में, अपने सारे पीले पत्ते अर्पित किये डाल रहे थे।

दूर-दूर तक दृष्टि दौड़ाने पर भी, प्रकृति द्वारा की गई, उस प्रकृति-पूजा के अतिरिक्त, कहीं कुछ और दृष्टिगत न होता था।

अशोक ने उचककर, समीपवर्ती बरगद के वृक्ष से, एक टहनी तोड़ ली।

उसी को अँगुलियों के बीच दबा, उसने किवाड़ों के बीच में डाल दिया।

दो-चार बार प्रयत्न करते ही, साँकल कुन्डे से विलग हो गई।

दौड़कर आँगन पार कर अशोक बरामदे में जा पहुँचा। स्टूल अलग हटा उसने मूर्छिता पत्नी को सीधा उलट दिया। उसके माथे पर चोट लग गई थी जिसमें से धीरे-धीरे रक्त रिस रहा था।

भागा-भागा वह रसोई में गया और ठंडा पानी ले आया।

जल के छींटे दे-देकर, उसने राधा को आपाद-मस्तक भिगो डाला।

राधा की चेतना लौटी। उसे लगा कि वह अतल जल मे डूबी जा रही है—क्या उसकी मृत्यु हो गई है, और वह लोक-परलोक का विभाजन करने वाली, कर्मनाशा नदी में डुबकियें खा रही है!

उसने डरते-डरते आँखें खोलीं। देखा कि एक अति सुन्दर मुख उसके ऊपर झुका हुआ है।

दूसरे ही क्षण पानी का छींटा आँख में पड़ा और उसने पलकें मूँद लीं।

राधा को नेत्र खोलते देख, अशोक के हृदय से शिला-सम भार उतर गया।

उसने मृदु स्वर में पूछा, "कैसी तबीयत है?"

राधा कैसे बोले!

जिस काम को करने को हाथ बढ़ाती है, वही बिगड़ जाता है। इतनी भी क्षमता नहीं कि सफलतापूर्वक मृत्यु का ही आलिंगन कर सके? छिः!

धिक्कार से मानो उसका हृदय फटने लगा।

"क्या तबीयत बहुत खराब है? उठकर कमरे तक चल सकोगी?" अशोक पूछ रहा था।

राधा ने चाहा कि उठ बैठे।

अपनी समस्त शक्ति समेट उसने उठना चाहा, पर उठ न सकी। तनिक-सा हिलते ही उसका सिर चकरा गया। यदि अशोक तुरन्त सँभाल न लेता, तो वह गिर ही पड़ती।

दूसरे ही क्षण उसे अपनी भुजाओं में सँभाल, अशोक उठ खड़ा हुआ।

राधा तड़प उठी। "छोड़ दो, मुझे छोड़ दो। दीवार का सहारा ले, मैं स्वयं अपने पैरों पर चल सकूँगी।"

"हाँ, इसका तो मुझे भी विश्वास है।" कौतुक-स्नेहभरे स्वर में अशोक ने कहा।

विवश राधा चुप हो रही।

मन-ही-मन उसे इस पुरुष की शक्ति पर अचरज हो रहा था। कितनी सरलता से वह उसे अपनी बाँहों में उठाये लिये जा रहा था!

मानो वह कोई नन्हा-सा खिलौना हो, जिसे उसका शिशु-स्वामी ममतापूर्वक अपने हृदय से सिमटाये लिये जा रहा हो!

कमरे में पहुँच अशोक ने उसे आरामकुर्सी पर बैठा दिया। कुर्सी की पीठ से सिर टिका राधा ने सुख से नयन मूँद लिये। तभी अशोक ने कहा, "सीधी हो जाओ। तुम्हारे वस्त्र बदलवा दूँ।"

राधा हड़बड़ा उठी, "नहीं, नहीं, आप बाहर जाइये। मैं स्वयं ही बदल लूँगी।"

वस्त्र कुर्सी के हत्थे पर डालते हुए अशोक ने कहा, "अच्छी बात है, पर कुर्सी से लुढ़ककर, फिर किसी नई विपत्ति की सृष्टि न कर बैठना।"

बाहर जाते समय वह द्वार बन्द करता गया।

उठने का कुछ भी प्रयास न कर, राधा ने कुर्सी की पीठ पर सिर डाल, नेत्र बन्द कर लिये। सोचने लगी—'ऐसे समय अशोक के स्थान पर यदि वह होती, तो हाय-हल्ला मचाकर या अतिशय लज्जा के बाहुल्य की बाढ़ लाकर, प्रलय का-सा तूफान खड़ा कर देती।'

किन्तु अशोक के कार्य-कलाप में कहीं भी अतिरंजना का चिह्न न था।

कितनी सहज में आज उसने राधा से बातें कर लीं!

मानो दस मास की इस सुदीर्घ अवधि में, यह उनकी प्रथम भेंट, प्रथम संलाप न था! मानो यह उनके नित्य-प्रति के सुव्यवस्थित जीवन की एक साधारण-सी दुर्घटना-मात्र थी! जिसे अशोक ने अपने पौरुष की क्षमता से पलक मारते सँभाल लिया था।

कितनी सरलता से आज उसने सिद्ध कर दिया था, कि वह कितनी ही पतित क्यों न हो, फिर भी वह एक क्षमताशाली, शक्तिमान पुरुष है; और वह कितनी ही चरित्रवान क्यों न हो, फिर भी केवल एक दुर्बल, अबला नारी है।

* * *

राधा की आँखों में आँसू ढुलक आये।

संसार में जितनी भी अनहोनी है, सब उसी के भाग्य में क्यों लिपिबद्ध हो उठी है!

जन्मोपरान्त अनेक शिशु मातृविहीन हो जाते हैं, किन्तु यह तो सदा आवश्यक नहीं होता, कि वह नवजात शिशु कन्या ही हो? और यदि कन्या भी हो तो वह इतनी दुर्बल, इतनी चिड़चिड़ी, कुरूपता की ऐसी साकार प्रतिमा, कि उसका पिता भी उसे प्यार न करना चाहे!

दूसरी माँ भी प्रायः घरों में आ जाती हैं। निश्चय ही वे सपत्नी की सन्तान को माँ का-सा स्नेह नहीं दे पातीं, परन्तु कुछ तो वे देती ही हैं—निरादर, ताड़ना, तिरस्कार।

उसका-सा भाग्य होगा किसका, कि मिले केवल उपेक्षा!

मानो घर में उसका कुछ अस्तित्व नहीं, कोई मूल्य नहीं।

वह है, तो केवल एक निष्प्राण वस्तु—मानो कोई बुझा कोयला—जिसे घर के किसी कोने में फेंक, कोई दोबारा दृष्टि उठाकर भी नहीं देखता!

भाग्य का खेल, यहीं आकर पूरा हो गया होता तो कितना अच्छा होता !

मातृहीना, अनादृता, विमाता के दुर्निवार शासन में पलती, त्रस्त राधा को पति भी मिला तो कैसा—पतित ! शराबी ! दुराचारी !

राधा काँप उठी, सिहर उठी। जीवन की बाजी में आज उसने अन्तिम दाँव खेलना चाहा था, वह भी विफल रहा !

द्वार खुला।

राधा ने नेत्र खोलकर देखा—हाथ में चाय का प्याला लिये अशोक सामने खड़ा था।

राधा पर दृष्टि पड़ते ही वह चकित-सा बोल उठा, "यह क्या ! तुमने अभी तक कपड़े नहीं बदले ? कुछ बीमार पड़ने की इच्छा है क्या ?"

राधा का हृदय तिक्त हो उठा—जो मन में मृत्यु की कामना छिपाये, मौत का आवाहन कर रहा हो, उसे बीमारी का भय ! बीमारी भी तो इस जले शरीर को नहीं छूती ! इस विश्व में मरने का, क्या कोई उपाय नहीं !

शिथिल-सी वह उठी। लड़खड़ाते डगों से स्नानगृह की ओर बढ़ी, तो अशोक ने झट आगे बढ़, सहारे के लिए हाथ बढ़ा दिया।

* * *

राधा प्रायः मन-ही-मन सोचा करती थी—अच्छा ही हुआ, जो पति ने उसके शरीर पर अपने अधिकार की माँग नहीं की !

यदि कहीं ऐसा हुआ होता तो उसने घृणा के मारे, अपने शरीर को छुरियों से काट डाला होता।

किन्तु आज खोजने पर भी, उसे अपने मन में, कहीं उस घृणा का चिह्न तक न मिला।

वस्त्र बदल, उसने चाय का प्याला हाथ में थाम लिया।

उसके मुख से प्याला लगा था। पीछे खड़ा अशोक उसके माथे पर पट्टी बाँध रहा था, कि आँगन में हरिमति का स्वर सुनाई दिया, "अशोक ! अरे, तेरी ये फाइलें बाहर किसने फेंक दी हैं, रे ?"

कहते-कहते वह ठीक द्वार के सामने आ खड़ी हुईं, तो अवाक् हो रहीं। उनके सर्वांग में अग्नि धधक उठी। दिन-दोपहरी ऐसी निर्लज्जता की वह कल्पना भी नहीं कर सकती थीं।

पुत्र को लक्ष्य कर, उनकी क्रोधाग्नि फूट पड़ी, "बस ! देख लिया तेरा स्वांग ! मुझे दिखाने को ही इस मायाविनी से दूर-दूर रहा करता था, तू ? दुनिया में अब तक यही चलन देखा था कि पत्नी, थके-माँदे पति की सेवा करे। देखती हूँ अब तो जमाना ही उलट गया है। फिर भी ऐसा तो किसी घर में न देखा, कि घर का स्वामी एक मामूली नौकर की तरह, बीबी को चाय बना-बनाकर पिलाये ! दिन-रात रानी के समान, खटिया तोड़ने वाली उस छलछन्दिनि के झूठ-मूठ सिर-दर्द का बहाना करते ही,

उसके सिर में तेल-फुलेल मल, पट्टी बाँधने में जुट पड़े।"

किसी ने कुछ उत्तर न दिया।

धम-धम पैर पटकती, हरिमति वापस लौट गई।

अशोक ने मुसकराते हुए कहा, "देखो, आज तुम्हारे लिए, मुझे कितनी बातें सुननी पड़ीं।"

राधा के हृदय में आग जल रही थी। खाली प्याला नीचे रखती, व्यंग्यपूर्वक बोली, "और किसी के लिए कभी तुमने इससे भी अधिक कर्णकटु बातें सहन की होंगी। उनसे तो मन में क्षोभ न हुआ होगा!"

अशोक के उज्वल मुख पर काली बदली-सी घिर आई, "नहीं, पहले कभी, मैंने किसी के लिए कुछ सहने का प्रयास नहीं किया। उलटे कटु वाणी में, दुर्वचनों का विष घोल-घोल उसे पिलाता रहा। यहाँ तक कि उसकी नश्वर देह, इस जगत के दुःखों से त्राण पा गई।"

लगा कि वे मर्मभेदी शब्द, बरबस उसके हृदय को चीर, बाहर निकले पड़ रहे हैं।

राधा अनुतप्त हो उठी। बोली, "क्षमा करो मुझे। मैं न जानती थी कि मेरी बात से तुम्हें इतना दुःख पहुँचेगा।"

अशोक ने तिक्त स्वर में कहा, "और किसी को क्षमा करने या न करने का मुझे क्या अधिकार है, राधा, जबकि अभी तक मैं स्वयं अपने को ही क्षमा नहीं कर पाया। अच्छा, मैं जा रहा हूँ।"

अनजाने ही राधा ने पूछ लिया, "कहाँ?"

"मयखाने।" अशोक ने कुछ मुसकराकर कहा, और वह बाहर निकल गया।

राधा के मुख पर मानो किसी ने कसकर तमाचा मार दिया। तकिये के बीच मुख छिपा, वह फूट-फूटकर रो दी।

* * *

उन अश्रुओं के बीच, आज एक बात भली-भाँति सुस्पष्ट हो उठी—इस घर में केवल वही नहीं थी, जो अपनी अतृप्त कामनाओं की दारुण अग्नि में जल-जलकर, तिल-तिल भस्म हो रही थी। कोई और भी था, जिसका कोमल मन कच्चे काँच-सा टूट चुका था।

उस व्यक्ति ने अपने हाथ अपना स्वर्णिम संसार नष्ट-विनष्ट कर डाला था।

क्षार-क्षार हो चुकी उस सृष्टि की अवशिष्ट राख में, वह अभी तक लोट-लोटकर तड़प रहा था।

उस दुःख, उस सन्ताप को भूलने-भुलाने के लिए, उसने आँखें मूँद, पागलों के समान, सहारे के लिए हाथ बढ़ाया था। दुर्दैव ने उसे सहारा दिया भी, तो कैसा!

ऐसा, जो उसे, नित्य-प्रति, प्रति-पल, पतन के गहन गर्त्त में डुबोये लिये जा रहा था!

रूप-लावण्यहीना राधा ने विधाता से पाया था—मातृहीन संसार; पिता से अधूरी शिक्षा, और उपेक्षापूरित तिरस्कार; जीवन के इस सत्रहवें वर्ष में, केवल यही तो एकमात्र पूँजी थी उसकी !

अन्त में भाग्य ने दया कर, उसके हाथों में सौंप दी—एक अमूल्य निधि। मिथ्या गर्व से अन्धी बन, वह उसका मूल्य तक नहीं पहचान पाई !

सुहागरात के दिन, सुनन्दा ने सच ही कहा था, "भाभी, किसी से घृणा करना बहुत सहज है; प्यार निभाना अति कठिन। धूलि में लिपटे हीरे को जौहरी ही पहचान सकता है। देखना यही है, कि तुम्हारे नयनों में वह ज्योति है या नहीं।"

उस समय, मन-ही-मन हँसकर, राधा ने सोचा था—'अपना खोटा रुपया भी प्यारा लगता है। तुम्हारे भाई हैं—हीरा क्यों न कहोगी !'

उसके भाव शायद सुनन्दा से छिप न सके थे। शायद इसीलिए उसने कहा था, "प्रिय के वियोग में, इन्सान पशु भी बन सकता है। यह बात केवल वही समझ सकता है, जिसने भाभी की मौत से पहले भैया को देखा हो, उन दोनों के स्नेह को निरखा हो। उफ ! भैया क्या थे, क्या हो गये !

"मित्रता के आवरण में, सान्त्वना देने के बहाने, जिन कुमार्गियों ने उन्हें कीचड़ में ढकेल दिया, ईश्वर करे, वे खल-कामी कीड़े की मौत मरें।"

* * *

आज उन बातों को स्मरण कर राधा काँप उठी।

पति ने उसका आदर नहीं किया था, यह सच है। परन्तु स्वयं उसने भी तो कभी घनिष्ठता नहीं बढ़ानी चाही थी, अपितु उसकी उपेक्षा को भगवान का वरदान मान, सिर-माथे चढ़ा लिया था—कारण, जब उसने सुना था, कि उसका पति शराबी, चरित्रहीन, आवारा है, तभी असीम घृणा से उसका मन विमुख हो उठा था।

सूखी-सूखी, जलती आँखों से, शून्य में न जाने क्या खोजा करती। थककर, निराश हो, आँखें मूँद, खिड़की पर सिर टेक देती : सोचती—इस जीवन से तो मरण ही अच्छा !

अपने ही अभावों में, अपनी ही व्यथा की पूँजीभूत वेदना में अपने को भूल, उसने जग को भुला डालना चाहा था। कभी नहीं सोचा था कि इस धरती पर कोई और भी शेष है, जिसकी अपनी अनेक वेदनाएँ हैं, अगणित शूल हैं ; जिनके निराकरण का उस अभागे के पास कोई उपाय नहीं।

उसे किसी के संग जीवन बिताना है, यह तो उसने सोचा; पर किसी और को भी उसका सामीप्य स्वीकार करना होगा—यह वह नहीं सोच सकी !

स्वयं अपने को उसके अनुरूप बनाने का प्रयास तो क्या करती, उलटे अनादर और घृणा प्रदर्शित कर, उस शोकाच्छन्न विषाद की भग्न प्रतिमूर्त्ति के पतन का मार्ग और भी प्रशस्त कर डाला ? छिः !

ग्लानि और धिक्कार से राधा का रोम-रोम उसका तिरस्कार करने लगा।

उसने सोचा—जो पुरुष उसका पति है, उसे वह यदि प्रेम न कर सके, तो न सही; किन्तु उसके जीवन की तप्त मरूभूमि में भीषण बवण्डर उड़ाने का भी उसे अधिकार नहीं।

भूले-भटके उस राही को यदि वह किसी मरुकुंज का पथ दर्शा सके, तो क्या उसके इस निष्प्रयोजन जीवन को जीने का एक लक्ष्य न मिल जायेगा?

* * *

अश्रु थम गये, पर अन्तर में उमड़ती-घुमड़ती विचारधारा न थम सकी।

सूखी सरिता में जब वर्षा का जल बाढ़ ला देता है, तब वह जैसे उमगकर, वेग से बढ़ चलती है, कुछ ऐसी ही दशा उसके मन की भी हो उठी।

उस प्रबल धार में, कितने गिरि-गह्वर, कितने तरु-पल्लव, कितने तट-तिनके बरबस बह जाते हैं। कुछ ऐसे ही राधा के मानस-तीर खड़े, लाज-संकोच, घृणा और अभिमान के कगारे, टूट-टूटकर गिरने लगे।

सास ने भोजन के लिए पुकारा तो राधा ने अनसुना कर दिया। दासी ने आकर द्वार खटखटाया, तो उसने उसे धमकाकर भगा दिया।

रात आधी से अधिक बीत गई, पर राधा के नयनों में नींद न आई।

अशोक आया।

उसके पैर लड़खड़ा रहे थे।

मुख से दुर्गन्ध निकल रही थी।

जूते उतारे बिना ही वह शैया में जा लुढ़का।

सम्पूर्ण घृणा को तिलांजलि दे, अपने धड़कते हृदय का समस्त साहस समेट, राधा उसके पायताने जा खड़ी हुई, और उसके जूतों के फीते खोलने लगी।

अभागा शराबी अतीत में भटक रहा था। उसने पुकारा, "शीला!"

भयभीत हो, राधा ने आँखें मूँद ली। धीरे से बोली, "जी।"

अशोक ने हाथ बढ़ा उसे अपने पार्श्व में खींच लिया।

अधरों तक आती चीख को, राधा ने दाँतों से दबा दिया।

सुबह-सवेरे अशोक की आँख खुली। ध्यान आया—आज उसे अवश्य निकल भागना है।

* * *

इस जीवन से वह ऊब उठा था। उसे लगता था, कि जहाँ वह जीवन के दिन काट रहा है, वह उसका घर नहीं, अपितु बन्दी-घर है—जहाँ कोई भी अपना नहीं, सभी पराये हैं।

फिर भी वहीं रहते रहना? जीवन के शेष दिन उसी नरक में बिता देना? छिः!

कैसी विडम्बना है! भाग्य का यह कैसा निष्ठुर परिहास, कितना क्रूर खेल है!

मित्र की बात अशोक के मन में गड़कर रह गई थी। सच तो है—जिस

मरुथल में, इतने दिन से तिल-तिल जलता आ रहा है, उसकी तपिस यहाँ बुझना असम्भव है।

कहाँ यहाँ की गन्दी गलियाँ, कहाँ बम्बई का चमकीला रूप !

वहाँ कम-से-कम कुछ दिन तक तो, रूप-रस की मादक गन्ध में, सुवासित वारुणी की तरल, अविरल शीतलता में, इस जीवन की तप्त मरुभूमि में, श्यामल हरीतिमा बिखराई जा सकेगी।

अशोक उठा, फिर लेट गया।

गत रात्रि की अनुभूतिएँ, मन पर अपनी छाप छोड़ गई थीं।

वह हँसा—स्वप्न भी कितने विचित्र होते हैं ! रात शीला मानो सच ही लौट आई थी।

चलो, यह भी अच्छा ही हुआ। इस घर से विदा लेते समय, शीला से भी अन्तिम विदाई मिल गई।

अँगड़ाई ले वह उठ खड़ा हुआ।

सोचा था—सीधे रावत के घर जायेगा, किन्तु कमरे के बाहर पैर रखते ही, सहसा वह ठिठककर खड़ा हो रहा—

रात के सघन अँधियारे में, क्या वह भूल से, किसी अन्य व्यक्ति के घर में आ घुसा है ?

नहीं, यह तो उसका अपना घर है।

फिर, आज यह कैसा परिवर्तन है, कैसी स्वच्छता है ! समस्त वातावरण में यह कैसी भीनी-भीनी सुगन्ध-युक्त महक व्याप गई है।

मालूम होता है—आज कोई पर्व है !

आँगन में पड़ी खाट पर बैठी माँ बड़बड़ा रही थी। अशोक पर दृष्टि पड़ते ही, वह भड़क उठी, "मैंने तो पहले ही कहा था, बेटा—देख-भालकर शादी करना। पर अपने आगे तू किसी की कुछ सुनता थोड़े ही है।

"मैं तो पहले ही जानती थी। साल-भर भी ब्याह को नहीं हुआ, बहुरिया लच्छन बदलने लगी ! ऐसे ही यदि दोनों हाथों से लुटाया गया···"

मानो यह बहुत बार के सुने, उन्हीं पुराने शब्दों की पुनरावृत्ति है। मानो, बीच की दुःखमय अवधि को लाँघ, वह एक बार फिर से अतीत में प्रवेश कर गया है।

स्मृति पर रात का सपना धुँधला-धुँधला-सा छा गया।

शायद वह अभी भी सपना देख रहा है !

शायद शीला अभी फिर कहीं चलती-फिरती दिखाई दे जायेगी। घर के किसी काम में व्यस्त, उसकी सुघड़-सलोनी मूर्त्ति, शायद अभी फिर नजरों के आगे घूम जायेगी।

भ्रमित-सा, भूला-सा, वह अन्दर की ओर मुड़ गया।

सामने का यह कमरा कभी दूध-सी धुली चाँदनी और नर्म गद्देदार सोफा-

सेट से सुसज्जित रहा करता था। शीला के संग, वह इसी कमरे में, अपने मित्रों का स्वागत-सत्कार किया करता था।

शीला की मृत्यु हो जाने के बाद से यह रद्दी अखबार, टूटी बोतलों और घर के फालतू सामान का अड्डा बन गया था।

पर आज पुनः उस कक्ष की श्री लौट आई है; और बीचवाली संगमरमर की छोटी मेज पर, कुछ झुकी हुई, जो रमणी मनोयोगपूर्वक गुलदस्ते में फूल सजा रही है, वह निश्चय ही शीला है।

तूफान की गति से आगे बढ़ते, अशोक ने युवती की पीठ पर बिखरी कुन्तल केश-राशि में अपना मुख छिपा लिया। अस्फुट स्वर में कहा, "शीला !"

तरुणी ने पलटकर देखा।

सपना टूट गया।

नशा हिरण हो गया।

संभ्रम, अशोक देखता का देखता रह गया।

सकपकाकर कहा, "तुम !"

वह हँसी, बोली, "उठ गये ? आइये। चाय तैयार है।"

अशोक यन्त्रवत् उसके पीछे-पीछे चल दिया।

उसका हृदय बार-बार उससे पूछ रहा था, "क्यों, धोखा तो नहीं खा रहे हो ? किसी अन्य युवती के पीछे तो नहीं चल रहे हो ? सुसंस्कृत वेश-भूषावाली यह रमणी राधा ही है न ? मैली धोती, उलझे गन्दे बाल, सिर झुकाये-झुकाये, अटपटी, लटपटी, पैर घसीट-घसीटकर चलने वाली राधा !"

वह मेज पर बैठ गया।

नहीं, यह नित्य की निःस्वाद, ठण्डी, फीकी या अति मीठी, चिकने गिलास में भरी काली-भूरी चाय नहीं !

केतली में से ढलती चाय में से, भीनी-भीनी सुगन्धिमय भाप उड़ रही थी। सामने प्लेट में सुशोभित नाश्ता, नित्य के समान गन्दी तश्तरी में भिनकने वाला नाश्ता न था।

अशोक ने दोनों हाथों के बीच अपना सिर थाम लिया।

जब जीवन में कोई आस नहीं रही थीं, इस शरीर को आगे ढकेलना गुरुतर से भी अधिक गुरुतर होता जा रहा था, तब मृग-मरीचिका के समान भटकाने आ पहुँची है यह राधा !

कितने दिन चलेगा इसका यह नूतन उत्साह ?

अशोक के हृदय में छलकता स्नेह निःशेष हो चुका है। जीवन में प्रेम केवल एक बार ही किया जा सकता है। उसकी वह अन्तर्निधि किसी और को अर्पित की जा चुकी है। शुष्क, स्नेह-विहीन इस जीवन में जब कि निचोड़ने पर भी, बूँद-भर भी स्नेह न झर सकेगा, तब क्या घोर निराशा से इस अभागिन का हृदय हाहाकार

मचा, तड़प-तड़प न रह जायेगा ?

क्या इतनी निर्बोध है यह राधा, कि इतनी-सी बात भी नहीं समझती ? नहीं, यदि ऐसा होता तो इतने दिन वह उससे दूर न रही होती ।

तब क्यों वह जान-बूझकर दलदल में फँसना चाहती है ?

राधा ने उसके विचारों की लड़ी तोड़ दी । बोली, "दफ्तर के माली से कह दीजिएगा, सन्ध्या को आ जाये । मुझे उससे कुछ सलाह लेनी है ।"

* * *

"माली से !" अशोक ने कुछ चौंककर कहा, "वह तुम्हें क्या सलाह देगा ! वह तो निरा बौड़म है । सामने खड़े हो, सब काम मुझे स्वयं ही बताकर कराना पड़ता है ।"

"अच्छा ! आपमें किसी से काम कराने की क्षमता भी है ?"

"विश्वास नहीं होता तुम्हें ?" अशोक ने पूछा ।

"नहीं, विश्वास क्यों न होगा, और रहा-सहा जो संशय है, वह आज सन्ध्या को ही मिट जायेगा ।" राधा बोली ।

"सो कैसे ?"

"मैं मालिन बन जाऊँगी । देखूँ, आपसे कैसा काम कराना आता है !"

अशोक को हँसी आ गई, "नहीं, तुम्हें मालिन बनने की जरूरत नहीं । बगिया सँवारना चाहती हो, तो एक माली रख लेंगे ।"

राधा ने कनखियों से उसकी ओर देखा । कहा, "पर खड़े होकर, उसे काम तो समझाना ही होगा ? यह विद्या तो मुझे आती नहीं ।"

अशोक की वही पुरानी हँसी आज लौट आई । अपने स्वच्छन्द हास से घर की दीवारों को गुँजाते हुए बोला, "अच्छा, वह मैं तुम्हें सिखा दूँगा ।"

राधा मुसकरा उठी ।

अशोक को लगा—हँसते समय यह साँवला-सलोना मुख कितना सुन्दर लगता है !

एक बार और उस मुसकान को देख पाने का लोभ वह संवरण न कर सका । उसे हँसा सके, कुछ ऐसी बात सोच रहा था, कि राधा बोल उठी, "अरे ! चाय ठण्डी हो रही है । पीकर झटपट तैयार हो जाइये, नहीं तो ऑफिस को देर हो जायेगी ।"

सपने की दुनिया छोड़, अशोक सहसा धरती पर उतर आया । याद आया—आज वह घर छोड़कर जा रहा है ! चोर की तरह चुपके से मुँह चुराकर भागना चाह रहा है !

कहा, "नहीं, आज दफ्तर न जाऊँगा ।"

राधा उदास हो गई । बोली, "तब आज माली नहीं आयेगा ! मेरी बगिया से पतझड़ को झाड़ देने का काम आज भी प्रारम्भ नहीं होगा ।"

उस स्वर में विपुल वेदना थी । अशोक के अन्तर में कहीं कुछ टीस उठा ।

आज उसे प्रथम बार ध्यान आया कि शीला के मनोरंजन के लिए, वह कितने प्रकार से, कितनी भाँति के साधन जुटाया करता था ।

पर उसने अपनी इस आश्रिता से कभी नहीं पूछा कि उसे भी कभी कुछ चाहिये। न जाने उसके खाली-खाली दिन कैसे कटते हैं।

एक गहरी साँस अशोक के हृदय को भेद बाहर निकल पड़ी। उस सरल-भोले मुख की ओर देखते-देखते सहसा उसे लगा कि शीला की स्मृति को विलुप्त कर, वह इस राधा से स्नेह तो न कर सकेगा; पर वह इस अभागिनी के नीरस-एकाकी जीवन को कुछ सरस बनाने का प्रयास तो कर ही सकता है।

राह में बाधाएँ आयेंगी अवश्य, पर यदि उसमें इतना भी पौरुष नहीं कि उन्हें ठेल आगे बढ़ सके, पिछली स्मृतियों पर आवरण डाल, भविष्य की नई राह निर्मित कर सके, तो उसका पौरुष व्यर्थ है।

सहसा कुर्सी खिसका, वह उठ खड़ा हुआ। कहा, "हाँ, राधा, आज मैं दफ्तर नहीं जाऊँगा। आज हम दोनों मिलकर अपनी इस बगिया के पीले पत्ते झाड़, पतझड़ को सदा के लिए दूर भगा देंगे।"

राधा हँस दी। बोली, "यह कैसे हो सकता है ? पत्ते तो गिरेंगे फिर भी !"

अशोक ने गम्भीर भाव से कहा, "हाँ, पत्ते भी गिरेंगे। हवा भी चलेगी। पर क्या तुम्हारे इन हाथों में इतनी शक्ति नहीं कि उन गिरते पत्तों को बार-बार समेट सको, यहाँ तक कि एक दिन उनका गिरना बन्द हो जाये, कि लहलहाते वृक्ष की सूनी डालों पर नई कोपलें फूट सकें फिर से।"

राधा के नयनों में लाज के डोरे खिंच आये। धीरे से बोली, "मेरी शक्ति, मेरा साहस, मेरा धैर्य तो तुम्हीं हो, अशोक।"

"राधा !"

"परन्तु मेरे-तुम्हारे बीच एक बड़ी दीवार खड़ी है।"

"कौन-सी ?"

आलमारी की ओर इंगित कर राधा ने कहा, "इन लाल खूनी बोतलों की।"

अशोक ने हाथ बढ़ा दो-तीन बोतलें उठा लीं।

अपनी पूरी शक्ति से उन्हें खिड़की की राह बाहर फेंकते हुए उसने दृढ़ स्वर में कहा, "उन पीले पत्तों के साथ में लाल बोतलें भी तुम्हें समेटनी पड़ेंगी, राधा। बोलो क्या तुम ऐसा कर सकोगी ?"

बाहर आँगन में बैठी हरिमति बड़बड़ा रही थी—"दोष मेरा-तेरा नहीं, चम्पी। दोष है इस कलजुग का ! गोरी-चिट्टी बहू के काले कुलच्छनों से भर पाई थी। सोचा था—इस कलूटी को लेकर सुख से रहूँगी। पर देखा तूने—साल-भर भी बीता नहीं, घर के लच्छन बदलने लगे। ग्यारह बज रहे हैं। बेटा जी अभी चाय ही चढ़ा रहे हैं। उस अभागिन ने तो मुझसे मेरा बेटा ही छीना था। यह कुलनाशिन तो उसकी नौकरी छुड़ाकर ही मानेगी···"

राधा ने दृष्टि उठाकर देखा।

नयनों से नयन मिले, दो हृदय बरबस मुसकरा उठे।

२३

सुभागी

"ए लल्ला, ए मुनिया, मेरी सुभागी को देखा है कहीं?" हेमन्ती का स्वर सुनते ही चारों ओर से बालक सिमट आये। उसने उनकी ओर देखकर भी न देखा, हाथ की लाठी के सहारे आगे बढ़ते, उसी विह्वल, दयनीय स्वर में बोली—

"ए चम्पी, ए मोहना, मेरी सुभागी को देखा है कहीं?"

बालकों के उमड़ते कलरव में उसका स्वर खो-सा गया। हेमन्ती की आयु सत्तर वर्ष पार कर चुकी थी। उसकी कमर झुककर दोहरी हो गई थी। दुग्ध–श्वेत कक्ष से केश पीठ पर बिखरे रहते थे। उसके मुख में कोई दाँत शेष था या नहीं, यह पता लगाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। अपने घर से जब वह निकलती तो मानो उसकी लाठी पुकार-पुकारकर उसके लिए पथ प्रशस्त करती रहती थी। उस लाठी की उस कर्णभेदी खट-खट से समीपवर्ती दो-चार गाँवों के सभी जन परिचित थे।

हेमन्ती अकेली थी, किन्तु नितान्त अकेली भी नहीं। उसके संगविहीन-जीवन में अनोखा सम्बल बनकर आई थी सुभागी। शीत की एक ठिठुरती सन्ध्या में हेमन्ती ने उसे राह के किनारे पड़ा पाया था। उस पर दृष्टि पड़ते ही वृद्धा के कोमल हृदय में करुणा छलक उठी थी। झुर्रियों से भरे दोनों हाथ पसार, उसने उसे गोद उठाते हुए, अपने हृदय से सिमटा लिया था। उस दिन से सुभागी वृद्धा की सूनी गोद में किलक-किलककर उसके वक्ष से सिमटी-सिमटी बड़ी हो रही थी। दोनों को एक दूसरे के बिना पल-भर भी चैन न पड़ता था।

हाथ में एक-एक कौर ले, वृद्धा उसे अपने हाथ से भोजन कराती, उसे अपने साथ घुमाने ले जाती। सुभागी न सोती तो वृद्धा की तन्द्रिल आँखों में भी नींद न आती। निराश्रित सुभागी की एकमात्र संरक्षिका थी, अशक्त, असमर्थ दयामयी हेमन्ती और हेमन्ती के सूने जीवन का सहारा थी सुभागी।

किन्तु सुभागी नादान थी। शैशव का भोलापन और नटखटपन उसमें कूट-कूट कर भरा था, और हेमन्ती के वृद्ध-शरीर में इतनी भी सामर्थ्य न थी, कि प्रतिपल, प्रतिक्षण, उसके प्रत्येक खेल में उसका साथ दे सके, उसके नित-नूतन विकसित और पल्लवित होते नटखटपन को सँभाल सके।

अतः अवसर पाते ही, वह आँगन का द्वार पारकर बाहर निकल जाती, वहाँ हरे-हरे खेतों में छपक-छपक नहाती, या किसी पड़ोसी का घर खुला मिल जाता तो

दुखिया हेमन्ती की बात पर ध्यान दे सकता।

हेमन्ती के हृदय में क्षोभ लहरा रहा था, नयनों में था नीर, और अपनी विनीत प्रार्थना के उत्तर में मिली उसे केवल एक रूखी झिड़की—"हट परे बुढ़िया ! देखती नहीं कहाँ चली जा रही है !"

हेमन्ती ने साहस न छोड़ा। कहा—"बेटा, मेरी सुभागी···"

"चल, चल, बड़ी आई सुभागी वाली ! ऐसी लाखों सुभागी हैं देश में। नेताजी का भाषण सुनना, तो तेरी आँखें खुल जायेंगी।"

"सो तो जरूर सुनूँगी भैया लेकिन पहले···"

चम्पी का कान ऐंठते उसने कहा—"लड़की, ले जा न इस बुढ़िया को यहाँ से ! क्या टर-टर लगा रखी है तब से ! मर गई तेरी सुभागी !"

वृद्धा का सिकुड़ा शरीर तन गया। चम्पी की आँखों में आँसू भर आये। हौले से बोली—"काकी, उधर बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है। चल पंडितजी से कहें, धर्म का काम है, वह जरूर मदद करेंगे।"

किन्तु इस बार हेमन्ती के पैर न उठ सके। वह अस्पृश्या जो थी। ब्राह्मणी होते हुए भी उसने एक अज्ञात कुल-शील बालिका को अपने घर में आश्रय जो दिया था।

किंकर्तव्यविमूढ़-सी खड़ी थी कि मोहना ने भागते-भागते आकर कहा—"काकी, काकी, सुभागी मिल गई। वहाँ नदिया के किनारे घास में खेल रही है, आती ही नहीं।"

"सच भैया ! चल, पकड़ लायें उसे !" वृद्धा ने असीम उत्साह से कहा। उन्हें आते देख सुभागी चपलतापूर्वक आगे भागी ही थी, कि उसका पैर दलदल में जा धँसा। वह चीख उठी—"काकी !"

असहाय वृद्धा अभी बहुत दूर थी। उसने भागना चाहा किन्तु लड़खड़ाकर गिर पड़ी। विवश-सी हो उसने इधर-उधर ताका। सफेद खद्दर के वस्त्र पहने कार्यकर्त्ता उधर से जा रहे थे। उसने चिरौरी करते हुए कहा—"भैया, मेरी बिटिया का पैर दलदल में जा धँसा है। तनिक किनारे खड़े होकर खींच दो न उसे।"

व्यंग्यभरा उत्तर मिला, "वाह ! क्या खूब ! और इतने में ही उधर स्टेशन पर ट्रेन आ गई तो ?"

"ए बेटा, दया करो इस बुढ़िया पर। तुम्हारे नेताजी पाँच मिनट परतिच्छा ही कर लेंगे। ए बेटा, मेरी बिटिया के जीवन से उसके पाँच मिनट का मोल अधिक है क्या ?"

उसकी विनती अनसुनी कर वे लम्बे-लम्बे डग भरते आगे बढ़ गये। सुभागी का दूसरा पैर भी दलदल में जा फँसा था। वह चीख रही थी—"काकी, ओ काकी, मुझे बचा ले इस बार। फिर कभी भी मैं शैतानी न करूँगी। ओ काकी !"

वृद्धा यथाशक्ति फुर्ती से आगे बढ़ी। उधर से आते स्काउट दल को देख उसके नयनों में आशा की ज्योति झलक उठी। कहा, "ए बेटा, देखना जरा मेरी बेटी की दशा, मेरी सुभागी का हाथ पकड़ बाहर खींच दो जरा।"

"हमें समय नहीं।"

"बेटा! ऐसा न कहो। वहाँ फूल-पत्तों से खेल रहे थे। तब क्या समय की कमी महसूस नहीं हुई थी तुम्हें? क्या तुम्हारी नजर में मेरी बेटी का मोल उन फूलों के बराबर भी नहीं?"

नायक ने उसे एक ओर धकेलते हुए कहा—"हट परे! हमें नेता जी को सलामी देनी है, देर हो जायेगी।"

वृद्धा का मन हुआ—चीख उठे। चीख-चीखकर धरती-आकाश एक कर दे। किन्तु वह चीख उसके अभ्यन्तर में ही घुमड़कर रह गई। वह पुनः आगे बढ़ी। साथ के बालक तब तक दौड़कर सुभागी के समीप जा पहुँचे थे।

आगे को बढ़े उसके दोनों हाथ पकड़ते, उन्होंने उसे खींचने का प्रयास किया, किन्तु उनके नन्हे हाथों में इतनी शक्ति न थी, उनके हाथ फिसल गये। छटपटाती सुभागी पल-भर में ही उनकी पकड़ से दूर हो गई।

तभी उधर से आ निकले कुछ पुजारी। वृद्धा ने उनकी राह रोककर कहा—"महाराज, आप जिस ईसाई की शुद्धि करने जा रहे हैं, उससे कहीं अधिक मेरी बेटी को आपकी जरूरत है। उसके प्राण संकट में फँसे हैं। महाराज, बड़ी दया होगी आपकी। बड़ा धर्म का काम होगा..."

उसकी बात भी पूरी न होने दी उन्होंने। कहा—"ए बुढ़िया, क्यों मरी जाती है उस बिना जाति-पाँति की लड़की के लिए! अच्छा हुआ जो मर गई। बड़ी हो जाती तो और झंझट होती। चल, तेरी भी शुद्धि करा दें। लोक-परलोक दोनों सुधर जायेंगे।"

उनके उपदेश पर ध्यान न दे, हेमन्ती ने सुभागी की ओर देखा—उसकी चीखें बन्द हो चुकी थीं। वह आकण्ठ दलदल में धँस चुकी थी।

हेमन्ती पछाड़ खाकर धरती पर लोट गई। मोहना और चम्पी के गरम-गरम आँसू, उसके अचेतन माथे पर बरस-बरस, उसे होश में लाने का प्रयास करने लगे।

२४

अवगुण्ठन

रोहित ने कक्ष में झाँककर देखा। सौभाग्य से वधू अकेली थी। समीप जा एक-दो बातें कह उसने घूँघट उठाना ही चाहा था कि एकाएक उसकी बहन हेमा, सहेलियों समेत, आ पहुँची। रोहित को भागने की राह न मिली। कठिनाई से किसी प्रकार जान छुड़ा, वह भाग खड़ा हुआ।

सहेलियाँ नव-वधू को छत पर ले गईं। ढोलक बजने लगी। गीत गाये जाने लगे कि एकाएक पिछवाड़े से, छत पर डाकू चढ़ आये।

सरदार ने पिस्तौल तानते हुए गरजकर चेतावनी दी कि यदि किसी ने मुख से एक शब्द भी निकाला, तो गोली उसकी छाती के पार हो जायेगी। चुपचाप सब जेवर उतारकर सामने रख दिये जाँय।

विवाह का घर। आज ही बारात लौटी थी। नीचे कहीं पंगत बैठ रही थी। कहीं कव्वालियाँ हो रही थीं। ऊपर भयभीत स्त्रियाँ अपने-अपने जेवर उतार रही थीं। दुलहिन को निश्चेष्ट बैठे देख, सरदार उसकी ओर बढ़ा।

भाभी के कान में कुछ कह, हेमा एक ओर सरक गई थी। जैसे ही सरदार ने दुलहिन के कंगनों पर हाथ रखा; वधू ने हाथ बढ़ा, उसके हाथ से पिस्तौल झटक ली, और दूर फेंक दी। छत के किनारे खड़ी हेमा चीख उठी—"डाकू ! डाकू ! बचाओ ! डाकू··!"

नीचे कोलाहल मच गया। डाकू लोग घबराकर, जेवर वहीं छोड़-छाड़ भाग खड़े हुए—किन्तु भागते समय सरदार, जेवरों से लदी अवगुंठनवती नव-वधू को अपने कन्धे पर लटका, ले भागा। जब तक बन्दूक और लाठी सम्हाल-सम्हाल सब लोग ऊपर आये, तब तक डाकू-दल गायब हो चुका था।

नगर के प्रमुख नागरिक, हाई कोर्ट के प्रमुख वकील के घर ऐसी अप्रत्याशित घटना हो गई। नगर में हलचल मच गई। कलक्टर ने पुलिस कप्तान को डाँटा। कप्तान ने डी० एस० पी० को धमकाया। उसने हवलदार पर अपना रोष उतारा। हवलदार ने सिपाहियों की गत बनाई। खोज सर-गर्मी से होती रही। किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं हुआ।

पुलिस हार गई थी। अधिकारियों के सिर नीचे हो गये थे। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करें। उस दिन सब अधिकारियों की मीटिंग हो रही थी,

कि एक कबूतर उड़ता-उड़ता उनके बीच में, मेज पर आ बैठा। उसके पैर में बँधा था एक पर्चा।

पर्चा खोलकर देखा गया—टहनी की कलम से, रक्त रूपी स्याही से, उस कागज के फटे टुकड़े पर, गिरोह के गुप्त स्थान का पता-ठिकाना लिखा हुआ था।

हर्ष से सबके मुखड़े दमक उठे। तुरन्त ही तैयारी कर चुपके से धावा बोल दिया गया। डाकू-दल पूरा-का-पूरा गिरफ्तार हो गया। एक कोठरी में मिली अवगुंठनवती-वधू और लूट का बहुत-सा माल।

वधू सुनन्दा को वकील साहब के घर पहुँचा दिया गया। रोहित और हेमा के हर्ष का पारावार न रहा। जब तक सब लोग वहाँ खड़े रहे, रोहित की माँ प्रसन्न-मुख बातें करती रहीं। किन्तु उनके जाते ही उन्होंने रौद्र-रूप धारण कर पुत्र को आदेश दिया कि वधू को तुरन्त उसके मायके पहुँचा दिया जाये।

हेमा और रोहित दोनों ही विस्मय से अवाक् हो रहे। लाख हेमा ने समझाया, लाख रोहित ने धमकाया, किन्तु माँ की तो बस एक वही धुन थी—कि जो वधू लुटेरों के घर में रह आई है, उनके घर में उसके लिए स्थान नहीं।

हेमा के बहुत तर्क करने पर, उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली कि ज्योतिषीजी को बुला लिया जाये। यदि वह कह दें तो सुनन्दा को स्वीकार किया जायेगा, अन्यथा नहीं।

रोहित उसी समय ज्योतिषी को बुलाने के लिए चला गया। उसकी जेब में पचास रुपए रख, वह उसे पट्टी पढ़ा रहा था। उधर हेमा वधू के स्नान के लिए उसके वस्त्र इत्यादि ठीक कर रही थी कि रोहित की माँ ने चुपके से अपने मामा को बुला भेजा।

उन्हें एक कोने में ले जाते हुए वह बोलीं—"आप ही बताइये मामा, कैसे इस लड़की को घर में स्थान दिया जा सकता है? किन्तु यह रोहित और हेमा मिलकर मेरे प्राण खाये जाते हैं। अब आपका ही सहारा है केवल मुझे।"

प्रौढ़ मामा ने अपनी गंजी चाँद खुजाते हुए कहा—"तुम ठीक कहती हो, बेटी। किन्तु तुमने स्वयं ही तो इन बच्चों का दिमाग आसमान पर चढ़ा दिया है। जिन्होंने तुम्हारी बात नहीं मानी, वे मेरी मानेंगे भला?"

"मेरा दुर्भाग्य है, मामा। तुम्हारी बात तो क्या, स्वयं ब्रह्मा भी आ जायें, तो ये लोग उनकी भी बात नहीं मानेंगे। अब तो केवल एक ही उपाय है। तुम उसे किसी भी ट्रेन में बिठा दो, और अगले स्टेशन पर उसे अकेला छोड़कर वापस लौट आओ।"

मामा ने तुरन्त सहमति में प्रसन्नतापूर्वक सिर हिला दिया अपना। द्वार पर मोटर आ खड़ी हुई। रोहित की माँ ने वधू के समीप जा अपनी वाणी में मधु-शक्कर घोलते हुए कहा—"देखो बेटी, अभी कुछ दिन के लिए तुम अपने घर चली जाओ तो बहुत अच्छा रहे। जब यहाँ का हुल्लड़ शान्त हो जायेगा तो मैं तुम्हें स्वयं ही बुला लूँगी।"

बेचारी वधू क्या कहे? ससुराल में आकर, अभी तक वह एक शब्द भी नहीं बोली थी किसी से। अब भी बिना कुछ कहे, चुपचाप मोटर में जा बैठी वह।

रोहित के संग ज्योतिषी आये। उधर हेमा भाभी को खोजती हुई आई। सबके संग-संग रोहित की माँ भी खोज में शामिल हो गईं। फिर पैर पसारकर रोने बैठ गईं।

रोते-रोते चीख-चीखकर सारे मुहल्ले को सुनाते हुए कहने लगीं वह—"बहू कुलच्छिनी थी। इसलिए चुपके से घर छोड़कर भाग गई वह। क्या पता लुटेरों में से किसी के संग उसकी मित्रता हो। नहीं तो कैसे हिम्मत हो सकती थी उनकी, कि विवाह से भरे घर में यूँ धावा बोल दें। अच्छा ही हुआ कि वह स्वयं ही चली गई।"

तड़पड़ाकर रोहित घर से बाहर निकल पड़ा। अपनी मोटर साइकिल पर बैठ स्टेशन जा पहुँचा वह। सुनन्दा के घर की ओर जाने वाली ट्रेन का प्रत्येक डिब्बा छान डाला उसने, किन्तु उसका कहीं भी पता न लगा।

निराश रोहित जिस समय सिर झुकाये, लड़खड़ाते कदमों से वापस लौट रहा था, उसी समय पाँच नम्बर प्लेटफार्म पर, बम्बई की ओर जाने वाली ट्रेन ने सीटी दी। उसी में सुनन्दा बैठी थी।

पागल-सा रोहित, नदी-किनारे, पार्क में स्थान-स्थान पर वधू को खोजने लगा। आखिर उसे पकड़ लाया गया। उसे तीव्र ज्वर चढ़ आया। उसके माथे पर आइस-कैप रखते हुए, हेमा ने उसे सान्त्वना देने के लिए कहा—"भाभी की खोज करने के लिए और कोई ढंग सोचना पड़ेगा, भैया। यूँ अधीर होने से क्या लाभ ? इसके अतिरिक्त तुम्हारा खोजना तो व्यर्थ ही है। यदि वह तुम्हारे सामने पड़ जायें तो उन्हें पहचानोगे भी नहीं।"

आइस-कैप सिर पर से फेंक, रोहित तड़पकर उठ बैठा। कहा—"मुख नहीं देखा तो क्या! उसके हाथ तो देखें हैं मैंने। उन हाथों को मैं लाख हाथों में से पहचान सकता हूँ।"

जिस अपरिचित को भी देखता रोहित, उसकी दृष्टि अनायास ही उसके हाथों पर जा अटकती। कोर्ट-रूम में बहस करते समय, मुवक्किलों से बात करते समय, फाइलों से जूझते समय, हर समय उसके मानस-नेत्रों के सम्मुख वही दो हाथ छाये रहते।

अचानक एक दिन सुना गया, कि नदी में बहती हुई एक लाश पाई गई है। रोहित की माँ उसे देखने गईं। उन्होंने लौटकर कहा कि वह लाश सुनन्दा की ही थी। रोहित दीवार पर सिर पटकने लगा अपना। हेमा मूर्च्छित धरती पर लुढक गई।

तब माँ रोहित से पुनः विवाह कर लेने के लिए मिन्नतें करने लगी। रोहित ने साफ मना कर दिया। वह अपनी बात पर अड़ना चाहता था, किन्तु माँ भी अपनी धुन की पक्की थी। निदान रोहित को हार माननी पड़ी।

विवाह की रात वह अपने कमरे में गया, तो सर्व प्रथम उसकी दृष्टि पड़ी, वधू शान्ता के दोनों हाथों पर। वे हाथ देख, उसे सुनन्दा के सुकुमार आकर्षक हाथों का स्मरण हो आया। दोनों हाथों में अपना मुख छिपा, वह कमरे से बाहर भाग आया।

माँ ने उसे जाते देखा। वह उसे पकड़ने को लपकीं। वह हाथ छुड़ाकर भाग खड़ा हुआ।

हेमा वधू के निकट जा बैठी। उसका घूँघट उलटकर कहा—"भाभी, एक बात कहूँ, मानोगी?"

शान्ता ने द्वार खुलने की आहट सुनी थी। निकट आते पति के पैरों को देखा था और क्षण-भर उपरान्त ही उसे वापस भागते हुए भी देखा था। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। ननद के मुख से यह अनोखा प्रश्न सुन उसने विस्मय से उसकी ओर निहारा।

हेमा ने कहा—"भाभी, तुम भैया को अपने हाथ कभी मत दिखाना।"

यह अनोखा आदेश सुन, शान्ता का रहा-सहा धैर्य भी जाता रहा। अधीर स्वर में बोल उठी—"वह क्यों?"

हेमा ने कहा—"यह तो तुम्हें मालूम ही है भाभी कि भैया का पहले भी विवाह हो चुका है।"

शान्ता ने शीश झुकाकर, धीरे से सिर हिला दिया अपना।

तब हेमा ने उसे धीरे-धीरे सारी घटना सुना दी। उस अपरिचिता के प्रति किये अन्याय से, शान्ता के हृदय में बड़वानल दहक उठा। किन्तु वह नवागता वधू थी। उसके अधरों पर लाज का ताला लगा था। चुप हो रह गई वह, और मन-ही-मन पति के इस दुःख को किसी भी भाँति भुलवाने का संकल्प करने लगी।

रोहित की माँ बीमार पड़ गई थीं। वैद्यों से परेशान हो उसके पिता ने अस्पताल से लेडी डॉक्टर को बुलवा भेजा।

डॉक्टर रेखा, जिस समय माँ को देख रही थी, विमुग्ध-सा रोहित उसके हाथों को देख रहा था। सहसा उसे लगा कि यदि इन हाथों में चूड़ियाँ होतीं, अँगूठियाँ होतीं, मेंहदी का जाल रचा होता, तो कैसे लगते ये हाथ? उसे लगा कि वे हाथ सुनन्दा के ही हाथ थे। एकाएक वह काँप उठा, सिहर उठा।

दूसरे ही क्षण उसके नयनों के आगे सुनन्दा का मृत शव तैर गया। दोनों हाथों में अपना मुख छिपा, वह कमरे से बाहर निकल गया।

माँ को रेखा बड़ी भली लगी थी। जब-तब वह उसे बुलाती रहती थीं। उनकी दशा सुधर रही थी। एक दिन बातों-बातों में कहा उन्होंने—"तुमने शादी क्यों नहीं की, बेटी?"

रेखा ने कहा—"शादी करके ही क्या सुख मिलता है, मौसी? इससे तो कुवाँरा रहना ही अच्छा।"

माँ ने उस लड़की के झुके हुए मुख की ओर देखा। उस पर व्यथा के चिह्न देख, उनकी ममता उमड़ आई। बोलीं—'किताबों में पढ़-पढ़कर ही तुम बहुत-सी बात मान बैठती हो, बेटी। अशान्ति और सुख-दुःख तो केवल अपने सोचने की ही बातें हैं, केवल अपना-अपना दृष्टिकोण! तुम लोग यह क्यों नहीं समझ पातीं कि नर

और नारी के पारस्परिक मिलन में ही जीवन की परिपूर्णता है।"

"मानती हूँ, मौसी। किन्तु हम अभागिन नारियों के जीवन को परिपूर्ण होने ही कौन देता है?"

"यह तुम नहीं बोल रही हो, बेटी। यह तुम्हारी वही विदेशी शिक्षा बोल रही है।"

रेखा हँसने लगी। कहा—"नहीं मौसी, विदेशी शिक्षा नहीं। अपने देश ने ही मुझे ऐसी शिक्षा दी थी कि मेरा मन टूट चुका है। मैंने प्रण किया है कि आजन्म अकेली रहकर खूब धन एकत्र करूँगी। उस पूँजी से स्थान-स्थान पर स्कूल खोलूँगी; जहाँ केवल इस बात की ही शिक्षा दी जायेगी, कि नारी, नारी के प्रति कैसा व्यवहार करे?"

"तुम्हारी बात कुछ समझ में नहीं आई, बेटी। हमारे देश की नारियों का स्वभाव जितना कोमल और मधुर है, किसी देश में मिलना कठिन है।"

"स्वभाव की बात नहीं मौसी, मैंने व्यवहार की बात कही है। हमारे देश में नारी पर जितना अत्याचार नारी करती है, उतना और कोई नहीं करता। मेरी एक सहेली का विवाह हुआ था कुछ दिन पहले। उसी की बात सुनाती हूँ आपको—

"वधू का घूँघट भी न खुलने पाया था कि उसे डाकू उठाकर ले गये। उस अभागिन ने अपने रक्त की स्याही बनाकर, युक्तिपूर्वक स्वयं अपना पता पुलिस को बताया। पुलिस उसे लुटेरों के चंगुल से छुड़ा लाई। बताइये, यदि आपकी वधू होती तो क्या करतीं आप? आदरपूर्वक उसे घर में स्थान देतीं, या निरादरपूर्वक घर से निकाल बाहर करतीं?"

उन्हें घबराते देख रेखा हँस पड़ी। कहा—"घबरा गईं आप? हो सकता है कि पति-पुत्र के डर से, उस समय आप उसे घर में रख लेतीं। किन्तु मैं जानती हूँ कि किसी-न-किसी दिन, आप उसे बदनाम कर घर से धक्का देतीं, या धोखे से मरवा डालतीं और बेटे का दूसरा विवाह कर डालतीं। मेरी सहेली की सास अधिक बुद्धिमती थी। उन्होंने उस निरपराध को बम्बई की ओर जाने वाली ट्रेन में बिठला दिया। जो सज्जन उसके संग गये थे, वह उसके हाथ में एक पैसा दिए बिना ही राह में किसी स्टेशन पर उतर पड़े।"

न जाने कब वहाँ हेमा और रोहित आ बैठे थे। लगता था कि हेमा कुछ कहना चाहती है, किन्तु कह नहीं पा रही है। तभी रोहित ने अधीरतापूर्वक कहा—"फिर?"

रेखा ने व्यंग्यमय स्वर से कहा—"और सुनना चाहते हैं? कहानी अच्छी है न? आपको यह भी बता दूँ कि विवाह से पहले, मेरी सखी की सास किसी ऐसी लड़की की खोज में थी जो धनी-सम्पन्न घर की भी हो, सर्वगुणकारी भी हो, और साथ ही मैट्रिक से अधिक पढ़ी-लिखी भी न हो। क्योंकि आपकी माताजी की तरह ही शायद उनका भी यही विश्वास था, कि पढ़ने-लिखने से लड़कियों का दिमाग खराब हो जाता है।

बेचारी सुनन्दा ! अकेले कभी घर से बाहर नहीं निकली थी। दुनिया की बातों से अनभिज्ञ, छोटी-सी उम्र। एक बुढ़िया ने कहा, कि वह उसे उसके घर पहुँचा देगी तो उसके भुलावे में आ गई।"

रोहित ने व्यग्र भाव से पूछा, "तो क्या वह आज भी जीवित है ?"

"खूब ! तो क्या आप चाहते हैं कि वह मर जाती ! आत्महत्या कर लेती ! हाँ, शायद अपने पतिव्रत-धर्म की परीक्षा देने का, नारी के लिए इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं। उसने आत्महत्या नहीं की। फिर भी मैं कहूँगी कि वह सच्ची पतिव्रता है। क्योंकि उसने मन-ही-मन, अपने पति के अतिरिक्त, कभी किसी अन्य से प्रेम नहीं किया।"

रोहित ने फिर पूछा—"तो वास्तव में वह आज भी जिन्दा है ?"

"विश्वास नहीं होता आपको ? शायद उसके माता-पिता ने यही लिख भेजा होगा आपको, कि उनकी बेटी ने आत्महत्या कर ली। जी हाँ, उसके माता-पिता ने, सास-ससुर ने और उसके समाज ने मिलकर आज उसे आत्महत्या कर लेने को विवश कर दिया है। वह आज वहीं है, जहाँ उसके समान सैकड़ों अबोध बालिकाओं को पहुँचाकर समाज अपनी भूख मिटाता है। वह आज बम्बई की प्रमुख वारांगना है ?"

रोहित के नयनों में नीर छलछला आया था। अपनी उस कमजोरी को इस अपरिचिता से छिपाने के लिए, वह चटपट उठकर बाहर चला गया।

हेमा ने कठोर स्वर में कहा—"इतनी बड़ी मिथ्या बात बोलकर किसी का दिल दुखाने में तुमने क्या लाभ सोचा है, रेखा ?"

"लाभ ?" रेखा हँस पड़ी—"बात में बात उठी तो मैंने कह दिया। मुझे क्या मालूम था कि इससे आपका दिल दुखेगा। जिससे आपका परिचय तक नहीं, उसी की बात को लेकर इतनी खींचातानी क्यों ? और यदि उस निर्बोध की व्यथा ने आपके मन को पीड़ा पहुँचाई है, तो इसमें लजाने या संकोच करने की क्या बात है ? किसी सताई गई नारी की कथा सुन, यदि आपके हृदय में क्लेश उमड़ आया है, तो यह तो गर्व करने की बात है, न कि पश्चात्ताप की !"

हेमा से कुछ उत्तर नहीं बन पड़ा। सिर झुकाकर, चुपचाप, धीरे-धीरे, वह कमरे से बाहर निकल गई।

रेखा ने सिर उठाकर, रोहित की माँ के अनुतप्त-अपराधी-से मुख की ओर दृष्टिपात किया। कहा—"यदि आवेश में मैंने कोई अनुचित बात कह दी हो, तो मुझे क्षमा करियेगा, मौसी। मैं नहीं जानती थी कि मेरी बात से आप लोगों को इतना दुःख पहुँचेगा, नहीं तो मैं कदापि नहीं कहती।"

रोहित की माँ ने धीमे स्वर में कहा—"क्षमा की क्या बात है, बेटी। तुमने जो-कुछ कहा सच ही कहा। वह सुनन्दा मेरी हेमा की ही सहेली थी। और कुछ दिन पहले हमने सुना था, कि उसकी लाश नदी में बहती पाई गई है। इसीलिए अकस्मात् यह समाचार सुन, वह इतनी उत्तेजित हो उठी थी—उस नादान की बातों

का तुम कुछ ख्याल न करना, बेटी।"

"नहीं-नहीं, मौसी, ऐसी कोई बात नहीं। अच्छा, अब चलूँ। फिर कभी आऊँगी।" रेखा ने उठते हुए कहा।

नेत्र और मुख धो प्रकृतिस्थ हो रोहित कमरे में लौटा तो उसने पाया कि रेखा चली गई है। वह उलटे पैरों लौट गया।

सन्ध्या होते ही रोहित रेखा के घर जा पहुँचा। उसने द्वार खटखटाया तो नौकर ने आकर चटकनी खोल दी। शिष्टाचार के साथ पूछा—"कहाँ से आये हैं आप? कौन बीमार है?"

"मैं डाक्टर रेखा से मिलना चाहता हूँ।"

"कौन बीमार है बता दीजिये। मैं उन्हें सूचना दे दूँगा।"

"नहीं, बीमार कोई नहीं है। मुझे केवल उनसे मिलना है।"

"तो अस्पताल आइयेगा। मरीज को छोड़, डाक्टर घर पर किसी से भी नहीं मिलतीं।" नौकर ने कहा, और द्वार पुनः बन्द कर लिये।

आधी रात बीत गई। किन्तु रोहित सोने नहीं आया। उसे खोजते-खोजते शान्ता बाग में पहुँच गई जहाँ वह गीली घास में मुख छिपाये, औंधा-तिरछा पड़ा था।

शान्ता हौले से उसके निकट जा बैठी। उसकी कोमल अँगुलियाँ रोहित के बालों में जा फँसी। रोहित ने उसी प्रकार लेटे-लेटे ही कहा—"शान्ता, तुमने सुना, आज डाक्टर क्या कह रही थीं?"

"हाँ, किन्तु मुझे तो उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। निश्चय ही वह सरासर गप्प ठोक रही थी।"

"क्यों? क्या तुम समझती हो कि यह बात सम्भव नहीं?"

"सम्भव-असम्भव की बात जाने दीजिये। मैं पूछती हूँ, यदि वह ऐसी ही सहेली थीं उनकी, तो पता चलते ही क्यों नहीं छुड़ा लाईं वह उन्हें उस नरक से?"

"जिसे सास-ससुर नहीं रख सके, जिसे माता-पिता ने भी समाज के भय से, अपने मन से निकाल दिया; यदि वह बेचारी उसकी सहायता नहीं कर सकी तो क्या आश्चर्य? फिर उन दिनों तो वह स्वयं ही अपने माता-पिता के बन्धन में होगी। अभी चार महीने तो हुए ही हैं, उसे डाक्टरी करते।"

"अच्छा न सही। चलिये, सोने चलिये। रात बहुत बीत गई।"

"जाओ, तुम सो जाओ। मुझे अभी नींद नहीं आ रही है।"

"मैं जानती हूँ कि आपको नींद क्यों नहीं आ रही है?" स्नेहसिंचित स्वर में कहा शान्ता ने—"कल जैसे भी होगा, मैं डाक्टर से उनका पता पूछकर ही मानूँगी। चलिये, उठिये।"

पत्नी का हाथ पकड़ रोहित धीरे से उठ खड़ा हुआ। उस निष्प्राण मुख को देख, शान्ता के हृदय में, रुदन के अगणित ज्वार उबल-उबलकर बल खाने लगे।

अगले दिन हेमा और शान्ता, रेखा के घर जाने को तैयार हुईं तो माँ ने घोर विरोध करते हुए कहा—"जिसकी जान-पहचान ऐसी-ऐसी आचारण-हीन लड़कियों से है, उससे मिलना-जुलना ठीक नहीं।"

हेमा ने हँसकर कहा—"अभी कल तक तो तुम उसकी प्रशंसा करते नहीं अघाती थीं। उसके उदाहरण दिया करती थीं। आज वह इतनी बुरी हो गई? नहीं माँ, कुछ तो समझ से काम लो।"

वह कुछ कह सकें, इससे पूर्व ही शान्ता बोल उठी—"जीजी ठीक कह रही हैं, माँ। उन्होंने उन्हें सहेली केवल इसलिए कहा कि वह तुम्हारे मन पर प्रभाव डालना चाहती थीं। यदि सचमुच में उनकी सहेली होती तो क्या आप समझती हैं, कि वह उन्हें बम्बई में ही पड़ा रहने देतीं? जो समस्त नारी-जाति को अक्ल सिखाने की बातें करती हैं, वह अपनी अभागिन सहेली का जीवन यूँ नष्ट हो जाने देती? नहीं, माँ! सुनी-सुनाई बातों के आधार पर केवल कहानी ही गढ़कर सुना रही थीं वह। न जाने कितना सच कहा उन्होंने, कितना झूठ!"

"इसके अतिरिक्त भैया के मन को शान्ति दिलाने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं, माँ।" हेमा ने कहा, "मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूँ कि वह कदापि उसका पता न बता सकेगी। और यदि बतलायेगी भी तो झूठा। जब हम उसकी बात को झूठ सिद्ध कर दिखा देंगे, तभी भैया के मन का सुख-चैन लौट सकेगा, माँ।"

माँ ने आश्वस्त हो उन्हें जाने की अनुमति दे दी। किन्तु वे फिर भी नहीं जा सकीं। मोटर लाने के लिए कहा तो पता चला कि रोहित मोटर लेकर कहीं गया हुआ है।

रोहित चला जा रहा था कि उसने देखा, फुटपाथ पर रेखा चली जा रही है। कड़ी धूप, आँखों पर चश्मा, सिर पर छाता तना हुआ। उसने मोटर रोक ली। कहा—"कहाँ जा रही हैं, रेखा जी? आइये, मैं पहुँचा दूँ।"

रेखा ने कहा—"नहीं, धन्यवाद! मैं स्वयं ही चली जाऊँगी।"

रोहित ने कहा—"शाम या सबेरे का समय होता तो मैं मान भी सकता था, कि आपका घूमने का विचार है। किन्तु ऐसी कड़ी धूप में पैदल चलना किसी को भी अच्छा नहीं लग सकता।"

रेखा हँस पड़ी। कहा—"अच्छा लगने या न लगने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब काम है तो जाना भी पड़ेगा ही और राह चलते इस प्रकार लिफ्ट स्वीकार करने का मुझे अभ्यास नहीं।"

"अपरिचितों का विश्वास न करें आप। क्या मुझ पर भी विश्वास नहीं करेंगी?"

"परिचित हों या अपरिचित, पुरुष सभी समान होते हैं। इसलिए किसी का भी विश्वास न करने से, कभी धोखा नहीं खाना पड़ता।"

रोहित ने हँसकर कहा—"मेरा चरित्र विश्वसनीय हो या न हो, किन्तु आज आपको धोखा नहीं खाना पड़ेगा, क्योंकि मुझे आपसे कुछ काम है, और जिससे

काम निकालना होता है, उसे धोखा नहीं दिया जाता।"

रेखा ने उसके समीप बैठते हुए कहा—"यह तो अपनी-अपनी धारणाएँ हैं। कुछ लोग सदा धोखा देकर ही अपना काम निकाला करते हैं।"

मोटर चल दी। रोहित ने कहा—"देखिये, मैं एक बात जानना चाहता हूँ और आपको उसे बताना ही होगा।"

"शर्त तो बड़ी कड़ी है।" रेखा ने हँसकर कहा—"किन्तु आप पूछना क्या चाहते हैं?"

"सुनन्दा का पता?"

"उसके पते से आपको क्या मतलब?"

"है। क्योंकि वह मेरी पत्नी है।"

"ओह! परन्तु इतने दिन बाद उसकी खोज-खबर लेने की क्या आवश्यकता आ पड़ी है? जिस दिन वह निराश्रय थी, आपने उसकी बात पूछी नहीं थी।"

"उसमें मेरा दोष नहीं था।"

"दोष की बात मैं नहीं जानती। मैं तो केवल यह पूछना चाहती हूँ कि आज उसका पता पूछकर आप करेंगे क्या? यह केवल आपका अनावश्यक कौतूहल ही तो है। उस दिन आपकी माँ उसे अपने घर में स्थान नहीं दे सकी थीं, तब आज दे सकेंगी क्या?"

"उस दिन मैं स्वयं निःसहाय था। पिता के सहारे खड़ा था। किन्तु अब···"

"अब दूसरा विवाह करके आपने उसके लौटने की राह चारों ओर से बन्द कर दी है। नहीं, आप उसकी याद मन से निकाल दीजिये अब। आपके लिये वह मर चुकी है। वह जहाँ भी है, वहीं सुखी है। उसका इतना-सा भी सुख छीनने का प्रयत्न मत करिये।"

रोहित कुछ कह न सका। रेखा ने कहा—"वह मेरा घर आ गया, मोटर रोक लीजिये। क्षमा कीजिये। प्रचलित कायदे के अनुसार मैं आपको चाय के लिये निमंत्रित नहीं कर सकती, क्योंकि···"

"क्योंकि मरीज को छोड़, डाक्टर घर पर किसी से नहीं मिलती।"

मोटर से उतरते-उतरते रेखा हँस पड़ी। कहा—"ओह! मालूम होता है मेरे नौकर से भेंट हो चुकी है आपकी। किन्तु उसकी बात का बुरा न मानियेगा। अच्छा, मौसी से कह दीजियेगा, आलू की चाट बना रखें। मैं शाम को अवश्य आऊँगी।"

शाम को रेखा रोहित के घर पहुँची तो पाया कि वहाँ हलचल मची हुई है—शान्ता को प्रसव-वेदना हो रही थी। दाई परेशान थी। शिशु का एक पैर दिखाई देने लगा था। रेखा को देखते ही रोहित की माँ का मुख खिल गया। उन्होंने कहा—"बड़े समय से आई, बेटी। विपत में बुद्धि ऐसी मारी गई थी। तुम्हारे आने से बड़ा सन्तोष मिला।"

रेखा ने कुढ़कर कहा—"आपने भी तो मौसी, इस गन्दी अशिक्षित दाई के हाथों में अपनी पुत्रवधू का जीवन सौंप दिया है। आप इतनी चतुर होकर ऐसी भूल

करती हैं, तो उन दीन-गरीबों को कौन दोष दें।"

माँ ने विनीत स्वर में कहा—"भूल तो हो ही गई, बेटी। मेरी बहू और पोते की जान बचा दो। मैं जन्म-भर तुम्हारा उपकार नहीं भूल सकूँगी।"

रेखा ने शान्ता को देखा। कहा कि फौरन अस्पताल ले जाने से हो सकता है कि बच जायें और उसने एम्बुलैंस के लिए टेलीफोन कर दिया।

टेलीफोन का चोंगा नीचे रखा ही था कि हेमा आ पहुँची। उसने कमरे के किवाड़ बन्द कर कहा—"सुनन्दा!"

रेखा ने चौंककर, घूमकर देखा, कहा—"आप भूलती हैं। मेरा नाम रेखा है।"

हेमा ने आगे बढ़ उसके सामने खड़े होते हुए कहा—"मैं तुम्हें पहले दिन ही पहचान गई थी, सुनन्दा। किसी ने अवगुण्ठन उठा तुम्हारा मुख देखा हो या न देखा हो, किन्तु मैं अपनी भाभी का मुख देख चुकी थी। तुम्हारे कथनानुसार ही मेरी वह भाभी आज इस घर में स्थान नहीं पा सकती। तब जो भाभी इस घर में है, स्वार्थ के वशीभूत हो कहीं उसका अन्त न कर डालना तुम।"

रेखा चीख उठी—"हेमा, तुम भूलती हो। मैं एक डाक्टर हूँ और डाक्टर कभी मरीज के जीवन से खिलवाड़ नहीं कर सकती। पहले वह डाक्टर है, पीछे कुछ और।"

हेमा ने शान्त भाव से कहा—"डाक्टर कितना ही महान् क्यों न हो, फिर भी वह मानव है। और नारी के हृदय में जब प्रतिहिंसा जाग उठती है, तो यह असम्भव नहीं कि वह अपना कर्तव्य भूल जाये।"

रेखा को क्रोध आ रहा था। किन्तु उसने संयत स्वर में कहा—"यह तुम्हारा भ्रम है, हेमा। काम में डूबकर डाक्टर यह भूल जाता है कि वह मानव है। वह केवल यन्त्र-मात्र रह जाता है उस समय, यन्त्र जिसे तिल-भर भी भूल करने का अभ्यास नहीं। किन्तु डाक्टर की सफलता की सबसे बड़ा आधार है विश्वास; और यदि तुम्हें मुझ पर विश्वास नहीं, तो इस अस्पताल में और भी तीन लेडी डाक्टर हैं। तुम किसी से भी यह आपरेशन करा सकती हो।"

हेमा ने सहमकर कहा—"मेरी बात का बुरा न मानो, सुनन्दा। मेरा यह आशय कदापि न था। मैं केवल तुम्हें चेतावनी देना चाहती थी, जिससे कि··जिससे कि·······"

"मुझे काफी चेतावनी मिल चुकी है, हेमा। और मैं नहीं चाहती कि·······"

तभी भड़ाक से द्वार खुल गया। रोहित ने तेजी से अन्दर आकर कहा—"रेखाजी, रेखाजी, ऐम्बुलैन्स आ गयी है, जल्दी करिये।"

"मुझे खेद है कि मैं यह आपरेशन नहीं कर सकूँगी।" सुनन्दा ने कहा—"मैं डाक्टर झुनझुनवाला को फोन किये देती हूँ। वह आपरेशन करने के लिए तैयार मिलेंगी आपको।"

पीठ पीछे से माँ विनीत स्वर में बोल उठी—"क्या कह रही हो, बेटी? मुझे ल तुम पर ही विश्वास है। तुम्हारे इन दो हाथों पर ही विश्वास है। यदि तुमने यह

आपरेशन न किया तो·········”

“किन्तु माँ, आपकी बेटीको मेरे हाथों पर विश्वास नहीं। वह समझती हैं कि दो दिन लुटेरों की कैद में रह, मैं उनकी हत्या करने का ढंग भी सीख आई हूँ।”

“भाभी ?” हेमा मूर्छित हो सुनन्दा के चरणों में लुढ़क पड़ी।

रोहित ने तेजी से आगे बढ़, उसके हाथों को अपने हाथों में थामकर कहा—“सुनन्दा ! तुम ?”

सुनन्दा ने शान्त स्वर में कहा—“हाँ, मैं ही सुनन्दा हूँ। अब विलम्ब करने का समय नहीं। आप विश्वास मानिये। डाक्टर झुनझुनवाला मुझसे कहीं अधिक कुशल सर्जन हैं। आप तुरन्त जाइये। हेमा को सचेत कर हम भी आ रहे हैं।”

हेमा ने आँखें खोलीं। सुनन्दा के गले में दोनों हाथ डालकर उसने कहा—“भाभी !”

“मुझे भाभी नहीं रेखा कहो। तुम्हारी जो सरल, निर्बोध भाभी थी वह तो कभी की मर चुकी।”

रोहित की माँ ने कहा—“उस दिन तूने इतनी ऊटपटांग मनगढ़न्त बातें कही थीं, बिटिया ?”

“सच ही तो कहा था, माँ। मेरे पिता को मेरा विवाह इसी घर में करना था इसलिए उन्होंने झूठ बोल दिया था कि मैं केवल मैट्रिक पास हूँ। यदि उन्होंने मुझे पढ़ा-लिखाकर इस योग्य न बना दिया होता कि मैं स्वयं अपने पैरों पर खड़ी हो सकती, यदि मैं आपकी वही अपढ़, अनुभवहीन वधू होती, तो क्या मेरा वही अन्त न होता, जो मैंने आपसे कहा था।”

रोहित की माँ का सिर झुक गया। उनकी आँखों में आँसू भर आये थे। सुनन्दा ने झटपट उठते हुए कहा—“आइये चलिए। अब देर न करिये।”

जब वे अस्पताल पहुँचे तो बेचैन रोहित प्रतीक्षा-गृह में इधर से उधर चक्कर काट रहा था। सुनन्दा को देख उसकी बेचैनी और भी बढ़ गई। तभी डाक्टर वहाँ आ पहुँची। बोली—“मरीज को यहाँ लाने में बड़ी देर कर दी गई। दोनों की जान नहीं बच सकती। बताइये, आप क्या चाहते हैं, मरीजा या बच्चा ?”

रोहित का सिर चक्कर खाने लगा। उसके नयनों आगे धरती डोल उठी। दीवार से सिर टिका वह होश में आने का प्रयास कर ही रहा था कि माँ बोल उठी—“बहू तो मेरी मेरे पास खड़ी है, डाक्टर। आप शिशु को बचा लीजिये।”

सुनन्दा ने तड़पकर सास के मुख पर अपना हाथ रख दिया। कहा—“यह क्या गजब कर रही हो, माँ ! जीती रहे शान्ता। ऐसे अनेक शिशु आपके आँगन में खेलेंगे। चलो डाक्टर, देर न करो।” एक प्रकार से डाक्टर को घसीटते हुए ही, वह अन्दर घुस गई।

आपरेशन सफल हो गया। शान्ता ठीक हो गई। अस्पताल से विदा होते हुए डाक्टर ने गम्भीर स्वर में रोहित से कहा—“देखिये, एक बात का ध्यान रखियेगा। अब

यह इस योग्य नहीं कि दोबारा प्रसव का कष्ट उठा सकें। यदि दोबारा शिशु हुआ तो यह बचेंगी नहीं।"

रोहित को एक और धक्का लगा। शान्ता की आँखों में अश्रु छलक आये।

रेखा ने घर आना बिलकुल ही बन्द कर दिया था। उस दिन ताश खेलते समय शान्ता पूछ ही तो बैठी—"आजकल रेखा जीजी ने आना बन्द ही कर दिया। आज उन्हें बुलाने के लिए मोटर भेज दें, माँ ?"

ताश के पत्ते वहीं छोड़, रोहित उठकर बाहर चला गया। माँ के हाथों से रामायण छूट पड़ी। भ्रमित-सी शान्ता समझ नहीं सकी कि क्या हुआ ? उसने क्या गलत बात कह दी ? उसने हेमा की ओर देखा। उन दो नयनों में भी अश्रु छलक रहे थे।

हेमा ने धीरे से उसके हाथ अपने हाथ में थाम लिये—"भाभी, अब कभी न लेना उनका नाम।"

शान्ता के विस्मय का पार न रहा। पूछा—"क्यों ? ऐसा क्या अपराध किया है उन्होंने ?"

"अपराध ?" हेमा मानो रो देगी। कहा—"हाँ, अपराध ही तो किया। गंगा में न डूबकर, वह क्यों इस नगर की प्रिय डाक्टर बन बैठी ! क्यों उसने अभागिनि नारियों के जीवन बचाने का बीड़ा उठा लिया ! क्यों नहीं मर जाने देती वह उन्हें। जितनी जल्दी इस धरती पर से नारियों का लोप हो जाये···?"

"जीजी ! जीजी !" उसे झकझोरकर कहा शान्ता ने—"तुम्हें क्या हो गया, जीजी। होश में आओ, जीजी।"

"मुझे पागल न समझो, भाभी। मैं होश में ही हूँ। परन्तु फिर भी बेचैन हूँ। क्योंकि मेरी चेतना, मेरा ज्ञान, मेरी हँसी तुम्हारी रेखा छीन ले गई है। वही मेरी सुनन्दा है, भाभी।"

हेमा की ही नहीं, रोहित की भी हँसी मानो छिन गई थी। भूला-भूला-सा, खोया-खोया-सा चुप-चुप बैठा रहता वह। आधी रात नींद टूटती शान्ता की तो वह देखती, कि वह खिड़की के किनारे चुप-चुप खड़ा दूर गगन में न जाने क्या खोज रहा है।

सखी के घर जाने का बहाना कर शान्ता सुनन्दा के पास जा पहुँची। कहा—"बहन जी, तुम्हारा धन है, अब तुम स्वयं ही उसकी रक्षा करो। जब तक कर सकती थी, तब तक किया मैंने। अब मेरे वश की बात नहीं।"

सुनन्दा कुछ समझ नहीं सकी। पूछा—"कैसा धन ! तुम कह क्या रही हो, शान्ता ?"

शान्ता के नयनों में अश्रु छलक आये। कहा—"माँ के अविचार का दण्ड समाज ने मुझे दिया। उस प्रेमहीन, शुष्क, नीरस जीवन का भार मैं ढो रही थी, बहन। कदाचित् जीवन-पर्यन्त ढोना पड़ता। किन्तु सौभाग्यवश, अब तुम मिल गई हो मुझे। मेरा भार हलका कर दो, बहन। मुझे निष्कृति दो।"

सुनन्दा सब-कुछ समझ गई। मृदु स्वर में कहा—"यह तुम्हारा भ्रम है, शान्ता। वह

तुम्हारे जीवन का भार नहीं, तुम्हारे जीवन की अमूल्य निधि है। यह देखो मैंने अपना सब सामान बाँध लिया है। तुम्हारा भार हल्का करने के लिए मैं इस नगर से ही चली जा रही हूँ। जैसे वह पहले भूल गये थे ऐसे ही इस बार भी समय उनके दुखते घावों को भर देगा।"

"भूले वह पहले भी नहीं थे, किन्तु अपने उस दुःख पर उन्होंने आवरण डाल रखा था। अब वह आवरण सदा-सदा के लिए हट गया है—अब किसी प्रकार भी···"

"शान्ता! सुनो..." अधीर भाव से सुनन्दा ने कहा।

"अब सुनने के लिए रह ही क्या गया! समाज को एक बलि ही चाहिये न। वह बलिदान तुम्हारा ही क्यों हो! तुम निर्वासना का दुःख भोग चुकी। अब मेरी बारी है। कल मैं भी जा रही हूँ। जाने से पहले तुम्हें अन्तिम बार प्रणाम कर जाऊँ।"

सुनन्दा कुछ कह सके, इससे पूर्व ही उसके चरणों पर शीश झुका शान्ता चट-पट बाहर निकल गई।

अधीर स्वर में सुनन्दा ने पुकारा—"शान्ता! शान्ता।" किन्तु उसने मुड़कर भी नहीं देखा। मोटर पल-भर में ही आँखों से ओझल हो गई।

नौकर से रिक्शा मँगा, पैरों में चप्पल डाल, सुनन्दा झटपट रोहित के घर की ओर चल दी।

आँधी के समान घर में प्रवेश कर उसने पूछा—"शान्ता कहाँ है?"

उसे देख सभी विस्मित रह गये। सुनन्दा ने पुनः पूछा, अधीर भाव से—"शान्ता कहाँ है? कहाँ है शान्ता?"

हेमा ने कहा—"अपने कमरे में।"

निढाल-सी सुनन्दा एक कुर्सी पर लुढ़क गई। हेमा ने उसके समीप आ स्नेह-सिंचित स्वर में कहा—"उनसे कुछ काम है, सुनन्दा?"

सहसा सुनन्दा ने उसके हाथ पकड़कर कहा—"अभी शान्ता मेरे पास आई थी। वह बड़ी उलटी-सीधी बातें कर रहीं थीं। उसका ध्यान रखना, हेमा, उसका ध्यान रखना। मुझे डर है कि कहीं वह किसी दिन आत्म-हत्या न कर बैठे।"

"सुनन्दा!" रोहित ने व्याकुल स्वर में कहा।

"सुनन्दा ने हेमा की ओर उन्मुख होकर कहा—"मैं सच कह रही हूँ, बहन। ध्यान रखना अपनी भाभी का। प्रयत्न करना कि उनका मन न दुखे। आज मैं जा रही हूँ। मैंने सोचा जाने से पहले एक बार तुम सबसे मिल भी आऊँ और तुम्हें सचेत भी करती जाऊँ।"

क्या कहा हेमा! उसके कपोलों पर अश्रु बह रहे थे। माँ का नीचे झुका मुख देखना किसी के लिए सम्भव नहीं था कि तभी ड्राइवर आ पहुँचा। कहा उसने—"छोटी रानी को छोड़ आया, रानी माँ?"

"कहाँ?" सब एक साथ बोल उठे।

"स्टेशन !" उसने कहा और हेमा के हाथ में एक पर्चा थमा दिया।

काँपते हाँथों से पत्र खोलकर देखा हेमा ने। वह शान्ता का पत्र था—स्पष्ट और संक्षिप्त—"बहन सुनन्दा ! मेरी बात तुमने मानी नहीं। अब मेरे लिए केवल एक ही उपाय रह गया है। मैं चल दूँ। अभी, इसी क्षण। डरना मत। आत्महत्या नहीं करूँगी। वह पाठ मैंने तुमसे ही सीखा है। फिर भी मेरी खोज मत करना। यदि किसी दिन किसी योग्य बन सकी, तो स्वयं ही आकर अपना परिचय तुम्हें दे जाऊँगी। विदा।"

२८

स्वर्ण-दीप

आँगन में जमादार का बेटा झाड़ू दे रहा था। दुबली-दुबली टाँगें, पतली-पतली बाहें, सूखे-सूखे गाल। फटी हुई कमीज में से उसके कन्धे झाँक रहे थे। रूखे-रूखे बाल माथे पर बिखर रहे थे। सारे शरीर में, मुख पर, आँखों में शैथिल्य का भाव था—मानो जीवन के प्रति उसे कोई उत्साह न हो। वह जिए जा रहा है, जिए जा रहा है, केवल इसलिए कि उसे जीना है।

बरामदे में बैठी सुधा उसे बड़ी देर से देख रही थी। उसका मस्तिष्क अशान्त था और मन अस्थिर। उस दीन-दुर्बल बालक की ओर देख न जाने क्यों उसकी आँखें भरी आ रही थीं। उसका क्षुब्ध हृदय सोच रहा था—यह है हमारे देश का नौनिहाल! इस किशोर वय में ही इसे पेट भरने के लिए कितना कड़ा परिश्रम करना पड़ता है? फिर भी पेट नहीं भरता। शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं; ज्ञान-अर्जन करने के कोई साधन नहीं! जीवन-पर्यन्त यह ऐसे ही झाड़ू लगाता रहेगा, बोझा ढोते-ढोते मर जायेगा, परन्तु इसके हृदय में जीवन के प्रति उत्साह कभी न जागेगा, अधरों पर मुक्त हास कभी न झलकेगा, मन में उमंगें कभी न खिलेंगी। सहसा वह बोल उठी—"चन्दन, मिठाई खाएगा?"

बालक की आँखों में एक क्षणिक चमक आई और फिर विलीन हो गई। धीरे से बोला—"नहीं।"

"नहीं क्यों रे! मिठाई तो सभी को अच्छी लगती है।" सुधा ने कहा—"झटपट झाड़ू पूरी कर, मैं मिठाई लाती हूँ।"

बालक के नयनों की कान्ति लौट आई। उसके हाथ दूने उत्साह से चलने लगे। झाड़ू कोने में खड़ी कर वह बाहर भागा।

"अरे, कहाँ जा रहा है? ले न।" सुधा ने उसे पुकारा।

"अभी आया, बीजी रानी। बाहर के नल पर हाथ धो आऊँ जरा।"

"आ, यहाँ आ। मैं हाथ धुलाती हूँ।"

चन्दन ने विस्मय से इस नई स्वामिनी की ओर देखा। संकुचित-सा हो वह धीरे से नाली के समीप आ खड़ा हुआ।

उसके हाथ धुला सुधा मिठाई की तश्तरी उठा लाई। चन्दन ने दोनों हाथों की अंजलि बना आगे बढ़ा दी। उसकी दयनीय मुद्रा देख, सुधा की आँखों में बरबस

अश्रु छलक आए। स्वर को स्वाभाविक बनाने का प्रयास करते हुए बोली—"हाथ क्यों बढ़ा रहा है रे ? ले, तश्तरी पकड़।"

चन्दन ने चकित हो उसकी ओर देखा। मालकिन क्या कुछ पागल हैं ! धीरे से कहा—"नहीं मालकिन, आपके बर्तन हमें नहीं छूने चाहिएँ।"

सुधा हँसी—"पागल ! क्यों नहीं छूने चाहिएँ ? हाथ में तश्तरी पकड़ लेने से ही क्या हो जायेगा ? घर की महरी तीन-तीन बजे तक नहीं आती। नल के नीचे भिनकते बर्तनों में अवसर पाते ही कुत्ता मुँह डाल देता है। उससे तो तेरे हाथ अच्छे ही हैं। ले पकड़।"

डरते-डरते चन्दन ने दोनों हाथों में तश्तरी थाम ली और मिठाई खाने लगा। उसे खाते देख सुधा को अपार शान्ति मिली। उसे लगा, जैसे उसके गुरुतम अपराध का आंशिक परिमार्जन तो हो ही गया। सुधा भावुक है। भावुकता में बह वह न जाने क्या-क्या पागलपन कर बैठती है। पर आज के इस भावोद्रक का एक विशेष कारण था।

* * *

सन्ध्या घिर आई थी। इधर-उधर घूम-फिरकर अनमनी-सी वह हिमांशु के पास जा पहुँची। बोली—"चलो भैया, आज मन्दिर चलें।"

हिमांशु लेख लिखने में व्यस्त था। उसने शायद सुना नहीं। सुधा ने फिर कहा—"चलो भैया, आज मन्दिर ही हो आयें।"

"मन्दिर ? अरे, क्या होगा मन्दिर जाकर ? आ बैठ। ताश खेलेंगे।"

"नहीं, ताश तो नित्य ही खेला करते हैं। चलो, आज विश्वनाथ जी के दर्शन कर आयें।"

"बैठक में कृष्ण भगवान् का चित्र टँगा हुआ है। दर्शन ही करने हों, तो जा, वहीं करके झटपट तैयार हो जा। रॉक्सी में 'बूट पालिश' चल रहा है। चल, दिखा लाऊँ।"

सुधा को हँसी आ गई। बोली—"बस, ताश या सिनेमा ! सिनेमा तो मैं कानपुर में भी देख सकती हूँ। पहली बार बनारस आई हूँ, तो और कहीं घुमाओगे नहीं ?"

"और जहाँ कहे, वहाँ चल सकता हूँ, पर उन दुर्गन्ध-भरी गलियों में जाकर, उन प्रस्तर-मूर्तियों के आगे सिर झुकाना मेरे वश का नहीं।"

सुधा अवाक् रह गई। दो पल मौन रह बोली—"तो क्या तुम्हें भगवान् पर श्रद्धा नहीं ?"

"है क्यों नहीं, भगवान् पर मुझे पूरी श्रद्धा है। नहीं है, तो मन्दिर में जाकर झूठा दिखावा करने पर। मन में भगवान् बसते हैं, तो क्या आवश्यकता है मन्दिर जाकर ढोंग रचने की ?"

सुधा गम्भीर हो उठी। मृदु स्वर में बोली—"हमारे जीवन में प्रत्येक वस्तु का

एक विशिष्ट स्थान है। ये मन्दिर और मूर्तियाँ भी हमारी उस भावना के प्रतीक हैं।"

"सो कैसे?"

"कैसे नहीं? सुन्दर-सुन्दर फूल घर के पिछवाड़े लगाकर तुम आलू-गोभी सामने लॉन में क्यों नहीं बोते? ऑफिस में नहाने का जल रखकर, तुम स्नानघर में तो नहीं पढ़ते-लिखते!"

हिमांशु खिलखिलाकर हँसने लगा। सुधा की भवों पर पड़े बल न उतरे। उसी स्वर में बोली—"हँसते हो! क्या मेरी बात सच नहीं? उस निराकार एक ब्रह्म की उपासना शुद्ध-स्वच्छ एकान्त स्थान में एकाग्रचित्त होकर ही की जा सकती है। इसीलिए इन मन्दिरों का निर्माण हुआ है।"

"इस बात को मैं कब अस्वीकार करता हूँ? पर न तो हमारे ये मन्दिर स्वच्छ-शुद्ध हैं, और न वहाँ एकान्त और शान्ति ही मिलती है।"

"यह तो अशिक्षा और अज्ञान का फल है। जनता में जागृति फैलाना तुम्हारे समान नवयुवकों की ही तो जिम्मेदारी है।"

"आपके धर्मान्ध बन्धु हमारी बात सुनने को मुँह बाए बैठे हैं न! ये मन्दिर तो आज पेटू और स्वार्थ-लोलुप पुजारियों को जैसे बपौती में मिल चुके हैं और भगवान् को उन्होंने रिश्वतखोर महाजन बनाकर रख छोड़ा है, जो भक्त की छोटी-से-छोटी कामना को भी पाँच पैसे के बताशे या पाँच सौ रुपए के छत्र के बदले में पूरी कर देता है!"

आमोद-भरी खीझ से सुधा ने पूछा—"सच्ची श्रद्धा-भरी पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं। क्या तुम्हें इस बात पर विश्वास नहीं?"

"कदापि नहीं!" हिमांशु ने कहा—"एक ओर तो तुम लोग कर्म और उनके फलाफल के विषय में चीखती हो, और दूसरी ओर भगवान् को रिश्वत दे मनोवांछा पूरी करने के मनसूबे बाँधती हो! ना बाबा, ऐसे धर्म को दूर से ही लाखों प्रणाम!"

सुधा हँसने लगी। बोली—"कुछ भी हो, आज तो तुम्हें चलना ही पड़ेगा। न जाना तुम मन्दिर के अन्दर, मोटर में ही बैठे रहना।"

"अच्छा चल बाबा, चल। तू मानेगी थोड़े ही!" हिमांशु ने मानो हार मानते हुए कहा।

* * *

ड्राइवर ने मोटर निकाल सामने पोर्च में खड़ी कर दी थी। पार्श्व में खड़ा चन्दन उसे छू-छूकर मन-ही-मन पुलकित हो रहा था। बाहर आते ही यह दृश्य देख हिमांशु के माथे की नसें तन गईं। क्रोधावेश से भरकर वह चीख उठा—"बदमाश, पाजी, हजार बार कहा कि मोटर को हाथ न लगाया कर, पर जान पड़ता है बिना मार खाए तेरी अक्ल ठिकाने न आयेगी।"

मालिक का स्वर सुन, हाथ की बीड़ी बुझा ड्राइवर भी आ पहुँचा। हिमांशु का रहा-सहा क्रोध उसके ऊपर बरस पड़ा—"अन्धा है, अर्जुन! तुझे दिखाई नहीं

देता ? गन्दे-आवारा मोटर गन्दी करते रहें, तो फिर तेरी जरूरत ही क्या है ?"

अर्जुन ने पलटकर एक भद्दी-सी गाली देते हुए हाथ का हैण्डिल चन्दन की ओर घुमाया। वह डरकर भाग खड़ा हुआ। मोटर के पास खड़े हो हिमांशु ने आवाज लगाई—"कैसर !"

दूसरे ही क्षण एक भीमकाय एलसेशियन कूदता हुआ आ पहुँचा। दोनों पंजे हिमांशु के कन्धे पर रख उसने उसका मुँह चाट लिया। बाहर आती हुई सुधा ने यह देख लिया। उसका हृदय घृणा से परिपूर्ण हो उठा। पूछा—"यह भी चलेगा क्या ?"

"अवश्य ! इसके बिना तो मैं एक पग भी नहीं चल सकता !" हिमांशु ने गर्वोक्त स्वर में कहा।

कैसर कूदकर ड्राइवर के पास जा बैठा। खिन्नमना सुधा पीछे बैठ गई। छलछलाती आँखों से उसने उस ओर देखा, जहाँ दीन बालक मैली कमीज के छोर से अपने अश्रु पोंछ रहा था।

मन्दिर के बाहर सुधा सैण्डल उतारने लगी। हिमांशु ने पूछा—"जूते भी उतारने पड़ेंगे क्या ?"

सुधा विरक्त हो उठी। पर रोष संवरण कर कहा—"अवश्य।" और मन-ही-मन कहा—'और अभी श्रीमान स्वच्छता के अभाव पर भाषण झाड़ रहे थे !'

दोनों के पीछे-पीछे कैसर भी चला, तो वह व्याकुल हो उठी। बोली—"भैया, अर्जुन से कहो इसे पकड़ ले।"

"वाह, पकड़ क्यों ले ! उसकी क्या कोई इच्छा ही नहीं। वह भी दर्शन करेगा। है न, पुजारीजी ?"

स्थूल देह का पुजारी ताम्बूल-रचित टेढ़े-मेढ़े दाँत निपोरकर हँसा—"हाँ, हाँ, क्यों नहीं मालिक ! उसे भी दर्शन करने दो, बिटियारानी ! क्या हर्ज है ?"

क्रोध और क्षोभ से सुधा का रोम-रोम सिहर उठा। बिना कुछ कहे वह दन्न से मोटर में आ बैठी।

विस्मित हिमांशु ने समीप आकर पूछा—"क्यों, द्वार पर से ही क्यों लौट आईं ! दर्शन नहीं करोगी क्या ?"

"नहीं ! चलो, घर लौट चलो।"

उसकी कठोर मुद्रा देख हिमांशु को कुछ कहने या पूछने का साहस न हुआ। वह चुपचाप उसके समीप आ बैठा। मोटर चल दी।

सुधा के अभ्यन्तर में भीषण ज्वार उठ रहा था। सच तो है, यही है हमारा धर्म ! धनवान का कुत्ता भी मन्दिर में प्रवेश पा सकता है, पर निरुपाय, बेबस, हरिजन की सन्तान मन्दिर की परछाईं तक नहीं छू सकती ! पिछली रात की बात भी उसे स्मरण आई जब कैसर ने नाली पर टट्टी की और दौड़कर उसकी दुग्ध-श्वेत शैया पर आ चढ़ा था। घृणा से भर उसने उसके चार-छः घूँसे जमा दिये थे और नीचे ढकेल दिया था। इस पर असीम क्रोध से हिमांशु गरज उठा था—"बिना मतलब

कुत्ते को नहीं मारना चाहिए, सुधा। इससे उसकी आदत बिगड़ जायेगी।" और गोदी में समेट हिमांशु ने उसे अपनी शैया पर बैठा लिया था और स्नेह से थपकने लगा था।

और इसी के साथ सुधा को याद आया दोपहर का वह गर्जन-तर्जन, जब तार पर सूखती धोती से चन्दन अनजाने ही छू गया था और हिमांशु ने आकर उसे कितना बुरा-भला कहा था ! फिर सुबह उसके हाथ में तश्तरी देखकर तो वह आग-बबूला हो उठा था। भाई का मुख देखते ही सुधा सब-कुछ समझ गई थी। उसके कुछ कह पाने से पूर्व ही वह बोल उठी थी—"तश्तरी मैंने ही दी है उसे।" क्रोध के कारण हिमांशु की वाणी थरथरा उठी और किसी प्रकार वह बोला—"तुम्हारा यह दुस्साहस !"

"साहस की इसमें क्या बात है !" सुधा ने शान्त-धीर भाव से कहा था—"मांस-मछली भक्षण करनेवाले तुम्हारे जो मित्र इन बर्तनों में भोजन उड़ाते हैं, उनसे तो इस बालक के हाथ अधिक ही स्वच्छ हैं !" और फिर उसे और कुछ कहने का अवकाश न दे वह दनाती हुई अन्दर चली गई थी। बेचारा चन्दन डरकर बाहर भाग गया था।

* * *

रागिनी बैठी रामायण पढ़ रही थी। हिमांशु ने आकर कहा—"सुधा दिन-दिन ढीठ होती जा रही है, मौसी। इसे वश में रखो, नहीं तो फिर मैं जिम्मेदार नहीं हूँ।"

रागिनी विस्मित हो उठी। पूछा—"ऐसा क्या हुआ, हेमेन ?"

"होगा क्या ? आज चन्दन को बर्तन में मिठाई खिला रही थी। कल से वह रसोई में भी घुसने लगेगा !"

सुधा ने उद्धत भाव से कहा—"घुसने भी लगे, तो क्या ? तुम्हारे लिये तो यह कोई नई बात नहीं होगी। जिन होटलों में तुम षटरस व्यंजन उड़ाते हो, वहाँ के बावर्ची-बैरे क्या सब कुलीन ब्राह्मण ही होते हैं ?"

रागिनी अवाक् रह गई। सँभलकर कहा—"चुप रह, सुधा ! लड़कियों का इतना बोलना अच्छा नहीं होता।"

सुधा के नयनों में नीर छलक आया, पर विद्रोहाग्नि दब न सकी। उसने चिढ़कर कहा—"यह तुम कह रही हो माँ, तुम ! जिसने सदा से मुझे यही सिखाया है कि मैं उस धरती की बेटी हूँ, जिसने सहस्रों धर्मानुयायियों को अपने हृदय में स्थान दिया है, जो सबके लिए समान रूप से फल-फूल-अन्न उपजाती है, जिसके निकट कोई भी बड़ा-छोटा नहीं है !"

"सुधा ! बिटिया·····"

"क्या मैं झूठ कह रही हूँ, माँ ? यहाँ आकर क्या तुम पर भी इन दकियानूसी विचारों का असर हो गया है ? लड़कियों को बोलना नहीं चाहिए ! भला क्यों ?

चलो माँ, घर लौट चलो। अब मैं यहाँ एक क्षण को भी नहीं रह सकती।"

कहने को तो कह दिया, पर जाना असम्भव है, यह सुधा भी जानती थी। मातृ-पितृहीन हिमांशु के लिए सुधा के माता-पिता ही सब-कुछ थे। पिता उसका कारबार सँभालते थे, वर्ष में एक-दो बार आ माँ उसका घर सँभाल जाती थी। भैया को देखे वर्षों बीत गये थे, इसलिए इस बार सुधा भी माँ के साथ चली आई थी, पर आकर वह बहुत पछताई। छुट्टियाँ पूरी होने में अभी भी पाँच दिन रहते थे। वह छटपटाकर रह गई।

* * *

रागिनी ने पुकारकर कहा—"सुधा, अपने भैया को जरा अमृतधारा तो दे आ, बिटिया।"

"अच्छा, माँ।"

बताशे में अमृतधारा टपका, सुधा भाई के पास जा पहुँची। बोली—"क्या बात है, भैया? तबीयत ठीक नहीं है क्या?"

"पता नहीं क्या हुआ?" वह बोला—"पाँच-छः बार दस्त हो चुके हैं। अभी भी पेट गड़गड़ा रहा है।"

अमृतधारा पीने से भी उसे शान्ति न मिली। हर आध-पौन घण्टे बाद एकाध दस्त हो जाता। निर्बल होती काया को घसीट वह छत पर जा लेटा।

सुधा चिन्तित हो उठी थी। रागिनी अलग झींक रही थी—"बाजार में खा लिया होगा कुछ। लाख बार मना किया, पर··"

सहसा हिमांशु ने करवट ली और उल्टी कर दी। सुधा चीख उठी—"माँ!"

रागिनी भागी-भागी आई। रोगी का पीला पड़ता चेहरा और गढ़े में धँसती आँखें देख उसका दिल बैठने लगा। बोली—"तू डाक्टर को फोन तो कर, बेटी। मैं रामनाथ को बुला लाऊँ।"

रामनाथ ने ऊपर आते ही मालिक की दशा देखी, तो भयभीत हो पीछे हट गया। बोला—"इन्हें तो हैजा हुआ है, मालकिन।"

"'हैजा!" भय से हिमांशु के प्राण-पखेरू उड़ने की तैयारी करने लगे।'

"हिस्त, कैसी बात कर रहा है! पागल हो गया है क्या?" रागिनी ने तत्काल उसे धमकाते हुए कहा—"ऐसी बीमारी का नाम भी न लेना चाहिए। जा, पानी ले आ। फर्श धो डाल और यहाँ चिलमची रख दे।"

रामनाथ को भी अपने प्राणों से मोह था। अपना बिस्तरा बाँध वह उसी समय चम्पत हो गया। हैजे का डर दिखाकर साथ में अन्य नौकरों को भी लेता गया।

चार-छः बार पुकारने पर भी जब कोई उत्तर न मिला, तो सुधा नीचे उतर आई। सूनी पड़ी कोठरी देख वह तत्काल ही उस चुप्पी का रहस्य समझ गई।

सुधा को फर्श धोते देख हिमांशु त्रस्त हो उठा—"यह क्या? यह क्या करती

है, सुधा ? दूर हट, देखती नहीं मुझे हैजा हुआ है !"

"हैजा हो ही गया, तो क्या हुआ भैया ?" शान्त-मधुर स्वर में वह बोली—"डाक्टर आता ही होगा। कल तक अच्छे हो जाओगे।"

"नहीं सुधा, अब मैं न बचूँगा। मुझे तो मरना ही है, तू क्यों व्यर्थ विपत्ति मोल लेती है। चल, उठ यहाँ से ! यह सब रामनाथ से क्यों नहीं करवाती, पगली ? मौसी, ओ मौसी !"

पलंग के नीचे चिलमची रख, साबुन से हाथ धो, सुधा हिमांशु के समीप आ बैठी। हिमांशु फिर चीख उठा—"तू सच ही मरना चाहती है क्या, सुधा ? जानती नहीं, पापा इसी बीमारी में मरे। माँ को भी यही बीमारी खा गई। अब मेरी बारी है। पर तू क्यों लपेट में आना चाहती है ?"

सुधा ने हाथ बढ़ा भाई का मुँह बन्द कर दिया और कहा—"बोलो नहीं, भैया। बोलने से कमजोरी बढ़ती है।"

हिमांशु को अलग कमरे में लिटाने की व्यवस्था पूरी कर रागिनी ऊपर आई। उसे देखते ही हिमांशु फिर चीख उठा—"उधर ही रहो, मौसी, उधर ही रहो। इस पगली को भी हटा लो यहाँ से। डाक्टर से कह दो कि साथ में एक नर्स भी लेता आये। अपने स्वार्थ के लिए मैं तुम लोगों······"

"अच्छा, अच्छा। आ, तू उठ !" रागिनी ने शान्तिपूर्वक कहा। मौसी और बहन का सहारा ले, लड़खड़ाते-लड़खड़ाते हिमांशु कमरे में आ लेटा। लेटते ही उसने आँखें मूँद लीं। पाँच मिनट बाद ही उसने आँखें खोल दीं। पूछा—"नर्स के लिए फोन कर दिया ?"

समीप ही सुधा बैठी थी। मृदु स्वर में बोली—"नहीं।"

"नहीं ! क्यों नहीं ? क्या तू सच ही मरना चाहती है ?"

"मरने से मैं नहीं डरती, भैया। पर नर्सिंग न जानते हुए भी मैं तुम्हें किसी अपरिचित के हाथों में न सौंप सकूँगी।"

"मैं ये सब उल्टी-सीधी बातें नहीं सुनना चाहता। तुम फोन करती हो या मुझे ही उठना पड़ेगा ?"

"वह नर्स भी तो मेरे ही समान हाड़-मांस की बनी हुई है, भैया। क्या उसके लिए मौत का डर नहीं ?"

हिमांशु को प्रतिवाद करने का अवसर न मिला। उसे फिर उल्टी हो गई।

तभी डाक्टर आ गया। रोग-निदान कर उसने रोगी को अस्पताल ले चलने की सलाह दी, पर रागिनी सहमत न हुई। डाक्टर ने अस्पताल में रहने के लाभ समझाये, पर वह टस-से-मस न हुई। डाक्टर मन-ही-मन हँसा—'अमीरों की सनक !'

आखिर इन्जेक्शन दे, दवा बताकर, आधे-आधे घण्टे बाद टेलीफोन से रोगी की दशा बताने का आदेश दे वह चला गया।

दो दिन और दो रात हिमांशु जीवन और मृत्यु के बीच झूलता रहा। तीसरे दिन सहसा वह पुकार उठा—"सुधा!"

"क्या है, भैया?"

"यदि मैं अच्छा हो गया तो इक्कीस ब्राह्मणों को भोजन कराऊँगा और विश्वनाथजी को स्वर्ण-दीप चढ़ाऊँगा।"

"अवश्य, भैया। अन्तर्यामी [illegible] पुकार अवश्य सुनेंगे।"

उसकी दशा सुधरने लगी थी। दो दिन से माँ-बेटी के मुख में अन्न का दाना भी न गया था। नौकर कोई था नहीं। फल लाना आवश्यक था, सो सुधा ही जरा बाजार चली गई।

हिमांशु को नींद-सी आ गई। उसे तन्द्राच्छन्न देख चन्दन को उसके समीप बैठा रागिनी नहा-धोकर खिचड़ी चढ़ा देने के लिए चली गई।

हिमांशु की निद्रा टूटी। सामने चन्दन को बैठे देख उसकी भवें तन गईं। पूछा—"वे लोग कहाँ हैं?"

"जी, माँजी नहाने गई हैं, जीजीरानी बाजार···"

"हूँ! सबके सब एक साथ चले गए! मुझे कुछ जरूरत पड़े, तो?"

"जी, माँजी ने कहा था कि जैसे ही आप उठें, मैं उन्हें···"

"चुप रह, माँजी के बच्चे! उफ़, पानी!" और इसके साथ ही उसने उठना चाहा, पर लड़खड़ाकर गिर पड़ा। चन्दन से रहा न गया। तेजी से आगे बढ़ उसने उसे सँभाल लिया।

"पानी!" क्षीण होती वाणी में हिमांशु बोल उठा।

चन्दन घबराया। वह माँजी को बुलाने चला। हिमांशु की दुर्बल आवाज में न जाने कहाँ की शक्ति भर आई थी। कहा—"पानी तो देता जा, गधे। मैं मर जाऊँगा, तो तुझे शान्ति मिलेगी न!"

"नहीं मालिक, मैं तो माँजी को बुलाने···" चन्दन बात भी न कर सका था कि मालिक की मुख-मुद्रा देख वह सहम गया। धीरे से आगे बढ़ा। गिलास छूते समय वह एक बार झिझका। फिर गिलास उठा मालिक के हाथों में थमा दिया।

* * *

रागिनी को जन्म-जन्म की तपस्या का फल मिला। सुधा की सुश्रूषा सफल हुई। हिमांशु अच्छा हो गया।

आज ब्राह्मण-भोज था। तय हुआ था कि उसके बाद सब लोग मिलकर मन्दिर जायँगे और पूजा कर प्रभु को स्वर्ण-दीप भेंट चढ़ायँगे।

भोजन समाप्त हो गया। पण्डित लोग पान चबाने लगे। सहसा बाहर के दालान में गोलमाल मच उठा। सबने अवाक् होकर देखा—जमादार अपने पुत्र-सहित गृहिणी के पद-तल में लोट-लोटकर रो रहा है। 'क्या हुआ?' 'क्या हुआ?' 'अरे, क्या बात हुई?' शोर मच उठा।

"मालिक, बाबू ने बूढ़े की तनख़्वाह काट उसे नौकरी से निकाल दिया है।" भीड़ में से कोई बोला।

रागिनी का मुख तमतमा उठा। पूछा—"क्यों?"

रामनाथ आगे बढ़ आया—"नीच जात के हैं न ये लोग, कमीने! जब से मुकाज मिला है, अपने को न-जाने क्या समझने लगे हैं। उस दिन मालिक बीमार पड़े थे, उन्हें होश तो था नहीं, और चन्दन ने पानी का गिलास उठा उनके हाथों में थमा दिया!"

रागिनी के काटो तो खून नहीं। सुधा का रक्त खौल उठा। वह भागी-भागी अन्दर गई और स्वर्ण-दीप निकाल लाई। कोई कुछ समझ सके, इससे पहले उसने वह दीप बूढ़े की गोद में डाल दिया और बोली—"लो बाबा, इसे बेचकर अपने बेटे का भविष्य बनाना।"

भीड़ में एक खलबली-सी मच गई। सुनते ही हिमांशु आ पहुँचा। लाल-लाल आँखें निकालकर वह गरज उठा—"सुधा, तेरा इतना साहस! पाँच हजार रुपए का मेरा स्वर्ण-दीप, प्रभु को अर्पण की हुई वस्तु, तूने इस पापी की गोद में डालकर अपवित्र कर दी!"

"पापी किसे कहते हैं, भैया?" सुधा ने भी तीखे स्वर में कहा—"जो झूठ बोलता है, उसे। यह पापी नहीं, तुम्हारा जीवन-रक्षक है। उस दिन द्वेष और क्रोध में अन्धे हो तुमने चन्दन को माँ को बुलाने तक नहीं दिया। यदि वह भी क्रुद्ध हो तुम्हें पानी न देता, तो तुम्हारे प्राण कण्ठ के साथ ही सूख गए होते!"

"सुधा!" रागिनी तड़पकर आगे बढ़ी और अपने हाथ से उसका मुँह बन्द कर दिया।

हिमांशु ने आग्नेय नेत्रों से उसकी ओर देखा। बूढ़े के आगे को बढ़े हुए दोनों हाथों में से स्वर्ण-दीप लेने को वह झुका ही था कि सुधा बीच में आ खड़ी हुई। बोली—"खबरदार भैया, जो तुमने इस दीप को हाथ भी लगाया।"

रागिनी मृदु स्वर में बोली—"सुधा, तू कुछ पगला गई है क्या, बिटिया? हट सामने से। प्रभु को अर्पण की हुई वस्तु का यों अपमान नहीं करते।"

सुधा पल-भर भी न हिली। बोली—"प्रभु की वस्तु का मैंने अपमान नहीं किया है, माँ। उनकी वस्तु उन्हीं के पास पहुँचा दी है। पाहन की प्रतिमा में भगवान् बसते हैं या नहीं, यह तो मुझे मालूम नहीं, पर इस निष्कलंक भोले बालक के हृदय में अवश्य ही उनका वास है। यह जड़ दीपक अँधेरे मन्दिर की शोभा बढ़ा पाता या न बढ़ा पाता; परन्तु यह निष्पाप ज्वलंत किशोर अवश्य ही अपने देश की शोभा बढ़ा सकेगा।"

सहसा हिमांशु की आँखों के आगे से मानो पर्दा हट गया। उसने उन हट्टे-कट्टे तोंदल ब्राह्मणों की ओर देखा, फिर उस जीर्ण-शीर्ण वृद्ध की ओर दृष्टिपात किया। उस पाषाण के नयनों में नीर छलक आया। भरे गले से बोला—"आज प्रभु ने सच ही मेरी

आँखें खोल दीं। सत्पात्र को दान देना ही सच्चा दान देना है। युग-युगाती के इन अभागों से अधिक इस दान का और कोई अधिकारी नहीं। सुधा, आ बहन, इस देश-पिता के चरणों में प्रणाम कर हम आशीर्वाद लें कि अपना शेष जीवन दलितों और असहायों की सहायता करने में ही बिता सकें।"

और उपस्थित भीड़ ने अवाक् हो देखा—हिमांशु चन्दन के वृद्ध पिता के चरणों पर शीश झुका रहा था!

२६

घर की लाज

पुण्य-भूमि भारत की पुनीत अतिथि-वत्सलता के विषय में अनेक कहानियाँ सुन चुका हूँ, और अगणित कहानियाँ पढ़ चुका हूँ, किन्तु उसका जो उत्कृष्ट नमूना, आज चाची के घर देख आया हूँ, वह निश्चय ही इस जन्म में भूलने की चीज नहीं ।

रूपमति चाची ! उनके ध्यानमात्र से ही हृदय काँप-सा उठता है—ऐसा ही प्रभावशाली व्यक्तित्व है उनका । लाखों की भीड़ में भी, वह छिपाये छिप नहीं सकतीं ।

कद्दू-जैसा गोल-गोल मुँह, उसमें ठुकीं हुईं, नन्ही-नन्ही कौड़ियों-जैसी दो आँखें, और छोटी-सी नाक । नाक में बड़ी-सी हीरे की लौंग, कानों में बाली-पत्ते, और अन्य अनेक आभूषण, जिनके नाम मुझे याद नहीं रहते । ताम्बूल-रंजित अधर और काले-काले दाँत । गर्दन यदि उनकी, तनिक सी भी दिखाई देती होती, तो मैं अवश्य ही उसे सुराहीदार कह देता; किन्तु जो वस्तु दिखाई ही न देती हो, उसका वर्णन करना तो कवियों के ही वश की बात है । सुना है—अतुलित रूप-यौवन की स्वामिनि, चंचल रमणियों की मदमाती चाल की उपमा, कवि लोग गजगामिनि कह कर दिया करते हैं । कुछ सौन्दर्य-साम्राज्ञियों के दर्शन कर पाने के सौभाग्य का दावा, मैं भी कर सकता हूँ, किन्तु बहुत खोजने पर भी, मैं उनकी उस चहलकदमी का सादृश्य किसी गज-दुहिता की चाल से नहीं कर सका था, किन्तु चाची की चाल देखते ही, मैं सच ही हार मान बैठा था । उन्हें चलते देख, अनायास किसी नवोढ़ा हथिनि का भ्रम हो सकता है । उनके पद-भार से कहीं धरती न डोल उठे मन में यही भय लगने लगता है ।

उनके घर जाने का साहस, मुझे सहज में नहीं होता । आज भी वहाँ गया था, एक विशेष कारण से ।

सुनने वाले जरूर कहेंगे—कैसा कपूत है ! एक तो चाची की खैर-खबर नहीं लेता, ऊपर से डींग हाँकता है इस बात की । इसीलिए मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ, कि वह ऐसी-वैसी, साधारण-सी चाची नहीं हैं मेरी ।

मेरा अभिन्न मित्र है अहीन्द्र । उसी की बहन हेमा की सौतेली सास हैं—रूपमति चाची । विश्वास मानिये—उनसे चाची का नाता जोड़े बिना, हँसना-बोलना तो दूर,

मैं अपनी बहन की एक झलक तक नहीं देख सकता था; इसीलिए विवश हो मुझे यह सम्बन्ध स्थापित करना पड़ा था। मैं पूर्ण दावे के साथ कह सकता हूँ, कि मेरी यह युक्ति, किसी प्रकार से भी, भारतीय सामाजिक आचारों के प्रतिकूल नहीं है। यदि आपकी पत्नी के मौसा की साली के भतीजे के फूफा का पूरा परिवार का परिवार, एकान्त निर्लिप्तता के साथ, आपके यहाँ महीने के बीस दिन अतिथि बनना सहर्ष स्वीकार कर सकता है, तब फिर मैं तो, हेमा के भाई का मित्र ही था।

खैर, छोड़िये इन बातों को। मन-ही-मन, श्री शेषनाग जी की अगणित प्रशंसा करते हुए, कि सहस्र फणियों में से एक भी कम नहीं, उनके छत्र में; और भगवान् से प्रार्थना करते हुए, कि, हे ईश, मुझ पर इतनी कृपा अवश्य करना आज, कि उनकी किसी फणि में मस्तक-पीड़ा न उठने पाये, कि हमारी शत-शत गज-गामिनियों की चाल को भी, वह निर्भयतापूर्वक सहन कर सकें, मैं चाची के घर जाने को, कमर कस, तैयार हो गया।

चलने लगा तो पीछे से आ पहुँची माँ। बोलीं—"कहाँ चल दिया रे, भुवन?"

रोषपूर्वक कहा—"बस, टोक दिया न चलते समय?"

माँ हँसने लगीं। कहा—"सो तो सुना। पर इस बेला जा कहाँ रहा है तू? जा ही रहा है तो भोजन करके जाना।"

इसका प्रतिवाद करना ही पड़ा। कहा—"वाह, अभी भोजन का समय कहाँ हुआ? अभी तो बारह ही बजे हैं दोपहर के।"

चाची के घर पहुँचा तो पाया, कि वहाँ गरमागरम बहस छिड़ी हुई है किसी बात पर। मुझे देखते ही पल-भर को वहाँ निस्तब्धता छा गई। दूसरे ही क्षण चाची बोल उठीं, "यह आ गया भुवन। अच्छा रे भुवन, तू ही बता—दादा-परदादा के जमाने से चले आये गहनों को बेच देना क्या उचित है?"

सुनकर अवाक् हो रहा। कहा, "बिना यह जाने कि किसलिए बेचे गये, मैं अपनी राय दे ही कैसे सकता हूँ, चाचीजी। किन्तु ऐसा भयंकर अपराध करने का साहस किया किसने?"

मेरा अन्तिम वाक्य सुन, चाची की मुख-मुद्रा, छिलका उतारे साबुत तरबूज-सी खिल उठी। उपस्थित जनों की ओर विजय-दृष्टि डालती वह बोलीं—"तेरी इस लाड़ली हेमा ने, और किसने!"

मैं सचमुच में विस्मित हो उठा। पूछा—"क्यों?"

"पूछ न इसी महारानी से! मानो एक यही तो सुहागिन अपने पति की आज्ञा मानने वाली है। वह निकम्मा उपेन्द्र? आज तक कोई काम किया है उसने, जो आगे कभी करेगा! अच्छी-भली नौकरी लगवा दी थी तेरे चाचाजी ने, सो उसे छोड़-छाड़-कर भाग आया। जाकर किसी फर्म में सिकटरी बन गया। चार महीने बाद ही मालिक ने निकाल दिया, तो किताबों की दूकान खोल डाली। फिर उसमें भी आग लगा दी।"

अचरज से पूछा "अपनी दूकान में कोई स्वयं ही आग कैसे लगा सकता है, चाचीजी ?"

चाची क्रुद्ध हो उठीं। बोलीं—"तू तो बाल की खाल निकालता है। मैंने तो बात में बात कही। क्या जानूँ, धोखे से आग लग गई, या घाट होते देख, जान-बूझ कर लगा दी। पास में कानी-कौड़ी नहीं रही, तो बहू के जेवर बेच, अब प्रेस खोल कर बैठे हैं, बच्चू। यह भी ऐसी ही अभागी है। एक बार मुँह खोलकर उसे समझा नहीं सकी यह कि बाबूजी की शरण में चलो। पहले भी तो उन्होंने क्लर्की दिला ही दी थी। अब भी कहीं-न-कहीं लगा ही देंगे। दादा-परदादा की स्मृति को, घर की लाज को, बेचकर खा गये अभागे। बेचने से पहले, एक बार तूने मुझसे पूछा तक नहीं, मुँहजली।"

मुँहजली ने हास-भरे मुखड़े से तत्काल ही प्रतिवाद करते हुए कहा—"पूछने का अवसर ही कहाँ मिला, माँ जी। रोज डाके, लूट-पाट, हरे-भरे घरों में नित नई आग ! कोई चोरी कर ले जाता उन्हें तो घर की लाज चोरी न हो जाती, माँ जी।"

मुँह भारी बना चाची जी उठ खड़ी हुईं। उनके कथनानुसार उन्होंने अपने बाल धूप में सफेद नहीं किये हैं। बोलीं—"आजकल की बहुओं को बस यही तो रोग है। कैसी चपर-चपर जबान चलती है ! यों दिन-रात मनमाना करने से क्या घर की एकता रह सकती है ?"

मैंने कुछ कहना चाहा, पर चुप रह गया। लाभ ही क्या था ! वह समझेंगी नहीं। उलटे हेमा के अपराध का भार बढ़ जायेगा। इस समय वैसे ही क्रोध में हैं वह।

चाची चली गईं। उनके पीछे-पीछे हेमा भी चली गई। रह गया नरेश, और अहीन्द्र। नरेश के सामने, मैं अपने मित्र से बातें करते भी डरता हूँ। वह मानो गैस्टापो का उग्र सदस्य है, जो सीधी बात का उल्टा अर्थ लगा और उसमें चार चाँद जड़, चाची के कानों में फूँक देता है उन्हें।

नरेश को देख-देखकर मुझे विधाता के हथौड़े पर विस्मय हुआ करता है। क्या ही अनोखी-अद्भुत शकलें ठोका करता है वह अपने कारखाने में बैठे-बैठे। चिपटे-चिपटे गाल, छोटा-सा माथा, जिस पर सदा बालों की लटें झूलती रहती हैं। छोटी-छोटी आँखें, जो सदा गढ़ों में धँसी रहती हैं। भिण्डी-जैसी नाक, तुरई-जैसी कमर, कोई कमर में एक घूँसा जमा दे, खेल-खेल में; तो उसके सूखे-सूखे पैरों में इतनी भी शक्ति नहीं, कि उसके शरीर का बोझ ही सँभाल सके। जो बुशशर्ट वह पहनता है, उससे वह अच्छा-खासा, चलता-फिरता चिड़ियाघर, या किसी सिनेमा का पोस्टर लगा करता है। तिस पर मजा यह कि वह अपने दल के लड़कों में सबसे अधिक सुन्दर, सबसे अधिक फैशनेबुल माना जाता है।

सोच रहा था कि कौन-सी बातें करूँ, जिनमें इस आधुनिक युवक का मन रम सके, कि सामने खुली खिड़की से मन्दा आती दिखाई दी। एक हाथ में पुस्तकें थीं, दूसरे में कपड़े की छोटी-सी थैली। उसे देखते ही नरेश उठकर अन्दर चला गया।

शायद उसका यह विचार था कि मन्दा सीधी अन्दर जायेगी। किन्तु मन्दा भी मुझे देख चुकी थी, इसलिए अन्दर न जा, वह ड्राइंग-रूम में ही आ पहुँची। आते ही बोली—"ओहो, आज ब्रह्मचारी-गण मौन धारण किये क्यों बैठे हैं?"

पुस्तकें एक ओर पटक, उसने थैली में से अधबुना पुलोवर निकाल लिया, और खटाखट सलाई चलाने लगी। मन्दा का बचपन का नाम था सुशीला। किन्तु आधुनिक नरेश को यह पुरातन नाम पसन्द न आया; सो सुशीला बात की बात में मन्दाकिनि बन बैठी।

नरेश महोदय अभी कालिज में ही पढ़ रहे हैं। परन्तु चाची के मन में, बहू का मुख देखने की बड़ी साध थी। इकलौता बेटा है। क्या जाने बहू का मुख देखने से पहले ही, स्वर्ग देखने का बुलावा न आ जाये। दूसरे, उनका कथन था कि वधू के पैरों की रुनझुन के बिना घर सूना-सूना-सा लगता है। यह बात दूसरी है कि आजकल की वधुओं के चरणों से, रुन-झुन के स्थान पर, ऊँची एड़ी के सैण्डिलों की कर्ण-कटु खटखट ही अधिक सुनाई देती है।

परन्तु यह मानना पड़ेगा कि चाची हैं चतुर। उन्होंने रूप-सौन्दर्य की खान कन्या न खोज, धन-सम्पत्ति की खान घर खोज डाला। कन्या अशिक्षित है तो क्या! अभी लड़का भी तो पढ़ ही रहा है, वह भी पढ़ लेगी। थोड़ी-सी मोटी है, किन्तु पतली लड़की खोजकर क्या करना है। विवाह के बाद प्रायः सभी लड़कियाँ मोटी हो ही जाती हैं। हमारे देश का तो रंग ही काला है—कृष्ण भी काले थे, कृष्णा भी काली थी—गोरी बहू खोजने से क्या लाभ! किन्तु फैशन? ओह! वह तो मानो छूत का रोग है। गँवई-गाँव की लड़कियाँ लिपस्टिक लगा, दो दिन में सोसाइटी की नाक बन जाती हैं।

मैंने कहा—"कालिज से लौटकर आई हो शायद? अरे वाह! यह पुलोवर तो तुमने बड़ा सुन्दर बुना है, मन्दा बहन।"

प्रशंसा सुन, वह पुलकित हो उठी। बोली—"भुवन भाई, आप चाहो, तो एक आपके लिए भी बुन दूँ।"

'आप' और 'चाहो' के इस मधुर मिलाप पर मुझे हँसी आ गई। किन्तु तुरन्त ही मेरे अन्तर्मन ने मुझे डाँट दिया—छिः! इसमें हँसने की क्या बात है! अब वह सभ्य बनती जा रही है। कालिज में संग पढ़ने वाले अपने पति को 'यू डोण्ट रीड' कहकर धमकाने लगी है। यदि वह आदरपूर्वक आप कहकर, मेरा सम्मान करना चाहे, तो मुझे प्रसन्न होना चाहिये, न कि···

तत्क्षण सभ्यता का जामा पहन, गम्भीर मुख बनाते हुए कहा, "न मन्दा, मेरे पास तो बहुत हैं। यदि तुम बनाना ही चाहती हो, तो इन अहीन्द्र भाई के लिए ही बना दो एक।"

"ओह, इनके लिए।" उसके हँसते मुख पर बदली छा गई। बोली—"यह तो

कल चले जायेंगे। और फिर, इनकी पसन्द तो भाभी ही जान सकती हैं, अच्छी तरह।"

मैंने कहा—"कोई बात नहीं। मारो गोली। हाँ, मैंने तुम्हारी कापी में टाँकने के लिए एक बड़ा सुन्दर सुभाषित खोजा है।"

"सच !" वह बोली—"सुनाओ।"

"मनुष्य का दिमाग एक बंजर खेत की तरह है, जिसमें से बाहर से खाद-मसाला डाले बिना, कोई उपज नहीं हो सकती।"

मन्दा खिलखिला उठी।

"अरे ! हँसती हो ? जानती हो, यह प्रसिद्ध विद्वान रेनाल्ड्स का कथन है ?"

"पर यह तो जरूरी नहीं, कि सभी विद्वानों के सभी कथन ठीक हों।"

मैं खीझ उठा। शौक होते हैं अपने-अपने। किसी को फोटोग्राफी का शौक है, तो किसी को कुत्ते पालने का। किसी को टिकट इकट्ठा करना अच्छा लगता है, तो किसी को ऑटोग्राफ लेने का। मुझे शौक है विद्वानों के सुभाषित संकलित कर, उन पर मनन करने का। मेरी देखा-देखी—इसे भी एक फैशन समझ, मन्दा ने भी एक संकलन बनाना चाहा था, और इस काम में, मुझसे सहायता देने का अनुरोध किया था उसने।

वह गर्व से बोली—"अब यही देखिये न। मुझे कहानी लिखने की शिक्षा किसने दी। पर मैं लिखती हूँ, और खूब लिखती हूँ। और भाभी लाख प्रयत्न करने पर भी, एक भी नहीं लिख पातीं।"

कहानी कभी मैं भी न लिख सका था, किन्तु क्या केवल यही मापदण्ड है, प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता परखने का ? कहा—"तुम भी कहानियाँ लिखती हो, मन्दा ? किस पत्रिका में प्रकाशित करवाती हो ?"

"वाह ! क्या किसी पत्रिका में प्रकाशित होना ही अच्छाई-बुराई का मापदण्ड है ?"

"वाह ! किसी भी पत्रिका में क्यों ? किसी श्रेष्ठ पत्रिका की ही तो बात हो रही है।"

वह झेंप गई। "नहीं-नहीं, मेरा यह मतलब नहीं था। बात यह है कि अभी कोई पूरी नहीं हुई है। किसी का शुरू का हिस्सा रह गया है, तो किसी का बीच का।"

"शुरू का ?"

"हाँ, असल में मैंने पन्द्रह-बीस शुरू कर रखी हैं न। कोई आखिर से शुरू की है, कोई बीच से।"

मान गया भाई। यह नये युग की नवीन लेखिका हैं। भविष्य निसन्देह उज्ज्वल है इनका।

तभी वह उपेक्षा की पात्री, हेमा आती दिखाई दी। हाथों में भोजन का था

था, और नयनों में अश्रुकण हिलोरें खा-खा ढुलक पड़ने के लिए कोई राह खोज रहे थे।

भाई के आगे थाल रखा उसने, तो मैं अवाक् हो देखता-का-देखता रह गया। अहीन्द्र ने भी चौंककर, बहन के मुख की ओर देखा, किन्तु तुरन्त ही सँभलकर, तत्क्षण थाल अपनी ओर खींचते हुए, वह भोजन करने लगा।

चार वर्ष में, आज पहली बार भाई घर आया है। उसके आगे रूखी, घोल-सी दाल, कोई पनीली-सी भाजी और रूखी रोटी रखते, इसके ऊपर क्या बीती होगी, यह उसके सिवा और कौन जान सकता है!

अवश्य ही वह घर में नित्य मिष्ठान्न नहीं खाता, किन्तु रूखी रोटी, और बिना घी की दाल खाने का भी वह अभ्यस्त नहीं।

"भुवन, खाना खाओगे?" मुसकराने का प्रयत्न करते हुए हेमा ने कहा।

"नहीं भाई, मैं तो खूब डटकर भोजन कर आया हूँ। बिलकुल भूख नहीं।" मैंने झूठ बोला। क्योंकि केवल बचपन की मैत्री के नाते, मैं इस अनाहता के अपराधों की सूची में, एक अपराध और नहीं बढ़ा देना चाहता था।

अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में चिर-संचित स्नेह छिपाये वह भाई के समीप आ बैठी। मानों स्वादिष्ट भोजन के अभाव की पूर्ति, अपने एकनिष्ठ प्रेम द्वारा ही सम्पूर्ण कर देना चाहती हो।

तभी आ पहुँची चाची। आते ही बोलीं—"हाँ रे, भुवन, तूने समझाया कि नहीं, इस हेमा को?"

"किस विषय में, चाची?"

"अरे बेटा, वही जेवरों की बात। ऐसे मनमानी करने से घर की एकता कैसे रह सकती है भला? बहुओं को बहुओं की तरह ही रहना चाहिये। मेरी मन्दा मुझसे बिना पूछे, एक पैसे की चीज इधर-उधर नहीं कर सकती, वह और इसने बिना कुछ कहे-सुने दादी-परदादी के जमाने से चले आये जेवरों को यूँ बेच दिया। इतना सौतेला समझती है यह मुझे। और मैं! देखो, मन्दा में और इसमें जरा भी भेद नहीं करती। दोनों बहनों की तरह रहती हैं। रहना तो इसे मेरे पास ही है, बेटा। मैं इसकी सास हूँ। मेरी आज्ञा नहीं माननी चाहिये इसे? जो कहूँगी मैं, इसके भले के लिए ही तो कहूँगी।"

"हाँ-हाँ, क्यों नहीं?" मैंने कहा। किन्तु एक की लकदक करती रेशमी साड़ी, और दूसरी की घर की धुली सादे किनारे की मोटी धोती, पास-ही-पास चमक रही थीं।

विजय-भाव से चाची ने अहीन्द्र की ओर घूरा—मानो कह रही हों—देखा, यह है बुद्धिमान लड़का। कैसी आसानी से समझ गया सारी बात।

चाची जी ने और कुछ कहने के लिए मुख खोला ही था, किन्तु उनके उस अमृत-रूपी उपदेश से हम लोग वंचित ही रह गये; क्योंकि तभी भागता-हाँफता, घसीटा

कमरे में घुस आया। बोला—"माँ जी, माँ जी, रामलाल जी आये हैं।"

रामलाल ?

द्रुत वेग से चाची और मन्दा अन्दर को भागीं। जाते-जाते चाची पुकारती गईं—"जल्दी से आना, हेमा, रामलाल के भोजन की व्यवस्था करनी होगी।"

"कौन हैं यह रामलाल ?" जाती हुई हेमा से मैंने पूछा।

"पता नहीं।" वह भी विस्मय से सिर डुलाती हुई चली गई।

"निश्चय ही यह कोई महान् व्यक्ति हैं।" मैंने गम्भीरता का नाट्य करते हुए, सिर हिला-हिलाकर कहा—और हम दोनों ठहाका मारकर हँस पड़े। धनी जमींदार-घर के ये उजड्ड नमूने देखने योग्य ही होते थे।

"अब चलूँ, भाई।" मैंने कहा—"अभी तो चाची को जेवरों की चर्चा से छुट्टी नहीं। और किसी विषय में बोलने न देंगी। इन महान् पुरुष के दर्शन करने फिर उस समय आऊँगा।"

"'अरे, जाना। ऐसी भी क्या जल्दी है !" अहीन्द्र ने कहा।

"क्यों नहीं, भाई ? छत्तीस प्रकार का भोजन ग्रहण किये बैठे हो, बिना बात किये पचेगा कैसे ? किन्तु यहाँ तो पेट में चूहे कूद रहे हैं, फिर शाम को तुम्हें सूखी रोटी खिलाने का इन्तजाम भी तो करना है।"

"चूहे···परन्तु तुमने तो कहा था······"

"वह केवल तुम्हारे सन्तोष के लिए। अच्छा तो, कहीं चल मत देना शाम को। मैं स्वयं आकर तुम्हें और हेमा को लिवा ले जाऊँगा। चाची की अनुमति लेने में मुझे·····"

थाली गिरने के झनाके में, आगे की बात डूब गई; और साथ ही, चाची की कर्कश कंठ-ध्वनि गुँजायमान हो उठी—

"बैंगन भी नहीं रहे। गोभी भी खतम हो गई। कटहल तो जरा-सा ही था। जबान तो तेरी कैंची की तरह चलती है, अभागिन ! महाराजिन चली गई थी, तो तुझसे एक भाजी छौंकते न बना ? घर की लाज को एकदम रसातल में ही डुबोने की इच्छा है क्या तेरी, कह तो सही ? अरे, घसीटा से आधा सेर दही, आधा सेर कलाकन्द ही मँगा लिया होता, कुलनाशिन। न दाल में घी डाला, न रोटी पर लगाया ! खाना लाई हैं रानी जी ?"

हम दोनों स्तंभित हो, एक दूसरे का मुँह ताकते, खड़े-के-खड़े रह गये।

तभी मन्दा धम-धम करती आ धमकी।

"भुवन भाई, अभी आपने कहा था न, कि बिना खाद डाले खेत नहीं उगता, वह बात बिलकुल सच है।"

सच-झूठ का निर्णय, न हो बाद को हो जायेगा, इस समय तो इस अप्रत्याशित कांड से दिल दहल उठा है। पूछा—"पर हुआ क्या, मन्दा ?"

"अरे, देखो न इस भाभी को ! माँ ने तनिक कह दिया—'बेटी, जरा रामलाल

का खाना लगा देना।' बस, देह में आग ही तो लग गई उसके। बातों में विघ्न पड़ गया न। बेगार ला सामने धरी।"

"यह तो सचमुच में बुरी बात है, मन्दा। यह रामलाल जी कौन लगते हैं तुम्हारे? भाई होंगे, है न?"

"भाई?" मेरी अज्ञानता पर, वह खिलखिला उठी, "अरे, वह तो नौकर है हमारा, कहार। मेरा हालचाल पूछने को भेजा है माँ ने उसे।"

२७

डगमगाते चरण

चलते-चलते पटाख से कहीं कुछ बोला। साइकिल डगमगा गई। शरद गिरते-गिरते बचा। किसी प्रकार सँभलकर वह नीचे उतर पड़ा। देखा—पिछला ट्यूब बस्ट हो गया था।

उसका हृदय खिन्न हो उठा। आस-पास कहीं कोई साइकिल की दूकान भी नहीं थी कि ठीक ही करा ले। अब इस बोझ को घर तक घसीटना होगा!

परन्तु राह में खड़े होकर शोक मनाने से कुछ लाभ नहीं। आठ बजने वाले हैं। घर पहुँचने को देर हो गई तो ऑफिस को देर हो जायेगी, और·····

आगे की कल्पना से ही उसका हृदय काँप उठा। भाजी की गिरती टोकरी को सीधा कर, साइकिल सँभाल वह चल पड़ा।

राह थी, पर जैसे उसका अन्त नहीं था। उसका अपना जीवन भी तो इसी प्रकार भार हो उठा था। जीवन··वेदना ही जिसकी पूँजी थी! मृत्यु ही जिसका चरम लक्ष्य था। इस पूँजी, इस लक्ष्य के आगे सारा संसार धूमिल पड़ गया था।

घर पहुँचा, तो नित्य की भाँति वहाँ महाभारत मचा हुआ था। टुन्नू पूरे कमरे में लोट रहा था, रो-रोकर उसने घर-आसमान एक कर दिया था। सामने ही बरामदे में काँच का टूटा गिलास पड़ा था। समीप ही सिर झुकाये खड़ा था गंगू। माँ की तीक्ष्ण धमकियों का कुछ असर उस छोकरे पर हो रहा था या नहीं, उसका मुख देख, यह कदापि नहीं जाना जा सकता था।

शरद को देखते ही, माँ उस पर बरस पड़ीं। गरजते हुए बोलीं—"इतनी देर कहाँ लगा दी तूने? राह में मिल गया होगा कोई मित्र! फिर कहना कि मुझे ऑफिस को देर हो रही है। यह ठीक नहीं है। वह खराब है···"

स्पष्टतः आज माँ को बहुत क्रोध आ रहा था। चुपके से शरद ने साइकिल दीवार से टिका दी। भाजी की टोकरी उतारी और रसोई में घुस गया।

सामने ही बैठी रेणु आटा गूँथ रही थी। कपोलों पर अश्रुधार बह रही थी। पति की आहट पाकर भी उसने दृष्टि ऊपर नहीं उठाई।

पत्नी की आँखों में अश्रु देख, शरद का हृदय विह्वल हो उठा था। भाजी की टोकरी नीचे रख, घुटनों के बल उसके समीप झुकते हुए कहा—"नल में पानी आना बन्द हो गया है क्या, रेणु?"

रेणु ने सिर ऊपर नहीं उठाया। पूछा—"क्यों ?"

शरारतभरे स्वर में कहा शरद ने—"आँसुओं से आटा गूँध रही हो न ? इसीलिए पूछा।"

रेणु लजा गई। हाथ उठा उसने आँसू पोंछने चाहे। किन्तु उस हाथ को शरद ने बीच में ही पकड़ लिया। कहा—"रहने दो। मुख पर आटे का पाउडर लगाने की जरूरत नहीं तुम्हें। तुम यूँ ही बहुत सुन्दर हो।"

हँसी आ गई रेणु को। सिर झटककर बोली—"हटो ! तुम्हें हर समय शरारत ही सूझती है।"

अपने दोनों हाथों में, उसका मुख थाम, शरद ने गम्भीर स्वर में कहा—"इन मोतियों को धूल में मिलाकर नष्ट न करो, रेणु। मैं इन्हें यूँ ही सिर-माथे उठाने को तैयार हूँ।"

रेणु का मुख आरक्त हो उठा। बोली—"छोड़ो न ! गंगू आता होगा अभी।"

हलके हाँथ से उसके अश्रु पोंछ, अधीर आग्रह से पूछा शरद ने—"क्यों रो रही थीं ? बोलो ?"

बाहर कहीं टुन्नू पुकार उठा—"छोटी माँ, छोटी माँ, कहाँ हो तुम ? छोटी माँ ?"

एक झटके से रेणु अलग हो गई। संकोच-भरे स्वर में कहा—"तुम बड़े नटखट हो। समय-असमय कुछ नहीं देखते। सामने आँगन में माँ हैं।"

शरद के नयनों में कौतुहल झलक उठा। कहा—"होने दो। क्या कुछ नई बात है ? उन्हें भी तो कभी किसी का प्यार मिला होगा।"

लाज से रेणु की पलकें झुक गईं। बोली—"नहीं शरद, यदि सचमुच में उन्हें भी ऐसा ही स्नेह मिला होता तो···"

दो अंगुलियों द्वारा उसका चिबुक ऊपर उठा शरद ने पूछा—"चुप क्यों हो गईं ? तो क्या ?"

रेणु ने बनावटी रोष में भरकर कहा—"नहाने जाओ न तुम। देर नहीं हो जायेगी ऑफिस को ?"

शरद कुछ कह सके, इससे पूर्व ही टुन्नू आकर माँ की पीठ पर झूल गया। कहा—"छोटी माँ, छोटी माँ ! बाहर मटर-छोले वाला आया है। पैसे दो, छोले खाऊँगा।"

रेणु ने स्नेह से उसका मुख चूमकर कहा—"नहीं, टुन्नू, ये गन्दे मटर-छोले नहीं खाते। इन्हें खाने से पेट में दर्द हो जाता है। खाना तैयार है। बापू के संग खाना खाना।"

टुन्नू मचलकर रो पड़ा। वह स्वर सुनते ही माँ रसोई में आ धमकीं। तीखे स्वर में बोलीं—"क्यों रुला रही है उसे ? कैसी कंजूस है तू। बाप के घर पैसे देखे भी थे कभी। बच्चे को दो पैसे दे ही देगी, तो तेरे खजाने में कमी आ जायेगी न।

आ, बेटा, आ। मैं दूँगी तुझे पैसे।"

रेणु कुछ कह सके, इससे पूर्व ही शरद ने रुष्ट होकर कहा—"एक बार जब मना कर दिया, तब पैसे नहीं दिये जायेंगे, माँ। उसकी आदत मत बिगाड़ो।"

माँ एकदम भिन्ना उठीं—"बच्चे पालना एक यही गुणवन्ती तो जानती है न? आज तक कौन पाल रहा था तेरे लाड़ले को? तुझे पाल-पोसकर तेरी आदतें बिगाड़ दी थीं क्या मैंने·····"

हतबुद्धि हो शरद बोल उठा—"माँ!"

माँ की आँखों में आँसू भर आये। बोलीं—"बस, रहने दे। देख लिया माँ को कितना मानता है तू? एक जहर की पुड़िया लाकर खिला दे न मुझे। फिर मजे में मियाँ-बीबी···" रोते हुए टुन्नू को जबरदस्ती गोद में उठाकर, बाहर निकल गईं वह।

उनकी गोद से उसे छीनने के लिए शरद लपका ही था, कि रेणु ने उसका हाथ पकड़ लिया।

शरद ने घूमकर देखा। शान्त विनीत स्वर में बोली वह—"मान जाओ, शरद। जाओ, नहाने जाओ।"

असहाय से शरद ने अपना सिर धुन डाला। व्याकुल स्वर में बोल उठा—"नहीं सहा जाता, नहीं सहा जाता। अब और अधिक सहन नहीं कर सकता मैं। मैं पागल हो जाऊँगा, रेणु, किसी दिन मैं पागल हो जाऊँगा।" और वह तेजी से निकल भागा वहाँ से।

जूते पहनकर शरद जाने लगा था, कि पीछे से किसी ने उसे पकड़ लिया। उसने घूमकर देखा—मुख पर अभिमान-भरे भाव लिए खड़ी थी रेणु। बोली—"मेरे ऊपर किया गया क्रोध भोजन पर क्यों उतारते हो?"

शरद विस्मित हो उठा। बोला—"तुम पर? तुम पर कब क्रोध किया मैंने?"

"क्या जानूँ! नहीं तो इतनी बड़ी सजा क्यों देते मुझे?"

"कैसी सजा?"

"सवेरे से उठकर जल्दी-जल्दी खाना बनाया। तुम खाने को तैयार नहीं! मजे से ऑफिस में चाय मँगाकर पी लेना। यहाँ रात तक भूखे, घर का सारा काम करते रहेंगे।"

एकाएक शरद का सारा क्रोध गलकर बह गया। हाथ पकड़ उसने रेणु को अपनी ओर खींचना चाहा, किन्तु वह उस बन्धन से निकल भागी। कहा—"नहीं, पहले खाना खाने चलो।"

"तो फिर बाद में··?" शरद ने शरारत से पूछा। रेणु चट से अन्दर भाग गई।

शरद और रेणु के विवाह को अभी केवल सात-आठ महीने ही हुए हैं। सिर पर से मौड़ उतारते ही शरद को ऑफिस के लिए भागना पड़ा था। और रेणु के हाथों

की मेंहदी भाजी काटने और आटा गूँधने में बुल गई थी। विवाह के बाद ही वह पिता के घर गई थी अवश्य, किन्तु सास ने उसे पन्द्रह दिन बीतते-न बीतते ही बुला भेजा था—घर में बहू वह इसलिए तो नहीं लाई थीं कि बहू बाप के घर में बैठी आराम करती रहे, और वह चूल्हे-बच्चों में खटती रहें।

शरद की पहली पत्नी मर चुकी है और उसके एक सन्तान भी है—विवाह से पहले रेणु ने यह बात सुनी न हो, ऐसी बात नहीं। किन्तु लाख प्रयत्न करने पर भी, वह माता-पिता के सामने इस विवाह का विरोध नहीं कर सकी थी।

गृहस्थी की दशा तो कुछ उससे छिपी नहीं थी—उसके और भी पाँच भाई-बहन थे। विधवा बुआ थीं, और उनकी बेटी थी। उस छोटी-सी आय में कैसे माँ गृहस्थी का काम चलाती थीं, बच्चों के स्कूल की फीस जमा करती थीं, यह तो उससे छिपा न था—मैट्रिक पास रेणु के लिए, दरिद्र पिता की उस बेटी के लिए, बिना दहेज की बात उठे, इससे अच्छा वर मिलना कठिन ही नहीं असम्भव था।

इसके अतिरिक्त विधुर होने के सिवा वर में और कोई दोष भी तो नहीं था। यही छब्बीस-सत्ताइस वर्ष की आयु थी उसकी। घर में केवल माँ थीं, एक बहन थी जिसका विवाह हो चुका था। खाता-कमाता प्रभावशाली लड़का था।

—फिर भी उसका प्रथम प्रेम चिता की भेंट हो चुका था। रेणु के भावुक हृदय को लगी ठेस सहसा मिट न सकी थी। ससुराल में जाकर, उसे पैर उठाने में भी संकोच लगा करता था। मन-ही-मन सोचती थी—वह अवश्य सोचते होंगे, 'प्रभा यह काम ऐसे करती थी। प्रभा का काम करने का ढंग दूसरी तरह का था।' और सबसे बड़ी समस्या थी वह शिशु—उस चार-पाँच वर्ष के बालक को, सास ने धम्म से उसकी गोदी में बैठाकर कहा था—"टुन्नू, यह है तेरी माँ।" और झपटती हुई चली गई थीं वहाँ से।

बालक ने अपने बड़े-बड़े नेत्र उठा उसकी ओर देखा था। पूछा था—"तुम मेरी माँ हो?"

प्रश्न का उत्तर न दे रेणु बोली थी—"तुम्हें माँ की याद है?"

बालक ने सिर हिलाकर कहा—"नहीं।"

फिर बोला—"दादी कहती थीं—अब तेरी नई माँ आयेगी। उसके सामने शरारत करेगा, तो वह तुझे उठाकर सड़क पर फेंक देगी। तुम मुझे सड़क पर फेंक दोगी?"

रेणु को हँसी आ गई थी। पूछा—"और क्या कहती थीं दादी?"

बालक ने सिर हिलाकर कहा—"बहुत-सी बातें। अब याद नहीं। कहती थीं—नई माँ आ जायेगी, फिर तेरे पापा प्यार नहीं करेंगे तुझे। तुम पापा को मुझे प्यार करने को मना कर दोगी, नई माँ?"

बालक के भोलेपन पर रेणु मुग्ध हो उठी थी। कहा—"नहीं रे, नहीं! तेरी देख-भाल करने के लिए ही तो तेरी माँ ने भेजा है मुझे। नई माँ नहीं, कह

उनके रोने-चीखने से घबराकर, पास-पड़ोस की दो-चार पड़ोसिनें भी आ इकट्ठी हुई थीं। और उन्होंने जो कथ्य-अकथ्य बातें कही थी, उनकी चुभन से रेणु के रोम-रोम में जलन व्याप्त हो उठी थी। यही कारण था कि आज शरद के आते ही वह तुरन्त अपने को सँभाल नहीं पाई थी, नहीं तो आज तक शरद ने उसे कभी रोते नहीं देखा था; यद्यपि प्रायः दिन में दो-चार बार रो लेना उसके लिए एक साधारण-सी बात हो चुकी थी।

पत्नी के दुःख को शरद न जानता हो, सो बात नहीं। प्रभा में कितने ही गुण क्यों न हों, उसमें एक बड़ा अवगुण था—उसे अपनी वाणी पर अधिकार नहीं था।

सास-बहू में दिन-भर जो द्वन्द्व होता था, रात को प्रभा उसे रो-रोकर सुनाती थी। और दिन में उसका मुख देखते ही, माँ उसे एक जहर की पुड़िया ला देने की, या उन्हें बद्रीनाथ भेज देने की प्रार्थना कर उठा करती थीं।

माँ पर वश नहीं चलता था। पत्नी का मन नहीं दुखाना चाहता था। अनोखी दुविधा में पड़ गया था शरद। जीवन के दिन काटना दुष्कर हो चला था, कि प्रभा ने पुत्र प्रसव किया।

प्रभा सास से जली बैठी थी। जो कुछ वह कहतीं, जान-बूझकर उसका उलटा करती। जिसका परिणाम यह हुआ था कि वह बीमार रहने लगी और छः महीने के बच्चे को अनाथ छोड़ स्वर्ग सिधार गईं।

दुःख के प्रथम आवेग में भी शरद को लगा था—मानो उसे निष्कृति मिल गई है। मन-ही-मन उसने प्रण कर लिया था, कि वह कदापि दूसरा विवाह न करेगा।

किन्तु कुछ ही दिन बाद, उस प्रण की निष्फलता का ज्ञान होने लगा था उसे। माँ का बूढ़ा शरीर अब इस योग्य नहीं था कि घर का भार उठा सके। इतनी सामर्थ्य थी नहीं कि किसी चतुर नौकर और संग-संग उसकी चतुराई का बोझा ढोया जा सके। टुन्नू दिन-दिन बिगड़ता जा रहा था। गाली देना और रोना—केवल यही दो काम रह गये थे उसे।

मन में जो रहा-सहा असमंजस शेष रहा था, उसे कृपालु मित्रों ने दया कर दूर कर दिया। कहा उन्होंने—"जिन्दगी बहुत लम्बी है, मित्र, और तुम्हारी उम्र बहुत कम। तरूणाई की भावुकता में अभी तुम्हें पुनर्विवाह का विचार अखरता है, परन्तु तनिक भविष्य की ओर भी तो ध्यान दो। जब तुम्हारा बेटा बड़ा हो जायेगा, अपनी अलग गृहस्थी जमा लेगा, तब कौन देगा तुम्हें दुःख-सुख में सहारा? इसके अतिरिक्त कौन पालेगा तुम्हारे इस पुत्र को? या तुम चाहते हो कि वह आवारा बन जाये? गली-गली ठोकर खाता घूमे? कभी वह बीमार पड़े, और तुम्हें दफ्तर से छुट्टी न मिले; तो वह दिन-भर भूखा-प्यासा अकेला पड़ा रहे घर में? आखिर क्या चाहते हो तुम? जीवन के आरम्भ में ही यदि साथी छूट गया है, तो इसका यह अर्थ तो नहीं, कि शेष जीवन रो-रोकर बिता सकोगे? पतझड़ के बाद बहार आती ही है।

विधाता के नियम को तोड़ने का साहस करोगे, तो जीवन नरक बनकर रह जायेगा !"

शरद ने अर्धसहमत-सा हो कहा था—"हो सकता है, तुम लोगों की बात ठीक हो। जिस दिन सहारे की आवश्यकता अनुभव करूँगा उस दिन स्वयं ही कह दूँगा तुमसे विवाह करा देने के लिये। परन्तु जब तक माँ जीवित हैं, कदापि नहीं।"

मित्रों ने विस्मय से कहा था—"भई, यह भी एक ही रही ! अरे, लड़ाई-झगड़े किस घर में नहीं होते ? बुढ़ापे में किसी किशोरी का हाथ पकड़ोगे तो दुनिया तुम पर थूकेगी, और वह लड़की तुम्हें जी भरकर कोसेगी। माँ अमर होकर नहीं आई यह सच है, किन्तु..."

और किसी दयालु की कृपा से, यह बात माँ के कानों तक भी पहुँच गई थी। उस दिन से सचमुच में ही शरद का जीवन दूभर हो उठा था। माँ के मन में एक वही बात बस गई थी—बेटा चाहता है कि मैं मर जाऊँ, जिससे कि वह आजादी से किसी भी आवारा को पकड़ घर बैठा सके।

हारकर शरद ने विवाह की अनुमति दे दी थी।

अपराह्न बीत चला। शरद के लौटने का समय हो रहा था। चूल्हा जलाने चली रेणु तो देखा दियासलाई नहीं थी। सोते गंगू को जगाकर, पैसे लाने के लिये वह अपने कमरे में घुसी तो अवाक् रह गई—उसकी शैया पर शरद पड़ा सो रहा था।

उसका हृदय आशंका से काँप उठा। दबे पाँव आगे बढ़, हल्के से उसके माथे पर हाथ रखा ही था उसने, कि शरद ने अपने दोनों हाथों से, उसके हाथ को वहीं दबा, पकड़ लिया।

रेणु को हँसी आ गई। बोली—"झूठ-मूठ आँखें बन्द किये पड़े हो ! मैंने समझा था, सो रहे हो।"

शरद ने फड़ाक से दोनों आँखें खोल दीं।

सलज्ज मुसकान बिखेरते पूछा रेणु ने—"कब आये तुम ? मुझे पता भी नहीं चला !"

शरद ने धीरे से कहा—"पता चल जाता, तो क्या मैं इतनी शान्ति से लेट सकता था कुछ देर ?"

सरोष कहा रेणु ने—"इतनी बुरी हूँ मैं ?"

झटके से शरद ने उसे अपने पार्श्व में खींच, समीप बैठा लिया। कहा—"एक तुम ही तो नहीं हो घर में ?"

इसका उत्तर भला क्या देती रेणु ! चुप हो गई।

एकटक उसकी ओर देख रहा था शरद। कुछ देर बाद कहा—"क्या सोच रही हो, रेणु ?"

नटखट रेणु पलकें झपकाते हुए बोली—"सोच रही हूँ कि तुम्हें कैसे राह पर लाऊँ ?"

"तुम्हारा मतलब है मैं गुमराह हूँ ?" मुसकराकर पूछा शरद ने, "जान सकता

हूँ, क्या गुस्ताखी की मैंने ?"

"मेरा-अपना कमरा तुमने अलग-अलग कर रखा है। क्या यह गुस्ताख़ी नहीं ?" मुख मोड़ रेणु ने कहा।

शरद के हृदय से एक दीर्घ निश्वास फूट पड़ा। कम्पित स्वर में बोल उठा वह—"काश ! मेरी विवशता तुम समझ सकतीं !"

रेणु ने धीरे से कहा—"तुम्हारी विवशता मैं तुमसे भी अधिक अच्छी तरह समझती हूँ, शरद।"

वह तड़ित-वेग से उठ बैठा। कहा—"क्या समझी हो तुम ? बोलो, बताओ।"

रेणु ने भागना चाहा, किन्तु भाग नहीं सकी। धीरे से बोली—"नहीं बताऊँगी।"

"नहीं बताओगी, तो जाने भी नहीं पाओगी।"

"नहीं, नहीं, कुछ नहीं। मैं तो केवल तुम्हें चिढ़ा रही थी।"

"तुम सीधे से नहीं मानोगी !" शरद ने उसे गुदगुदाते हुए कहा।

हँसी रोक नहीं सकी रेणु तो उसने झट हार मान ली। सामने आँगन में ही माँ हैं। यदि उन्होंने हँसते सुन लिया तो···? विनीत स्वर में बोली—"अच्छा, अच्छा, कहती हूँ, छोड़ो।"

शरद ने जैसे ही हाथ हटाये अपने, रेणु चट से उठकर भाग गई।

टुन्नु को सुलाकर, सास के पैर दबाकर, रेणु सोने के लिए अपने कमरे में चली आई।

पिता के घर में जिस कमरे में सोया करती थी रेणु, वहाँ इतनी चारपाइयाँ बिछी रहती थीं, कि पैर रखने को भी जगह नहीं मिलती थी। शुरु-शुरु में अकेले इस कोठरी में सोने में बड़ा डर लगा करता था उसे।

अनेक रात जाग-जागकर उसने सोचा था कि सास के पार्श्व में बिछी हुई, टुन्नू की चारपाई पर जाकर सो जाये। किन्तु उन्हें आलोचना करने का एक और विषय मिल जायेगा, इसी भय से वह अपनी खाट पर बैठे-बैठे, आँखों ही आँखों में रात काट देती थी।

यद्यपि अब उसका वह भय दूर हो गया था, फिर भी आज उसे नींद नहीं आ रही थी। इधर कुछ दिन से वह देख रही थी, शरद कुछ अधिक उदास रहने लगा था, अधिक उन्मन। भोजन करता था, पर मानो उसे भूख नहीं लगती थी। हँसता था, पर मानो उस हँसी में आमोद नहीं था। दिन के प्रकाश में कभी उससे बातें करने का अवसर मिलता नहीं था और···और रात्रि में···जब तक वह उसे स्वयं नहीं बुलाये, तब तक···

और आज वह असमय ही दफ्तर से लौट आया था। सन्ध्या को कहीं घूमने भी नहीं गया था। कारण जानने के लिए रेणु छटपटा रही थी। किन्तु उन दोनों कमरों के बीच के द्वार की चटखनी शरद की ओर से बन्द थी।

रेणु को याद आई, उस प्रथम रात की बात—विधुर पति से अप्रत्याशित स्नेह पाने की आशा नहीं की थी उसने। परन्तु यह भी नहीं सोचा था कि वह आयेगा, तो अपने संग किसी अंगरक्षक को लेकर आयेगा।

उसे देखते ही ढुन्नू ने ताली बजाकर कहा था—"पापा, पापा, यही है मेरी छोटी माँ। मेरी माँ ने ही भेजा है इन्हें।" हाथ छुड़ाकर हँसते हुए वह बाहर भाग गया था।

जिस दीवार को यों खींच लाया था शरद, वह स्वयं ही दूर हो गई थी। अन्यमनस्क-सा वह खिड़की के निकट जा खड़ा हुआ था तब।

न-जाने कितना समय यूँ ही बीत गया था। क्षण बीतते रहे, पल युग बनते रहे। उस निस्तब्धता को भंग करते हुए आखिर कहा था उसने—"मैं तो अभागा था ही, रेणु। किन्तु तुम मुझसे भी बढ़कर अभागिनी हो। न-जाने कैसी मति मारी गई थी, जो तुम्हें यहाँ खींच लाया मैं।"

रेणु ने छिपी-छिपी दृष्टि से पति के व्यथित मुख की ओर देखा था। अनजान-सी एक अव्यक्त वेदना उसके किशोर हृदय को मथ गई थी। कोमल स्वर में कहा था उसने—"ऐसा न कहिये।"

शरद ने पत्नी की ओर प्रथम दृष्टि डाली थी तब। वह हँसा। उफ़! कितनी पीड़ा थी उस हास में! कहा—"वास्तविकता को शब्दों की ओट कर देने से वह मिट तो नहीं जाती, रेणु। जानता हूँ, इस घर में नहीं लाना चाहिये था तुम्हें। इस घर में—जहाँ कलह-क्लेश और किसी अन्य नारी के भार के अतिरिक्त और कुछ न दे पाऊँगा मैं तुम्हें। इस घर में पहुँचाने से पहले यदि तुम्हारा वध कर दिया गया होता, तो वह कहीं कम अत्याचार होता तुम्हारे ऊपर। इस जीवित मौत की अपेक्षा, वह वास्तविक मौत कहीं अधिक सुखद होती। जीवन के चौबीस घण्टे तुम्हें मेरी माँ के साथ बिताने होंगे, यह सोचकर ही मैं काँप उठता हूँ। लगता है, घर छोड़कर कहीं भाग जाऊँ तो अच्छा हो।"

लाज और संकोच से रेणु का सर्वाङ्ग जड़ीभूत हो उठा था। किन्तु प्रयास कर वह उठ खड़ी हुई—साधारण नारियों की भाँति साधारण पति नहीं मिला उसे, तो उसे स्वयं भी असाधारण बनना होगा, प्रचलित रीति के अनुसार लाज-संकोच करना अनुपयुक्त ही नहीं, हानिकर भी होगा।

उसके निकट खड़े होकर बोली वह—"जो तुम्हारी माँ है, वह मेरी भी माँ है। उनके निकट रहने में मुझे भय नहीं लगता, अपितु सुख ही है।"

शरद मुड़कर बाहर की ओर ताकने लगा था। व्याकुल स्वर में कहा उसने—"परन्तु मेरी माँ साधारण माँ नहीं हैं। और···और···इस···तुमसे विवाह करने से पहले, अनजाने ही मेरे मुख से कुछ ऐसे शब्द निकल गये थे, जिसके मनमाने अर्थ लगा उनका स्वभाव और भी कडुवा, और भी तीखा हो उठा है।"

"हो जाने दो। क्या करेंगी? अधिक से अधिक मार ही तो लेंगी। घर पर

क्या माँ की मार नहीं खाई मैंने !"

"परन्तु इस मार और उस मार में बड़ा अन्तर होगा, रेणु। माँ मारती थीं तो प्यार भी करती थीं। ये मारेंगी और कटु-वचन कहेंगी।"

रेणु के अधरों पर सलज्ज मुसकान खिल उठी थी। शान्त-धीर स्वर में बोली—"तुम क्या समझते हो, शरद ? मैं किसी राजा-महाराजा की बेटी हूँ ! पास-पड़ोस में कभी सास-बहू की लड़ाई नहीं देखी मैंने ? या पति-पत्नी के झगड़ों की आलोचनायें नहीं सुनीं ! माँ से नहीं लड़ सकती तो क्या, तुमसे तो लड़ सकती हूँ। बस, इतना ही काफी है मेरे लिए।"

अकस्मात न-जाने क्या हुआ। शरद के शरीर का तनाव ढीला पड़ गया था। उसके कण्ठ का स्वर बदल गया था। एकाएक घूमकर कहा था उसने—"मुझसे लड़ोगी तुम ?"

रेणु ने दृष्टि उठाकर देखा। पति के मुख पर आमोद थिरक रहा था। नयन झँपाकर उसने कहा—"हाँ।"

तब शरद ने उसके दोनों कन्धे पकड़कर कहा था—"रेणु !"

"क्या ?" रेणु बोली। उसका हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा था।

न-जाने कितनी देर वह दृष्टि उसके मुख पर जमी रही थी। न-जाने कितनी देर वह पलक झुकाये खड़ी रही थी। एकाएक शरद ने साँस खींचकर कहा था—"कुछ नहीं। जाओ, सो जाओ।"

रेणु कुछ समझ सके, इससे पूर्व ही शरद दूसरे कमरे में जा चुका था। द्रुत-वेग से रेणु उस बन्द होते द्वार की ओर बढ़ गई थी। परन्तु तब तक उसकी चटखनी बन्द हो चुकी थी। रेणु को प्रतीत हुआ था, कि उस पार किसी का माथा खट से द्वार से टकराया है और दूसरे ही क्षण, धीमी-धीमी सिसकियों की ध्वनि, द्वार को भेद, उसके कानों से आ टकराई थी।

उस दिन से वह चटखनी बन्द ही थी। परन्तु आज···आज·····

मन-ही-मन दृढ़ संकल्प कर, आँसू पोंछ रेणु उठ खड़ी हुई।

उस द्वार को पीट-पीटकर आज सारे मुहल्ले को ही क्यों न जगा देना पड़े, किन्तु आज रेणु उस बन्द द्वार को खुलवाकर ही रहेगी।

द्वार पर हाथ रख, जरा दबाया ही था उसने, कि वह स्वयं ही खुलने लगा। पहली मंजिल ऐसे सहज में पार हो जायेगी, इसका उसे विश्वास न था। मन दुविधा में पड़ सके, इससे पूर्व ही, वह झट उधर जा पहुँची। किन्तु ठगी-सी खड़ी-की-खड़ी रह गई। शैया सूनी पड़ी थी। शरद का कहीं पता न था।

रेणु के विस्मय का पार न रहा। सन्ध्या से तो घर में ही बैठा था शरद ! कब बाहर चला गया ? और यदि गया भी तो ऐसा कि अभी तक लौटकर नहीं आया !

अकस्मात वह सिहर उठी। कोई चुपके-चुपके उसके कानों में कह रहा था—'जीवन के चौबीस घण्टे तुम्हें मेरी माँ के साथ बिताने होंगे, यह सोचकर ही मैं काँप

उठता हूँ। लगता है, घर छोड़कर कहीं भाग जाऊँ तो अच्छा हो···"

क्या शरद सचमुच घर छोड़कर भाग गया है—उसका मन रो-रोकर पूछने लगा—क्या आज सचमुच घर से नाता तोड़ गया है वह? क्या इसीलिए आज बीच के उस बन्द द्वार को खोल, वह उसकी शैया पर जा लेटा था? मन-ही-मन उससे, उसकी समस्त वस्तुओं से मूक, अन्तिम विदा ले, सारे बन्धन तोड़, कहीं चला गया है वह?

छिः कायर!—उसका हृदय उसे बार-बार धिक्कारने लगा—किसी के डगमगाते चरणों को सहारा तो क्या देती, उलटे उसके सामने अपनी व्यथा दर्शा, उसके क्लेश का भार और भी बढ़ा डाला तूने! यदि इतनी भी सामर्थ्य नहीं थी मन में कि दो आँसू भी पी सकती, तो व्यर्थ ही नारी बन जन्म लिया! व्यर्थ ही नारी-जाति को बदनाम किया! छिः धिक्कार, धिक्कार है तुझे!

नहीं, नहीं। ऐसा नहीं हो सकता। शरद ऐसा कायर नहीं। वह कदापि जीवनरूपी रण-प्रांगण से मुख मोड़ नहीं सकता। वह आता ही होगा। अब लौटता ही होगा। रात आधी से अधिक बीत चुकी। अब वह आता ही होगा। यदि आ रहा होगा, तो छत पर से तुरन्त दिखाई दे जायेगा।

धीरे से द्वार की चटखनी खोल, वह बरामदे में निकल आई। निःशब्द पगों से सास का कमरा पार कर, लपककर सीढ़ियाँ चढ़ते हुए वह छत पर जा पहुँची। परन्तु वहाँ पैर रखते ही उसे दूसरा आघात लगा—नंगी छत पर, मुँह के बल औंधा पड़ा था शरद्!

क्या···क्या हुआ है उसे!

रेणु झपटकर उसके समीप जा पहुँची। उसके कन्धे पकड़, झकझोरते हुए कहा—"शरद···ऐ शरद?"

शरद ने उसी प्रकार लेटे-लेटे ही कहा—"तुम तो मुझे ऐसे पुकारती हो, मानो मैं तुम्हारे साथ खेलने वाला, तुम्हारा स्कूल का कोई साथी हूँ।"

जबर्दस्ती उसे सीधा कर, रेणु ने उसका सिर अपनी गोद में रख लिया। कहा—"साथी तो हो ही तुम। यह संसार भी एक तरह का स्कूल ही तो है। छोटे स्कूल को छोड़, हम दोनों ने एक बड़े स्कूल में प्रवेश कर लिया है। बस, केवल इतना ही तो।"

कुछ नहीं कहा शरद ने। एकटक निर्निमेष दृष्टि से उसकी ओर देखता ही रह गया। रेणु ने चापल्यभरे स्वर में कहा—"समझी! तो तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें 'अजी···ऐ जी···ओ जी' कहकर बुलाऊँ। अब से ऐसा ही होगा।"

शरद ने हाथ बढ़ा, उसके गाल खींच लिये। कहा—"बड़ी नटखट हो तुम! क्यों आई यहाँ! सोई क्यों नहीं अभीतक?"

रेणु ने गाल फुला लिये अपने। बोली—"स्वार्थी कहीं के! स्वयं यहाँ खुली छत पर चाँदनी का आनन्द लेते हो। मुझे वहाँ घुटे कमरे में बन्द किये डाले रखते

हो। क्यों?"

उसके गाल पर हलके से एक चपत लगाकर कहा शरद ने—"पगली!"

रेणु ने कहा—"अच्छा शरद! मेरे हाथ पर हाथ रखकर, आज शपथ खाओ एक बात की।"

शरद ने पूछा—"क्या?"

"यूँ नहीं, पहले हाथ पकड़कर कहो—शपथ लेता हूँ कि आज से..."

शरद को हँसी आ गई। कहा—"तानाशाही चलाना चाहती हो मुझ पर? बोलो, क्या कहना होगा...?"

"...कि आज से तुम मेरे और माँ के बीच में कभी नहीं बोलोगे।"

शरद एकाएक उठकर बैठ गया। कहा—"माँ का दुर्व्यवहार कैसे चुपचाप सहन कर लेती हो तुम, मैं समझ नहीं पाता!"

रेणु हँसी। बोली—"और न कभी समझ हो सकोगे! सुनी नहीं वह कहावत..."

झट से उसके मुख पर अपना हाथ रख शरद ने कहा—"रहने दो, रहने दो! संस्कृत समझ सकूँ इतनी योग्यता नहीं मुझमें..."

"एक सीधे-सरल प्रश्न का उत्तर दे सको, इतनी योग्यता तो है तुममें?"

उस धुँधली चाँदनी में भी शरद के मुख पर की खीझ स्पष्ट झलक उठी। बोला—"बात क्या है, रेणु? लगता है, आज तो तुम कमर कस लड़ने को तैयार हो कर आई हो!"

आनन्द की आभा से रेणु का मुख दीप्त हो उठा। कहा—"लड़ाई समझो या कुछ और, किन्तु वह बातें जाने बिना मानूँगी नहीं मैं।"

"क्या?" विस्मय से पूछा शरद ने, और पुनः लेट गया।

"जो तुम्हें घुन की तरह खाये डाल रही है, जिसने तुम्हारी भूख हर ली है, नींद छीन ली है, सुख-शान्ति....."

"मुझे पता नहीं था, रेणु, कि तुम कविता भी कर लेती हो।"

"इतनी भोली नहीं हूँ कि बातों में भुला लोगे मुझे!" उसके घने-घने काले बालों में अंगुली घुमाते हुए कहा रेणु ने।

हठात् शरद हँस पड़ा। उसकी बाँह का ठीक से तकिया लगाते हुए कहा—"क्या करोगी सुनकर? मेरी चिन्ताओं का भार मुझ पर ही रहने दो न। अपनी समस्यायें अपने आप सुलझा लो तुम, वही मेरे लिये बहुत है।"

"यही तो तुम्हारा भ्रम है, शरद।" मधुर-स्वर में रेणु बोली—"तुम्हें किस प्रकार सुखी कर सकूँ, यही तो मेरी सबसे बड़ी समस्या है। बता दो न। मैं क्या किसी से कहने जा रही हूँ।"

"कह भी दो, तो क्या?" उदास भाव से शरद ने कहा—"चार दिन बाद

जो बात सबको मालूम होने वाली है, उसे छिपाऊँगा भी क्यों ? औ होने वाली है। आज उसकी लिस्ट भी आ गई है। उसमें मेरा नाम भी

रेणु हँस पड़ी। बोली—"बस ! केवल यही ?"

शरद का कण्ठ-स्वर गीला हो उठा। कहा—"यह क्या कम है, रेणु ? रुपये जो कमाता था, वे भी आज से गये। माँ का रुदन और ताने, कुम्हलाया मुख, एक-एक रोटी के लिए बच्चे को हाहाकार करते सुनकर भी, निष्प्रयोजन जीवन का भार ढोते रह सकूँगा क्या ?"

रेणु ने शान्त भाव से कहा—"इतने अधीर क्यों होते हो ? एक गई तो जाने दो। दूसरी इससे भी अच्छी मिलेगी।"

"तभी तो मैं कहता हूँ, रेणु, तुम्हारे शैशव का भोलापन अभी गया नहीं। जानती नहीं—जो बेकार घूम रहे हैं, उन्हीं को कहीं नौकरी नहीं मिलती। जिसकी नौकरी छूट जाये, उसे कौन पूछेगा ?"

"जो बेकार हैं वे इसलिये कि वे परिश्रम करते घबराते हैं।" रेणु ने दृढ़-स्वर में कहा—"छत पर चढ़ना हो तो पहले सीढ़ी खोजकर लानी पड़ती है, शरद। धरती पर खड़े होकर, केवल मुँह बा कर, छत की ओर देखने से कभी कोई ऊपर नहीं चढ़ सका। मोती खोजने के लिए गोताखोर को समुद्र के तल में डुबकी लगा, अन्धकार में काम करना पड़ता है। किनारे बैठकर रोने वाला कभी मोती नहीं पा सका।"

"रेणु, रेणु, मेरी रेणु !" एकाएक उसके गले में अपने दोनों हाथ डालते हुए शरद बोल उठा—"मैं नहीं जानता था, कि कितनी बड़ी दार्शनिक है तू।"

रेणु अधीर हो उठी। बोली—"क्यों तुम मेरी बातों को बालकों की बकवास के समान उड़ा देना चाहते हो, शरद ! एक बात बता सकते हो तुम मुझे ? अपना घर-बार खोकर, प्रिय-परिजनों से विलग होकर, कितने अभागे प्राणी आये पंजाब से। परन्तु उनमें से क्या किसी ने भी आत्महत्या की ? किसी के सामने अपने दुखड़े रोये। तुम्हारे देशी नौजवान बेकार घूमते रहे। वे शेरदिल अपना-अपना धन्धा चुन, सभी प्रकार के व्यवसायों में अपनी धाक जमा बैठे। बोलो शरद, शेरे-पंजाब रणजीत की किस सन्तान को तुमने भीख माँगते देखा ? मूँगफली बेचकर, चाट का ठेला लगाकर, उन्होंने नये सिरे से जीवन आरम्भ किया, किन्तु आश नहीं छोड़ी।"

एकाएक शरद उठकर खड़ा हो गया। उसकी मुट्ठियाँ भिंच गईं। उस शुभ्र चाँदनी में, छत पर पड़ती उसकी छाया, घर की सीमा लाँघ, वृक्ष की चोटियों पर जा चढ़ी।

तेजी से इधर-उधर दो-चार चक्कर काट, वह पत्नी के सम्मुख आ खड़ा हुआ। स्नेह-सिंचित स्वर में बोल उठा—"रेणु !"

रेणु उठ खड़ी हुई। मृदु स्वर में पूछा—"क्या !"

उसके दोनों कन्धे पकड़, कहा शरद ने—"कौन-सा वशीकरण-मंत्र जानती हो तुम !"

२८

अम्मा, पापा कटारे ले !

आज मौसम मानो जी भरकर रो लेना चाहता था।

रात अँधेरी थी। आने वाले तूफान का सन्देशा लाती हवायें, खिड़की-दरवाजों से टकरा-टकराकर न जाने क्या बताने की कोशिश कर रही थीं।

बादलों की गरज से दहशत खाये मन को, बिजली की चमकती-तड़पती तलवारें और भी डरा-डरा जाती थीं।

ऐसे ही समय में एकाएक बत्ती बुझ गई।

अधरों तक आती चीख को, मधु ने बरबस रोक लिया। टटोलते हुए उठी, और अनुमान से आलमारी तक जा पहुँची।

स्मृति और अनुमान का सहारा ले, आलमारी का पल्ला खोला। हाथ बढ़ा, सब से ऊपर वाली दराज के पिछले कोने में रखी मोमबत्ती निकाल लीं।

पढ़ने की मेज पर, पाँचों मोमबत्ती पास-पास जला, उसने फिर से हाथ में पुस्तक उठाई ही थी कि बिजली एक बार फिर से जोर से कड़क उठी और साथ ही कुमि चीखकर रो उठी।

बच्ची के रोने से मधु के भयभीत हृदय को मानो कुछ सहारा मिला।

हाथ की पुस्तक छूटकर नीचे गिर पड़ी। वह तुरन्त उठी, और लपककर बेटी के पास जा पहुँची।

एक हाथ से उसे धीरे से थपकते, दूसरे हाथ से उसके घुँघराले बालों को माथे पर सँवारते, उसने मृदु-मीठे स्वर में कहा—"क्या है, कुमि ! क्या हुआ, मेरी बच्ची ? सो जा, रानो ! सो जा, लाडो।"

अपनी बड़ी-बड़ी आँखें पूरी खोल, कुमि ने भरपूर दृष्टि से माँ की ओर ताका।

मुख पर मुसकान ला, मधु ने अपनी नन्ही बेटी के मन में आश्वासन भर देना चाहा। कहा, "कुमि सोये, रानी बेटी सोये।"

कुमि ने दोनों हाथ बढ़ा, माँ के आँचल का छोर अपनी नन्ही-नन्ही मुट्ठियों में कस लिया। बड़ी-बड़ी आँखों को पूरा खोल, जिज्ञासा-भरे स्वर में कहा, "कुमि सोये ?"

"हाँ, कुमि सोये। माँ की चन्दा निन्दी ले। माँ गीत गाये ?"

कुमि के गुलाबी गालों पर हँसी बिखर गई, "माँ गीत गाये। कुमि झट सो जाये।"

उसके सुनहरे बालों-भरे सिर को, ठीक से तकिये पर रखते, मधु ने मीठे स्वर में गाया, "निन्दी बेबी निन्दी, मक्खन रोटी चिन्दी।"

पर गीत की पहली पंक्ति भी पूरी न हो पाई थी कि कुमि ने पड़ाक् से आँखें खोल दीं। रूठकर बोली, "नेईं, कुमि नेईं सोये।"

"समझी! यह गीत पसन्द नहीं आया मेरी फूल-कटोरा को! अच्छा, माँ दूसरा गीत गाये, तब कुमि सोये?"

"नेईं, कुमि नेईं सोये।"

"वाह जी! यह कैसी बात है! देख तो, सब सो गये। टामी सो गया, हीरा सो गया।"

"टामी छो गया? हीरा छो गया?" कुमि ने अचरज से पूछा।

"हाँ, सब सो गये। आज तो चन्दा मामा भी सो गये। नन्हे तारों ने भी निन्दी कर ली। अब माँ की नीलम-परी भी सो जाये।"

"नेईं, कुमि नेईं सोये।" कुमि ने मचलकर कहा।

बेटी की इस अनावश्यक हठ पर मधु को रोष चढ़ आया। मन ने उसे झिड़क कर धमका देना चाहा, पर मधु ने मन पर काबू कर लिया। धीरे स्वर में पूछा, "क्यों? क्या चाहिये चन्दा-सी रानी को?"

रानी ने अपने नन्हे-नन्हे दो दाँतों की शुभ्र झलक दिखलाते हुए कहा, "पापा कटारे ले, कुमि सोये।"

बात मधु की समझ में न आई।

अपनी अटपटी बोली में कुमि न-जाने क्या-क्या बोल जाती थी, जिसे समझना कभी-कभी बड़ा कठिन हो जाता था।

उस समय सन्तप्त हो मधु मन-ही-मन सोचा करती थी—'काश! इतनी बड़ी न हो वह भी एक नन्ही-सी बच्ची होती। तब बेटी की भाषा वह सहज ही समझ पाती।'

एक बार, यही बात ललित के सामने मुख से निकल गई थी, तो ललित ने शरारत से मुसकराकर कहा था, "कुमि की माँ के लिए तो यह सम्भव नहीं। पर यदि मान भी लें कि यह सम्भव हो भी जाय, तो उस दशा में, एक दूसरे की बात समझने की अपेक्षा, क्या तुम दोनों एक दूसरे के बाल खींचने की कोशिश न करोगी?"

सुनकर मधु लजा गई थी।

याद आ जाने से इस समय भी उसके कपोल अरुण हो उठे।

किन्तु दूसरे ही क्षण नयनों में तप्त नीर भर आया—नहीं! उन बातों को याद करने से अब कुछ लाभ नहीं!

स्वयं भी शैया पर लेटकर, मधु ने झटपट बेटी को अपने वक्ष के समीप खींच लिया। दुलार-भरे स्वर में कहा, "माँ नया गीत गाये। कुमि रानी झट से सो जाये।"

माँ के हाथों से छूट, कुमि उठ बैठी। पूरा जोर लगा, अपने घुँघराले बालों-

भरे सिर को हिलाती हुई बोली, "नेंई। पापा कटारे ले। जब कुमि सोये।"

*　　　*　　　*

मधु ने जोर लगा, बेटी को अपने समीप खींचना चाहा, पर वह नटखट उसके हाथ से फिसल-फिसल गई।

मधु ने हाथ बढ़ा उसे पकड़ना चाहा, तो वह गिलहरी-सी फिसलती, पलंग से नीचे खिसक गई।

सामने वाले कोने में, दीवार के सहारे टिककर, हठीले स्वर में बोली, "पापा कटारे ले। कुमि, पापा कटारे ले।"

विवश हो मधु उठी। आलमारी खोल उसने बिस्कुट का डिब्बा निकाला। इकट्ठे तीन चार बिस्कुट बेटी के हाथ में पकड़ा देने चाहे, पर बेटी ने हाथ झटक उन बिस्कुटों को दूर फेंक दिया।

"नहीं, कुमि को बिस्कुट नहीं चाहिएँ। उसे तो बस पापा के कटारे चाहिएँ।"

मधु ने हठीली की हठ के सामने वस्तुओं का ढेर लगा दिया—खिलौने, खट्टी-मीठी गोलियाँ, तसवीरों वाली किताबें, बेबी साइकिल, घण्टी, मोटर, सभी-कुछ तो वह उठा लाई, पर कुमि की भौंहों पर पड़े बल कम न हो, क्षण-क्षण बढ़ते ही चले गये।

नहीं, उसे खिलौने नहीं चाहिएँ, चाकलेट नहीं चाहिए, साइकिल-मोटर कुछ नहीं चाहिये, उसे तो केवल 'कटारे' चाहिएँ। जब तक पापा कटारे लेकर नहीं आयेंगे, वह पलंग की ओर पग-भर भी न हिलेगी।

मधु के मन की खीझ, धीरे-धीरे रोष में परिवर्तित होती जा रही थी। बाहर वर्षा के छींटे, निर्जीव लकड़ी के तख्तों पर जो चोटें कर घनन-घनन् शब्द कर रहे थे, उससे कहीं अधिक तीखी चोट, बेटी के शब्द उसके सजीव प्राणों पर कर रहे थे।

'कटारे' क्या वस्तु है—यदि मधु यह समझ पाती, तो दुनिया की सारी दौलत लुटाकर भी, उसे ले आती। इस दुर्योग-भरी रात्रि के भीषण तूफान-बवण्डर की परवाह किये बिना, सात समुद्र पार की यात्रा करके भी, वह बेटी की इच्छा पूरी करती।

किन्तु जब समझने का उपाय ही नहीं, तब वह करे तो क्या करे!

माँ को चुप देख, कुमि ने उसका आँचल पकड़कर झटका। पूछा, "माँ, कुमि सोये?"

मधु के मन में आशा जाग उठी। स्नेह से बेटी के कपोल पर कोमल चुम्बन अंकित करते हुए बोली, "हाँ, कुमि सोये।"

कुमि ने मीठे स्वर में कहा, "अम्मा भी सोये?"

"हाँ, अम्मा भी सोये। अम्मा की चन्दा भी सोये।"

मधु ने हाथ बढ़ा उसे गोद में उठाना चाहा। वह पीछे सरक गई। बोली, "पापा भी सोये।"

मधु के हृदय में कहीं कुछ टीस उठा। नन्ही-सी बेटी से वह नयन न मिला सकी। मुख घुमाकर बोली, "हाँ, पापा भी सोये।"

कुमि दौड़कर माँ की गोद में आ चढ़ी।

* * *

उसे पलंग पर लिटाते, मधु स्वयं भी पास ही लेट गई। इस आशा में कि उसे सोते देख, कुमि स्वयं ही सो जायेगी, उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

पर दूसरे ही क्षण, उसे अपनी पलकों पर, नन्ही-नन्ही अंगुलियों के स्पर्श का भान हुआ। मुख से कुछ न बोलकर मधु ने नींद का बहाना किया।

अपनी छोटी-छोटी अंगुलियों से उसकी पलकें खोलने का प्रयास करते कुमि बोली, "माँ!"

"क्या है, बिटिया?"

"माँ, पापा भी सोये।"

"हाँ, बिटिया, पापा भी सोये।"

"माँ!"

"सो जा कुमि, अब तंग न कर।"

"माँ, पापा सोये। पापा कटारे ले।"

सहसा बिजली जोर से कड़क उठी।

उसकी जहरीली कौंध, पलक मारते मधु को सब-कुछ समझा गई। मधु तिलमिला उठी। उसका तन-मन रोष से काँप उठा। देह की रग-रग प्रतिकार की भावना से तड़प उठी।

मधु मानो सब-कुछ समझ गई—अवश्य यही बात है। जाने से पहले, ललित बेटी को कुछ सिखा गया। नादान, उसी सीखी हुई बात को बार-बार दोहरा कर, स्वयं भी तड़प रही है, और माँ को भी तड़पा रही है।

अवज्ञा और तिरस्कार से मधु का मन तिक्त हो उठा—हाँ, अवश्य यही बात है। इतनी छोटी-सी बात भला वह इतनी देर से क्यों नहीं समझ सकी!

ललित नहीं चाहता कि मधु सुखी रहे...

मधु से घृणा करते हुए भी, वह कुमि को प्यार करता है...

पत्नी को तलाक देने की इच्छा रखते हुए भी, वह बेटी को अपने समीप रखना चाहता है...

स्पर्द्धा तो उसकी कम नहीं!

कानून से सहायता पाने की आशा नहीं। अतः आज, सदा के लिए विदा होने से पूर्व वह उस अबोध को कुछ शब्द सिखा गया है, जिससे कि उसके रुदन, आँसुओं और हठ से परेशान हो, मधु उसे ललित के पास पहुँचा दे।

मधु के अधरों पर व्यंग्यभरी हँसी खेल गई—'तो ललित उसे इतनी मूर्ख समझता है!'

क्या वास्तव में वह सोचता है कि एक माँ, अपनी बेटी को भी नहीं बहला सकती? मधु जोर से हँस पड़ी। उसकी खिलखिलाहट बरखा के अट्टहास में घुल-मिल

गई। वातावरण काँप उठा।

कुमि ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से माँ की ओर ताका। कहा, "अम्मा ?"

मधु ने उसे अपनी कोमल भुजाओं में घेर लिया। कहा, "कुमि और अम्मा, दोनों बाजार जायें। कुमि के लिये गुलाबी फ्रॉक लायें।"

कुमि ताली बजाकर हँस पड़ी—'हाँ, गुलाबी फ्रॉक उसे बहुत पसन्द है।' उसने अपने दोनों नन्हे-नन्हे हाथ माँ के गले में डाल दिये।

मधु ने मन-ही-मन निश्चय किया—वह कुमि को गोद में लिये बैठी रहेगी, पर उससे सोने की बात न कहेगी, क्योंकि नींद की बात कहने से, उसे फिर 'कटारों' की याद आ जायेगी।

सो कुमि के हाथ में तसवीरों की किताब थमा, वह बाहर अँधेरे की ओर ताकने लगी।

आज उसके मन में भी अँधेरा था।

बाहर के उस घने, कालिमापूरित अन्धकार से, वह कहीं अधिक कालिमामय, कहीं अधिक तमोमय था। आकाश में चन्दा-तारों का कहीं चिह्न न था। उसके जीवन के चाँद-तारे भी दुःख की अनन्त अँधियारी में खो गये थे।

जीवन के सुनहले दिन बीत चुके थे। जीवन-साथी साथ छोड़कर जा रहा था। कल तक जो घर उन दोनों का था, आज वह उनमें से किसी एक का भी न था।

एक ही घर में, एक ही छत के नीचे, यह अन्तिम सम्मिलित रात बिताते हुए भी, उनके बीच सागर का-सा विस्तृत व्यवधान था।

और कल सूरज निकलने के साथ ही, यह दूरी, यह अलगाव, धरती-आकाश के अलगाव-सा अमिट हो जाने वाला था।

मधु को अब भी अपने मन पर विश्वास नहीं हो रहा था—क्या सच ही कल सवेरे वह इस घर को सदा के लिए छोड़, अपनी माँ के घर चली जायेगी ?

क्या सचमुच में ही कुछ दिन के अन्दर ही तलाक की विधि पूरी हो जायेगी ?

क्या यह सच है कि भविष्य में, ललित से, उसका कुछ भी नाता, कोई भी सम्बन्ध, तनिक भी सम्पर्क न रहेगा ?

पर यह कैसे सम्भव होगा !

ललित उसके रोम-रोम में, मन-प्राणों में, फूलों में समाई सुगन्ध-सा बस चुका है। वह उसे अपनी साँसों में बसा चुका है। क्या वास्तव में ही वह अपनी जीवन-सुरभि को भूल जा सकेगा ?

क्या उन दोनों में से, किसी से भी इन बीते दिनों की स्मृति मिटाई जा सकेगी ?

अच्छा, ललित क्या कर रहा होगा इस समय ?

क्या वह सुख की नींद सो रहा होगा, या उसके समान ही विकल हो, अन्धकार-जाल में उलझे ताने-बाने सुलझाने में लवलीन होगा ?

सहसा मधु स्वयं अपने पर खीझ उठी—क्यों वह ललित के विषय में सोच रही है ? क्यों ?

आने वाला कल भले ही अंधकारमय हो, पर इन बीतते हुए क्षणों में मोमबत्ती का धुँधला आलोक था, जो जल-जलकर कह रहा था, "हाँ, यह सब सम्भव है। यह सब सच है। देख, तू अकेली है। भविष्य का सारा जीवन तुझे अकेले ही बिताना होगा। मेरी तरह तिल-तिलकर जलना होगा तुझे भी, तभी तू मौत को पा सकेगी।"

मधु ने दोनों हाथों में अपना मुख छिपा लिया। कपोलों पर आँसू ढुलक आये, पर उन्हें देखने वाला, उन्हें पोंछने वाला वहाँ कौन था !

तूफान थम चुका था। रात बीत रही थी। मधु की आँखों पर नींद अपना अधिकार माँग रही थी।

निकट था कि वह नींद में झूम जाती कि कानों में कुछ बोल पड़े, "अम्मा, पापा कटारे ले !"

* * *

सहसा न-जाने क्या हुआ। मधु के मन में, न जाने कहाँ, कहीं कुछ टूट-सा गया। अवश रोष से भर, उसने एक भरपूर हाथ बेटी के कोमल कपोल पर जड़ दिया। पाँचों अंगुलियाँ उभर आईं। गुलाबी कपोल सुर्ख हो उठे। कुमि जोर से चीख मार रो उठी।

मधु का हाथ उठा और गिरा—कुमि की चीख से कमरा हिल उठा।

उन चीखों से मानो मधु के टूटते हृदय को और बल मिला, और उसने तड़ातड़ चार-पाँच तमाचे बेटी के गालों पर जड़ दिये।

कुमि की चीखें पवन से टकराकर, गगन से जा मिलीं।

दूसरे ही क्षण कमरे का दरवाजा भड़भड़ाकर खुल गया।

मधु ने दृष्टि उठाकर देखा—सामने ललित खड़ा था। बिखरे बाल, लाल-लाल आँखें। रोष से मुट्ठियाँ बँधी हुईं, देह की रग-रग तनी हुई। मधु काँप गई।

ललित गरजकर बोल उठा, "क्या कर रही हो ? क्या आज उसे मार ही डालोगी ?"

पिता को सम्मुख देख, कुमि की चीखें और भी बढ़ गई थीं। उसने अपने दोनों हाथ उसकी गोदी में जाने को फैला दिये।

पति की वह मुद्रा, और बेटी के दीनता से आगे को बढ़े, उन आतुर नन्हे-नन्हे हाथों को देख, मधु सहसा कुछ कह न सकी। उसकी पकड़ स्वयं ही ढीली पड़ गई, और कुमि दौड़कर पिता की आतुर बाँहों में जा छिपी।

वक्ष में मुख छिपाये सिसकती बेटी के बालों को सहलाते, ललित ने स्नेह-भीने स्वर में कहा, "कुमि बेटा, अभी तक सोया नहीं ?"

कुमि ने पिता की आँखों में आँखें डालकर कहा, "पापा भी सोये। कुमि भी सोये।"

ललित कुमि को बाहर के कमरे में ले गया।

मधु निश्चल, निर्वाक् हो बैठी-की-बैठी रह गई। वह प्रतिवाद में एक शब्द भी न कह सकी।

पिता के साथ कुमि बाहर चली तो आई, पर वह किसी प्रकार भी वहाँ सोने को राजी न हुई—'नहीं, वह यहाँ कदापि न सोयेगी। उसे अपना पलंग चाहिये। अपनी अम्मा के आँचल का छोर चाहिए। तभी तो वह सो सकेगी। केवल तभी उसे नींद आ सकेगी।'

लाचार ललित लौट आया।

कुमि को लिटाकर वह स्वयं भी लेट गया।

मधु की ओर उन्मुख होकर कहा, "आपके सोने का समय अभी नहीं हुआ?"

अभिमान-भरे तिक्त स्वर में मधु ने कहा, "सो जाइये आप। मैं अभी बाहर वाले कमरे में जाकर सो जाऊँगी।"

दो पल निर्निमेष दृष्टि से उसकी ओर ताक, ललित जोर से हँस पड़ा। कहा, "अब आ भी जाओ। जानती तो हो, तुम्हारे आँचल का छोर पकड़े बिना वह कदापि न सोयेगी। क्यों फिर से तूफान खड़ा करना चाहती हो!"

नयनों में घिर आई लाज को छिपाने के लिए मधु ने झटपट पुस्तक उठा ली, पर वह अपने स्थान से न हिली।

पश्चाताप के झकोरे ललित के हृदय को झकझोर चुके थे।

अपनी करनी पर उसे अमित ग्लानि थी। मन-ही-मन अमित सन्तप्त था। किसी भी मूल्य पर सुलह कर लेने को उसका मन व्याकुल हो उठा था।

दीप के धुंधले आलोक में, आँसुओं से धुले उस सलोने मुख पर दृष्टिपात करते उसका मन उसे धिक्कार उठा—वे आँखें, जिनमें सदा हास की फुलझड़ियाँ बिजली बनकर तड़पा करती थीं, आज केवल उसी के कारण, यूँ घटा-सी बरस-बरसकर, निष्प्रभ और श्रीहीन हो उठी थीं! कुन्द कली-सी वह कलिका, जो उसकी थी, केवल उसी की थी, आज उसी के कारण, यूँ मुरझा गई थी!

हौले से पुकारा—"मधु!"

क्या था उस स्वर में!

मधु की दृष्टि बरबस ललित की ओर खिंच गई।

ललित ने कहा—"मुझे क्षमा कर दो, मधु। अपनी भूल मैं मानता हूँ। तुम्हें बगिया में गुलाब के पौधे लगाने का उतना ही अधिकार है, जितना मुझे 'टामी' और 'हीरा' को अपने साथ घुमाने ले जाने का।"

मधु क्षीण स्वर में बोली, "भूल मेरी ही थी, ललित। गुलाब के पौधे लगाना

फिजूलखर्ची ही तो है। टामी, और हीरा, कुत्ते ही सही, पर उन्हें भी 'वायु-सेवन' की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कुमि को।"

कुमि ने पुकारा—"अम्मा !"

ललित ने कहा—"देखो, तुम्हारी बेटी तुमसे क्या माँग रही है?"

मन में घिर आई लाज छिपाने के लिए मधु ने झटपट मोमबत्ती बुझा दी, और कुमि के समीप आ लेटी। धीरे से पूछा, "पर, यह तो बताओ, यह 'कटारे' क्या बला है?"

"कटारे!"

"हाँ, कटारे। तब से तुम्हारी बिटिया 'कटारे' माँग-माँगकर ही तो रो रही है।"

"होगा कुछ, सो जाओ अब।" ललित ने नींद-भरे स्वर में कहा।

किन्तु मधु की आँखों में नींद न आई।

स्पष्टतः ललित ने कुमि को कुछ न सिखाया था।

तब कहाँ से उसने यह शब्द सुना, और क्यों इस बुरी तरह हठ ठान ली।

कानों में ललित के खर्राटे गूँजने लगे।

मधु के आँचल को हलका-सा झटका लगा। उसने सुना—नींद से बोझिल स्वर में कुमि गहन सन्तोषपूरित स्वर में कह रही थी—"अम्मा, देखो पापा कटारे ले।"

दूसरे ही क्षण कुमि की हलकी-हलकी साँसों का नियमित स्वर मधु के मानस पर छा गया।

ललित सो गया था। कुमि सो गई थी, लेकिन मधु बड़ी देर तक न सो सकी—कानों में पड़ते कटारों की ध्वनि सुन-सुन, वह दूर गगन में झिलमिलाते चन्दा-तारों की ओर देख-देख बड़ी देर तक हँसती रही।

मौसम भी तो हँस रहा था। उसका रुदन दूर अतीत में खो चुका था, और खुशियाँ चन्द्र-तारे बन, मन-गगन पर झिलमिला रही थीं।

२९

भाई-बहन

कुर्सी पर बैठा था किशोर। सामने मेज पर पुस्तक खुली रखी थी। किन्तु उन, काली-काली पंक्तियों में आज न जाने किसकी छवि मूर्त्त हो उठी थी। विचार न जाने किस ओर भटक गये थे। मन ही मन सोच रहा था वह—

'जीवन भी क्या है! शान्त-निश्छल अबाध सरिता की छल-छल करती धारा से जीवन के दिन एक ही धारा में खिसकते चले जाते हैं। शरीर कब बालपन से किशोर, और किशोर से तरुणाई में प्रवेश पा जाता है—इसका पता ही नहीं चलता। हठात् ठेस खा मन चौंककर उठ बैठता है, और चकित-भ्रमित हो दिक्विमूढ़-सा चहुँ ओर ताकने लगता है!'

कल तक किशोर युवक था। मित्रों के संग अठखेलियाँ करता घूमता था। और आज''एक ही रात के व्यवधान में इतना परिवर्तन!

प्रकृति का रंग आज कुछ और ही दृष्टिगत होता है। नभ की नीलिमा में आज नवीन आभा है, पवन में नूतन सौरभ। वायु-लहरियों पर मचलती कोयल की कूक में इतना मधुरतम संगीत निहित है!

झुक-झूम झूमती आम्र-मंजरियाँ आज मानो पुकार-पुकारकर कह रही हैं—जीवन के इस प्रांगण में झूम-झूमकर गाओ।

अधरों पर खिलते हास को बरबस नयनों में छिपाये, हौले-हौले पग रखती, सुनीता चुपके से आई और धीरे से हाथ बढ़ा उसने झट से भाई की आँखें मूँद लीं।

यदि किशोर कल का किशोर होता, तो तुरन्त उसकी झूलती चोटियाँ पकड़ सम्मुख खींच लेता और रोषपूर्वक कहता, "अब बोल!"

किन्तु अब वह बड़ा हो गया है। चार महीने बाद उसका विवाह होने वाला है। यह बालपन अब शोभा नहीं देता।

हाथ बढ़ा किशोर बहन के हाथ छुड़ाने लगा तो मन के चोर ने उझक, झट से उसकी हथेली में चुकटी काट ली।

'उफ!' करते सुनीता ने झट से अपना हाथ वापस खींच लिया। क्षत स्थान पर दुखती हथेली को सहलाते हुए बोली, "तुम बड़े दुष्ट हो, भैया! कैसे जोर से चुकटी काटी है! लाल हो गया! अभी दिखाती हूँ माँ को।"

"चल, चल, बड़ी आई माँ को दिखाने वाली! यहाँ बैठ, यहाँ।" कहते-

कहते किशोर ने उसे खींचकर अपने सामने मेज पर बैठा दिया। कहा, "अच्छा, यह बता..."

"क्या बताऊँ?" उसे मौन हो जाते देख सुनीता नटखटपन से नयन नचाते हुए बोली।

किशोर लजा गया। वह कुछ उत्तर न दे सका।

सुनीता ने कहा, "अच्छा, भैया, एक बात बताओ।"

"क्या?"

"कैसी लगी भाभी?"

"हिश्त्!"

"बताओ न, भैया।"

"हट! जा भाग यहाँ से! मुझे पढ़ने दे।"

"वे दिन अब हवा हुए भैया, जब पढ़ने के नाम खलील खाँ फाख्ता उड़ाया करते थे।" भाई के हाथ से पुस्तक छीनकर बन्द करते हुए सुनीता बोली, "पढ़ने के नाम तो रौब बहुत गाँठ चुके, अब तो दफ्तर में बैठकर कलम घिसो और भाभी रानी की 'जी हुजूरी' में..."

"नहीं मानेगी तू? अच्छा!"

किन्तु उसके हाथ बढ़ाकर पकड़ पाने से पहले ही सुनीता कूदकर भाग खड़ी हुई।

किशोर भी क्यों पीछे रहे! जब विवाह होगा, तब देखा जायेगा। अभी तो बदला ले ही ले। वह भी बहन के पीछे-पीछे भागा।

हार होती देख सुनीता झट से माँ की गोदी में जा छिपी, "देख लो, माँ, देख लो। ये भैया मुझे दिन-भर मारते हैं।"

"क्यों मारता है, रे!" सुनीता को नन्ही बच्ची के समान अपनी गोद में समेटते माँ ने कहा, "छोटी-सी बहन को दिन-भर तंग करता रहता है।"

"छोटी है यह! हुँह! तुमसे तो लम्बी है, माँ।"

"तो तुम क्यों चिढ़ते हो!" सुनीता बोली, "भगवान की दया से लम्बाई में तुम भी किसी जिराफ़ से कम नहीं।"

"देख लो, माँ! अब यह लड़ाई की बात नहीं! बाहर निकल! गोद में छिपकर बहादुरी छाँट रही है!"

"अच्छा, अच्छा!" माँ ने हँसते हुए कहा, "यहाँ बैठ तू मेरे पास। बता तेरा रिजल्ट आज ही आयेगा न।"

"रिज़ल्ट?" किशोर सच ही चौंक गया।

कल तक उसे रिजल्ट के सिवा और कुछ भी न सूझता था, और आज...

उसे बाहर भागते देख सुनीता ने हाथ पकड़कर खींचते हुए कहा, "बैठो न। जानती हूँ, इस बार तुम्हें अवश्य सफलता मिलेगी।"

गत-वर्ष भी वह आइ. ए. एस. की परीक्षा में बैठा था, किन्तु सफल न हो सका था। सुनीता का संकेत शायद उसी ओर है। सुनकर किशोर क्रुद्ध हो उठा। कहा, "और नहीं तो क्या! मेहनत क्या यूँ ही की है?"

"तुम कितनी ही मेहनत क्यों न करो, लेकिन वास्तव में तुम्हारी सफलता का सारा श्रेय मुझको हो।"

"सो कैसे?"

"अरे! इतनी जल्दी भूल गये! उस दिन चने चबाकर मैंने तुम्हारी समस्त विघ्न-बाधायें और मुश्किलें चबा जो डाली थीं।"

भाई-बहन की हँसी से घर का कोना-कोना गूँज उठा। किन्तु उस सरल विनोद में माँ सहज मन से साथ न दे सकी, उनका हँसता मुखड़ा पलक मारते श्रीहीन हो उठा।

* * *

बीते दिनों की वह घटना, फिर एक बार, उनके मस्तिष्क में कौंध गई।

उस दिन भाई-दूज थी। घर-घर बहनों ने चौक पूर दीप सँजोये थे। चने चबा-चबाकर, मानो उनके संकट हरने का संकल्प किया था। बड़ी-बूढ़ियों से युगों-पुरानी बहन-भाई की कहानी सुन-सुन, थाली में रोली सजा-सजा मुदित मन से भाइयों के लम्बे-चौड़े टीके लगाये थे।

हँसी की फुलझड़ियाँ घर-घर बिखर उठी थीं।

घर-घर में छाये उस उल्लास को सुनीता ने देखा था, और भागते-भागते आ, माँ के गले में अपने दोनों हाथ डाल वह बोली थी, "हम भी दिया जलाकर कहानी सुनेंगे, माँ। हम भी भैया के टीका करेंगे। चलो, माँ। उठो न।"

उन्होंने हँसकर उत्तर दिया था, "पगली! दिया जलाकर ही क्या होगा! ले, तुझे मैं कहानी ऐसे ही सुनाये देती हूँ। भाई तेरा टीका कब करवाता है, री, जो आज करवादेगा। देख, कितनी सुन्दर भेंट लाया है वह तेरे लिये। ऐसी सुन्दर साड़ी और किसी की है, बोल?"

सुनीता छोटी है तो क्या—इतनी सहज में धोखे में आने वाली न थी। मचल कर बोली, "साड़ी तो तुम खरीद लाई हो, माँ! क्यों झूठ बोल रही हो?"

माँ अवाक् रह गई—लड़की की बातें। कहा, "सभी के तो माँ-बाप खरीद देते हैं, पगली! कौन किशोर अभी कमा रहा है, जो···"

बात काट सुनीता बोली, "हूँ! तुमने अभी तक मुझसे पूजा क्यों नहीं कराई? उस जरा-सी तिन्नी ने भी राजू को टीका दिया है! तुमने मुझसे क्यों नहीं कराया?"

"तू अभी छोटी है, बिटिया। वह सब नहीं समझ सकेगी।"

"हाँ, नहीं तो समझ ही सकूँगी। पन्द्रह साल की हो गई, अभी मैं बच्चा ही तो हूँ।"

माँ हँस पड़ी, "नहीं, तू बड़ी-बूढ़ी है! सुन, हमारे यहाँ यह रीति है कि यदि त्योहार के दिन घर में किसी की मौत हो जाये तो वह त्योहार नहीं किया जाता।"

"तुम झूठ बोलती हो, माँ ! यदि यह सच होता, तो सब त्योहार कभी के बन्द हो गये होते।"

"नहीं, बेटी।" माँ ने हँसते हुए कहा, "किन्तु उसी त्योहार के दिन यदि घर में लड़के या बछड़े का जन्म हो जाये तो उसे पुनः प्रारम्भ कर देते हैं।"

सुनीता उदास हो गई। बोली, "हमारे यहाँ किसकी मृत्यु हो गई थी, माँ ?"

"पता नहीं, बेटी। सात-आठ पीढ़ी पहले की बात है। अब किसे याद है !"

"वाह ! यह तो खूब है ! जिसकी याद भी नहीं, उसके शोक में त्योहार भी न मनाया जाये ! यह तो कोई बात नहीं। हम तो अवश्य मनायेंगे।"

"मान जा, बिटिया। हर बात में हठ ठीक नहीं।"

"क्यों नहीं ! क्या हो जायेगा मनाने से ?"

किन्तु वह कुछ उत्तर दे सकें, इससे पूर्व ही किशोर आँधी तूफान सा आ पहुँचा था।

"नीता ! नीता ! कहाँ गई नीता ? हूँ ! तू अभी तक ऐसे ही बैठी है ? नरेन की बहन ने उसे कभी का टीका कर भी दिया। अच्छा, मैं क्या लाया हूँ तेरे लिये, बता तो जानूँ।"

रुद्ध कण्ठ से सुनीता बोली, "किन्तु माँ तो कहती हैं, कि मैं टीका कर ही नहीं सकती।"

"क्यों नहीं कर सकती ? 'लौरेटो' में पढ़ती थी, इसीलिए ? क्या अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने से टीका करना भी छोड़ देते हैं, माँ ?"

रोना भूल, सुनीता खिलखिला उठी, "नहीं, भैया, यह बात नहीं। माँ कहती हैं कि आठ पीढ़ी पहले आज के दिन हमारे घर में किसी की मृत्यु हो गई थी, इसीलिए···"

किशोर हँसने लगा, "तुम भी खूब हो, माँ ! इतने वर्षों तक कहीं मरने वाले का शोक मनाया जाता है ! उठो। चलो जल्दी। अरे, उठो ना।"

हार मान माँ उठ खड़ी हुई।

बाल-हठ और तर्क के आगे विश्वास हार मान झुक गया था उस दिन।

किशोर के पिता नहर-विभाग में थे। गाँव-गाँव, जंगल-जंगल घूमना पड़ता था उन्हें। अतः उन्होंने आरम्भ से ही बच्चों को होस्टल में भेज दिया था।

अब उनकी पदोन्नति हुई थी और वर्षों बाद एक स्थान पर रहने का अवसर मिला था। अतः उन्होंने बच्चों को अपने पास ही बुला लिया था।

अब तक वे लोग वर्ष में केवल दो बार ही घर आ पाते थे, अब नित्य घर में रहने पर उन्हें प्रत्येक बात में नवीन रस मिलता। प्रत्येक कार्य को वे शतगुने उत्साह से करना चाहते। इसी कारण यह झमेला उठ खड़ा हुआ था।

मन ही मन भगवान् का स्मरण कर, सुनीता की माँ उठ खड़ी हुई थीं। ठाकुर-

द्वारे में भगवान् को साक्षी बना उन्होंने यथा-रीति पूजा सम्पन्न करा दी थी। बच्चों के उस खेल में मन की दुविधा भूल, उस समय वे भी मग्न हो गईं थीं।

किन्तु जब-तब वह बात स्मरण आ जाती और उनके तन-मन में काँटे उठ खड़े होते। मन ही मन भगवान् को सम्बोधन कर, वह कह उठतीं, "हमारी रक्षा करना, देव।"

* * *

साँझ-सवेरा होने लगा। दिन बीत चले। स्मृतियों पर समय का झीना आवरण पड़ गया। आज फिर पुराना घाव हरा होना चाहता है।

तभी बाहर से किशोर के पिता, रमेशचन्द्र, हाथ में अखबार लिये आ पहुँचे। प्रसन्न मुख से बोले, "लो, किशोर की माँ! तुम्हारा बेटा पास हो गया। अव्वल आया है वह।"

नये सुखों में पुरानी स्मृतियाँ फिर धुँधली पड़ गईं।

सुनीता ने किलककर कहा, "बधाई, भैया। बहुत-बहुत बधाई। देखना, मन-भर मिठाई खाऊँगी मैं।"

"और जो न खा सकी तो?" उसे खिझाने को किशोर ने पूछा।

कुछ देर बाद उसने सच ही एक मन लड्डू ला रखे बहन के सामने, और बोला, "देख, पूरे एक मन हैं। यदि इनमें से एक भी छोड़ा तो..." उनकी मिली-जुली हँसी से घर का कोना-कोना गूँज उठा।

विवाह का दिन आ पहुँचा।

धूम-धड़ाके से बारात गई और कोलाहल मचाते लौट आई।

नई बहू के राग में रातें भी दिन बन गईं। छुट्टी न मिली सुनीता को तनिक आँखें मूँदने की भी।

उस दिन तनिक हरारत हो आई थी। फिर भी खट्टी पकोड़ियों के साथ, खूब बासी कचौड़ियाँ खाईं। उधर वधु विदा हुई, उधर उसने शैया थाम ली।

मामूली ज्वर था। चार-छः दिन में ही ठीक हो गया, किन्तु कमजोरी बहुत हो गई।

उस दिन किशोर वधु को विदा कराने चला गया। अनमनी-सी हो, सुनीता एक पुस्तक लेकर बैठी ही थी कि टेलीफोन की घण्टी बज उठी।

फोन अस्पताल से आया था। मोटर लारी से टकरा गई थी, किशोर को बहुत चोट आई थी। उसकी दशा चिन्ताजनक थी।

सुनते ही सुध भूल पिता अस्पताल की ओर दौड़ पड़े।

पड़ोसिनों ने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा, "ऐसी कुलच्छनि बहू के सत्यानाशी पैर घर में पड़े कि..."

माँ ने अश्रु-विकृत कण्ठ से कहा, "छिः, बहन! ऐसा न कहो। मेरी बहू साक्षात् लक्ष्मी है!"

पड़ोसिनें बड़बड़ाती हुई अपनी राह चल दीं।

खिन्नमना सुनीता पिता के फोन की प्रतीक्षा कर रही थी। हठात् ध्यान आया—'यूँ व्याकुल होने से क्या लाभ ? भैया के स्वास्थ्य के लिये भगवान् से प्रार्थना करूँ। सच्ची पुकार वह अवश्य सुनेंगे।'

ठाकुरद्वारे के द्वार पर उसके पैर ठिठक गये।

अन्दर माँ रो-रोकर भगवान् से विनती कर रही थीं—"अपराध मेरा ही था, प्रभु ! इन निर्दोष बालकों को दण्ड न दो, भगवान। यदि उस दिन मैं मना कर देती, तो वे अबोध कैसे पूजा कर पाते ! किशोर के बदले मुझे उठा ले, भगवान्।"

सुनीता का हृदय काँप उठा—'तो क्या उस दिन के हठ का ही वह परिणाम था ? किन्तु अपराध तो उन दोनों ने किया था। दण्ड अकेले भैया को क्यों मिला ?'

उसका हृदय उसे धिक्कार उठा, 'यहाँ खड़े-खड़े रोने से क्या भैया अच्छा हो जायेगा, अभागिन !'

एक टैक्सी पकड़, उसी वेष में, सुनीता अस्पताल जा पहुँची।

अस्पताल के द्वार पर ही पिता मिल गये।

बोले, "मुसीबत कभी अकेले नहीं आती, बेटी। उसे रक्त देना अवश्यम्भावी है, और दुर्भाग्य हमारा कि इस समय अस्पताल में रक्त का एक कतरा भी नहीं।"

"तो चिन्ता क्या है, पिताजी ? मेरा रक्त दिलवा दीजिये न।"

"तेरा ? किन्तु तू स्वयं ही कितनी कमजोर है !"

"सोच-विचार का समय नहीं, पिताजी। शरीर कुछ दुर्बल है तो क्या ? मेरा मन तो सबल है। भाई की ओर देखिये और हाँ कह दीजिये। कह दीजिये, पिताजी।"

रमेशचन्द्र ने दोनों हाथों में अपना मुख छिपा लिया।

रक्त टैस्ट किया गया नीता का और तुरन्त ही किशोर के शरीर में पहुँचाने का प्रबन्ध कर दिया गया।

बहन-भाई स्वस्थ हो अस्पताल से घर आ पहुँचे।

कल भाई-दूज है।

नव-वधु की पहली भाई-दूज है यह।

भाई कमल बहुमूल्य भेंट ले आज ही आ गया है।

माँ ने पूछा, "क्यों रे, किशोर, कल तू क्या देगा नीता को ?"

"नहीं माँ, मैं टीका न करूँगी।" उदास मुख सुनीता तत्क्षण बोल उठी।

"छिः, बेटी ! ऐसी बात नहीं बोलते। क्यों नहीं करेगी तू टीका भला ?"

"नहीं, माँ। एक बार करने पर तो..." रुद्ध कण्ठ सुनीता बोल भी न सकी।

"पगली नहीं तो !" माँ हँस पड़ीं, "अरे ! भूल मेरी ही थी। इन बातों में क्या रखा है, बेटी ? क्या कभी किसी पर विपत्ति नहीं आती ? भाग्य का लिखा होकर ही रहता है।"

बेटी के मुख पर झलकती व्यथा देख, उन्होंने पुनः उत्साह-भरे स्वर में कहा, "हमारे भाग्य अच्छे थे कि तेरे प्रताप से यह संकट टल गया। क्या इस बार भी तू भाई की शुभ-कामना नहीं मनायेगी ?"

सुनीता के उदास मुख पर हँसी के चाँद-तारे बिखर उठे।

किशोर ने कहा, "मैं समझा, माँ। सुनीता सोच रही है कि चने चबाने से मुख कड़वा हो जायेगा, और टीका करने से हाथ गन्दे हो जायेंगे, इसी से..."

सुनीता ने रुष्ट हो भाई के केश झकझोर डाले।

बन्द द्वारों की बाधा ठेल, सम्मिलित कण्ठों का वह हास दूसरे कक्ष में बैठे रमेश बाबू के कानों तक जा पहुँचा। उत्तर में वह स्वयं भी मुसकरा उठे।

राख की पुडिया

ढोलकों की ध्वनि कुछ धीमी पड़ गई थी; मन्त्रोच्चार का वेग कुछ अधिक बढ़ गया था, समीप का कोलाहल बिखरकर पुर चला गया था, कुछ देर को सभी मन्त्र-मुग्ध-से हो उठे थे—भाँवरें पड़ने लगी थीं।

प्रोफेसर साहब को लगा, कि उनके समधी संकेत से उन्हें बुला रहे हैं। वह उठकर उनके निकट गये, तो उन्हें एक एकान्त कोने में ले जाते हुए, सेठ रेवतीशरण ने कहा—"बड़ी भूल हो गई, प्रोफेसर साहब, पहले मैं आपसे कहना भूल ही गया था। हमारे यहाँ की रीति है कि कन्यादान के समय गोदान के लिए नकद बीस हजार रुपए अवश्य दिये जाते हैं।"

प्रोफेसर पुण्डरीक के पैर लड़खड़ा गये। किन्तु वह प्रोफेसर थे। नटखट लड़कों के अप्रत्याशित प्रश्नों का तुरन्त समाधान कर देने का उन्हें अभ्यास था। सँभलकर बोले, "भूल केवल आपकी ही नहीं, मेरी भी हुई, सेठजी। मैं आपसे कहना भूल ही गया था कि हमारे कुल में किसी अप्रत्याशित घटना के कारण गोदान की रस्म बन्द कर दी गई है।"

सेठजी की नाका डगमगाई अवश्य, किन्तु विस्मय का खौंचा खा, नौका उलट देने वाले व्यक्तियों में से नहीं थे वह। पतवार का नया वार करते हुए उन्होंने कहा—"हो सकता है, प्रोफेसर साहब। किन्तु विवाह-शादी में, लड़के वालों की रीति-रस्मों का ही पालन किया जाता है, उन्हीं को प्रधानता दी जाती है।"

प्रोफेसर पुण्डरीक ने तनकर कहा—"शुभ और अशुभ के नियम सभी के लिए समान होते हैं, सेठजी। अब हमारा और आपका सम्बन्ध जुड़ चुका है। जो बात हमारे लिये अशुभ है, वह आपके लिए भी शुभ सिद्ध न हो सकेगी।"

सेठजी भी क्यों हार मानने लगे! उदासीन भाव से बोले, "जब तक बहू का डोला ससुराल नहीं पहुँच जाता, तब तक हमारा-आपका सम्बन्ध पक्का नहीं हो सकता, प्रोफेसर साहब; और यदि हमारी सब रस्में पूरी न हो सकीं, तो हमें विवश हो, वधु का डोला यहीं छोड़ जाना पड़ेगा।'

प्रोफेसर पुण्डरीक पर वज्राघात हुआ। आज तक उन्होंने कभी किसी के सामने सिर नहीं झुकाया था; किसी भी वस्तु के लिए याचना नहीं की थी, कभी किसी से;

किन्तु आज बेटी के लिए उन्हें यह गर्हित कार्य भी करना पड़ा। नम्रतापूर्वक बोले—"सेठजी, आप भली-भाँति जानते हैं, कि मैं सुगर मिल का स्वामी नहीं, अपितु गिने-चुने रुपए पाने वाला, केवल एक मामूली-सा प्रोफेसर हूँ। अपनी बेटी को प्रत्येक कला में पारंगत करा दिया है मैंने। इतनी योग्यता है उसमें कि यदि कभी आवश्यकता पड़े, तो वह पूरे परिवार के भरण-पोषण का भार सहर्ष उठा सकती है। उसकी शिक्षा-दीक्षा में इतना खर्च कर, अब मेरी इतनी सामर्थ्य नहीं कि···"

पूरी बात सुनने का धैर्य नहीं था, सेठ रेवतीशरण के मन में। उन्होंने अकड़ कर कहा—"यदि नहीं थी इतनी सामर्थ्य, तो क्यों रिश्ता जोड़ा था! किसी खाते-पीते सद्गृहस्थ के घर खोज लेते, अपने-सा ही, कोई फटेहाल-फटीचर! किसने कहा था तुमसे, कि बेटी को पढ़ा-लिखाकर कलक्टर बना दो। मेरे घर की बहू को चमारिनों की तरह नौकरी करके पेट भरने की जरूरत नहीं पड़ेगी कभी भी। हाँ, गहने-कपड़े पहन, उसे चार भले घर की बहुओं के बीच में जरूर उठना-बैठना पड़ेगा।"

प्रोफेसर पुण्डरीक के तन-मन में क्रोधाग्नि धधक उठी। किन्तु अभी इतना ज्ञान शेष था उनके मन में, कि क्रोधाहुति डालने से यह ज्वाला और भी धधक उठेगी। उन्होंने मृदु स्वर में कहा—"बेटी को विदुषी बनाकर सोचा था, कि सिर से भारी भार उतर गया। यह नहीं जानता था मैं, कि वह ऐसा भार है, जिसे मुझे जीवन-भर ढोना होगा। यदि पहले ही आपने कह दिया होता, कि आपके लड़के की कीमत दहेज, वस्त्राभूषण के अतिरिक्त बीस हजार रुपए और भी होगी, तो मैं कदापि आपके यहाँ सम्बन्ध जोड़ने न आता। पहले चिकनी-चुपड़ी बातें कर, और असली बात छिपाकर, गलती आपने ही की, सेठजी। आपकी गलती के लिए मैं उत्तर-दायी नहीं।"

सेठजी ने व्यंग्यपूर्वक कहा—"इतना भोला बनने से काम नहीं चलेगा, महाशयजी। यदि आप अपनी भूल के लिए प्रायश्चित्त करना चाहते हैं, तो अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। शौक से बेटी का ब्याह किसी दूसरी जगह रचा लीजिये आप।"

"जो होना था, वह तो कभी का हो चुका है, सेठजी। किसी भी भारतीय ललना की माँग में, पति के जीवित रहते, दोबारा सिन्दूर नहीं चढ़ सकता।"

सेठ के चौड़े अधर, खिलकर, कानों तक खिंच आये। बोले, "यदि आप व में ही, सनातन वैदिक काल से चले आये हमारे इन पुराने विचारों को मानते हैं, तो कल सुबह तक बीस हजार रुपयों का प्रबन्ध कर लीजिये कहीं-न-कहीं से। नहीं तो परिणाम के लिए मैं जिम्मेदार नहीं।"

अपने छोटे-छोटे पैरों पर सेठ रेवतीशरण लुढ़कते हुए चल दिये। एक गहरी भर प्रोफेसर पुण्डरीक भी लौट आये।

अपने कक्ष में पहुँच, दोनों हाथों के बीच सिर थामकर बैठ गये वह। मन में नप रहा था, विद्रोह कुलाचें भर रहा था. परन्त सम्पर्ण विश्व का समस्त रोष

सकते थे।

अब उनके सामने केवल दो ही राहें शेष थीं—या तो अपनी प्राणप्रिय कन्या के चाँद-सरीखे भविष्य में सदा-सदा के लिए काला धब्बा लगा दें, विवाह में अतिरिक्त दहेज न देने के अपने प्रण को, मिथ्या के अतल तल में डुबो दें; या रातोंरात कहीं से बीस हजार रुपए का प्रबन्ध कर, जिन्दगी-भर के लिए किसी के कर्जदार बन जायें।

विवाह के घर में किसी को खोजना सरल नहीं होता, विशेषकर उसको जो उस घर की स्वामिनी हो। जिस नौकर को, उन्होंने पत्नी को बुला लाने के लिए भेजा था, उसने सबसे उनका पता पूछ-पूछकर, घर के प्रत्येक प्राणी को सूचना दे दी, कि वसुन्धरा देवी को अभी तुरन्त बुला रहे हैं गृहस्वामी। समाचार किसी को कुछ ऐसा महत्त्वपूर्ण नहीं लगा। विवाह-शादी के घर में, पति को, पत्नी के परामर्श की आवश्यकता पड़ा ही करती है।

किन्तु सुनते ही अरविन्द का माथा ठनका। उसने सेठ रेवतीशरण को पिता के संग बातें करते देखा था। सेठजी के लौटने पर, उसने उनकी विजय-मद घोषित करती मुसकान देखी थी, और देखी थी, घर के अन्दर जाते अपने पिता की चिन्तित मुद्रा।

वसुन्धरा देवी के साथ-ही-साथ, वह भी पिता के कक्ष में जा पहुँचा। उसे देख प्रोफेसर पुण्डरीक सहम गये। आधुनिक विचारों के इस नवयुवक को कुछ पता लग सके; इससे पूर्व वह पत्नी से विचार-विमर्श कर लेना चाहते थे।

किसी काम का बहाना बना, उन्होंने उसे टाल देना चाहा, किन्तु अरविन्द टलने के लिए नहीं आया था। उसने कहा—"बात क्या है, पिताजी! मैंने देखा था कि सेठजी आपसे कुछ कह रहे थे। क्या कह रहे थे वह!"

प्रोफेसर साहब ने कुछ रुष्ट होकर कहा—"जाँ अपना काम देख। बच्चों को हर बात में अपनी टाँग नहीं अड़ानी चाहिये।"

अरविन्द उनके पैरों के निकट जा बैठा। कहा, "अब मैं नन्हा-सा अबोध बालक नहीं हूँ, पिताजी। आपने मुझे पढ़ा-लिखाकर किसी-योग्य बना दिया है; तो इतना अवसर भी दीजिये मुझे, कि आपकी उलझनों को सुलझाने में आपकी कुछ सहायता कर सकूँ मैं।"

वसुन्धरा देवी ने भी कहा—"ठीक ही तो कह रहा है। कहो न, आखिर क्या बात हुई जो इतने चिन्तित हो उठे हो!"

प्रोफेसर पुण्डरीक ने बारी-बारी से पत्नी और पुत्र की ओर निहारा। शिथिल स्वर में बोले, "बात है छोटी-सी। इतनी छोटी कि कभी सपने में भी उसकी कल्पना नहीं की थी मैंने। कहानियाँ अवश्य सुनी थीं, कि बेटी के विवाह में कितनी बेइज्जती उठानी पड़ती है, किन्तु यह कभी नहीं सोचा था, कि वे कहानियाँ अक्षरशः सच भी हो सकती हैं। सेठ रेवतीशरण की साधुता, ईमानदारी और सचाई के विषय में कितनी गाथाएँ सुनी थीं, आज पता लगा कि वे सब कपोलकल्पित, मनगढ़न्त, मिथ्या थीं।"

अरविन्द ने अपने दोनों हाथ पिता के घुटनों पर रख दिये। कहा—"पिताजी !"

"हाँ, बेटे ! क्या कहूँ, क्या न कहूँ—समझ में नहीं आता। भय लगता है, कहीं तू पल-भर में ही कोई हंगामा न खड़ा कर दे।"

"आप विश्वास रखिये, पिताजी। मैं ऐसा कोई काम कदापि नहीं करूँगा, कि आपकी प्रतिष्ठा पर तनिक-सी भी आँच आ सके।"

"जानता हूँ, पुत्र। फिर भी कहने को मुख नहीं खुलता। जानते हो सेठ रेवतीशरण, वधू को विदा कराने से पहले, बीस हजार रुपयों की माँग कर रहे हैं।"

"क्या कहा !" वसुन्धरा देवी को अपने कानों पर विश्वास न हुआ। भ्रमित-सा अरविन्द पिता का मुख ताकता ही रह गया।

कौन विश्वास कर सकता था इस बात पर ! कि सेठ रेवतीशरण-जैसा उदार, धनी-मानी, नम्र-विनीत व्यक्ति, इस प्रकार की असम्भव माँग पेश कर, किसी सीधे-सादे, निस्सहाय मनुष्य को, विपत्ति के अगाध सागर में ढकेल सकता है !

अरविन्द ने कहा—"यह सच नहीं हो सकता, पिताजी ! और यदि सच भी हो, तो इस अन्याय का प्रतिकार हमें करना ही होगा। निश्चय ही सुधांशु को इस बात का कुछ भी पता नहीं होगा, नहीं तो वह अवश्य विरोध करता इस गर्हित माँग का ! मैं अभी सुधांशु से···"

"ये सब बातें मैं सोच चुका हूँ, विन्दु।" प्रोफेसर साहब ने धीर भाव से कहा—"सुधांशु को पता है या नहीं, इस बात से रत्ती-भर भी अन्तर नहीं पड़ता। रुपया किसी को बुरा नहीं लगता। तुम यदि सुधांशु से कुछ कहने जाओगे, तो अपमान के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ न लगेगा तुम्हारे। अपने कानों पर हाथ रखकर कहेगा वह—'राम-राम ! पिताजी की किसी भी बात का विरोध करना मेरा धर्म नहीं !' धर्म जब रुपये का रूप धारण कर लेता है, तब मनुष्यता लाज से अपना मुख छिपा, रसातल में जा छिपती है।"

अरविन्द ने दृष्टि घुमाई। वातायन से विवाह-मण्डप स्पष्ट दिखाई दे रहा था। विवाह-समारोह सम्पन्न हो चुका था। लाज से सिमटी-सिकुड़ी बहन, अपनी सखियों से घिरी-घिरी, पति के पीछे-पीछे, कुलदेवता के सम्मुख, पूजा की शेष विधियाँ सम्पन्न करने के लिए चली आ रही थी।

एकाएक उसका विद्रोह गलकर बह गया। उसने कहा—"तब बीस हजार रुपयों का प्रबन्ध करना ही होगा, पिताजी।"

प्रोफेसर पुण्डरीक भी उधर ही देख रहे थे। उनके नेत्र सजल हो उठे थे। धीरे से बोले—"नहीं !"

नहीं !—माता-पुत्र दोनों ही चौंक उठे। दोनों की दृष्टियाँ मिलीं। वसुन्धरा देवी ने पति की ओर मुड़कर कहा—"क्या अनर्थ की बात कह रहे हो तुम !"

उनके वेदना-विमथित मुखड़े पर, करुण हास की रेखाएँ उभर आईं। कोमल

स्वर में बोले—"अनर्थ की इसमें क्या बात है, वसुन्धरे ? समझ लें हम, कि हमारी बेटी अभी कुआँरी ही है। लाखों वर मिल जायेंगे, उस सुभाषिणी के लिए !"

"पिताजी !" अरविन्द चीख उठा।

वसुन्धरा ने पति की बाँह झझकोर डाली। कहा, "निश्चय ही तुम कुछ सनक गये हो। क्या कह रहे हो तुम ? तुम्हें कुछ होश भी है ?"

"मैं तो होश में ही हूँ, वसु। लगता है कि बेटी की ममता ने तुम्हें अन्धा कर डाला है। क्या तुम्हारी इच्छा है कि ये बीस हजार रुपये चुपके-से दे दिये जाएँ ?"

"और उपाय ही क्या है ?"

"ठीक। किन्तु एक बार सोचा भी है तुमने, कि ये रुपए चुकाये कैसे जायेंगे ? दो-ढाई वर्ष बाद मैं रिटायर हो जाऊँगा। अपने युवा पुत्र के कोमल कन्धों पर, इतना भारी बोझ लादते तुम्हें संकोच नहीं होता ?"

वसुन्धरा देवी का सिर झुक गया। उन्होंने कहा, "ठीक कहते हो तुम। तो मैं अभी मना कर दूँ, उन सबको। शेष विधियाँ पूरी करने की ही क्या आवश्यकता है ?"

"ठहरो, माँ।" अरविन्द ने उनका हाथ पकड़ लिया। कहा—"पिताजी, यह मेरे और मेरी बहन के जीवन का प्रश्न है। इसका निर्णय आप हम पर ही छोड़ दीजिये। हमें पढ़ा-लिखाकर, सब तरह से योग्य बनाकर, आप अपना कर्तव्य पूरा कर चुके। बहन के प्रति मेरा भी कुछ कर्तव्य है। आप बीस हजार रुपये का चेक काट दीजिये, पिताजी। घर पहुँचते ही वे चेक नहीं भुना लेंगे। विश्वास रखिये, दस दिन के अन्दर मैं बैंक में बीस हजार रुपए डलवा दूँगा।"

"कहाँ से ? चोरी करके या डाका डालकर ?"

"न चोरी से, न डाका डालकर। मेरे मित्र हैं, जो बिना कुछ सूद लिये, मुझे थोड़ी-थोड़ी रकम उधार दे सकेंगे। भगवान् ने मुझे बुद्धि दी है, और आपने उस बुद्धि का उपयोग करने के लिए योग्यता-रूपी पूँजी। उस पूँजी के सहारे, मैं इस तुच्छ पूँजी का ऋण सहज में ही उतार दूँगा।"

"ये सब बचपने की बातें हैं, बिन्दु। तू नहीं जानता कि तू अपने सिर पर, कितना भारी भार उठाना चाहता है। यह विश्वास रख, कि जब शुभा को इस बात का पता चल पायेगा, तो उस घर में पैर रखने से पहले, वह पत्थर पर सिर पटककर मर जायेगी।"

"यह मैं जानता हूँ, पिताजी। मैं आपका ही बेटा हूँ, और वह आपकी ही बेटी है। हम दोनों की शिराओं में आपका ही रक्त बह रहा है। उस स्वाभिमानिनि का मान उससे यही कहेगा, कि दो पैसे की मजदूरी कर चाहे रूखी रोटी ही क्यों न खानी पड़े उसे, किन्तु उस चौखट पर वह थूकने भी न जाये। परन्तु मैं भी कुछ कम स्वाभिमानी नहीं हूँ, पिताजी। मेरे जीते-जी केवल बीस हजार रुपए के पीछे मेरी बहन का सुख और आपका मान कदापि विनष्ट नहीं हो सकता। मेरी बात मान लीजिये, पिताजी। चैक काट दीजिये, नहीं तो बारात लौटने के उस काण्ड को देख सकूँ;

इससे पहले ही मैं यह घर छोड़कर भाग जाऊँगा, कभी न लौटने के लिए।"

वसुन्धरा देवी काँप उठीं। एक ओर बेटी की ममता, दूसरी ओर पति की मान-रक्षा, और इन सबके ऊपर पुत्र की मंगल आकांक्षा। उनके मस्तिष्क में सैकड़ों आँधियाँ चलने लगीं। सहसा मूर्च्छित हो, वह पछाड़ खा गिर पड़ीं।

अरविन्द ने उस ओर देखा तक नहीं। कहा—"बोलिये, पिताजी। आप क्या चाहते हैं? बेटी को न बेचने की अपनी टेक की रक्षा, या माँ के प्राण, मेरे जीवन की परिपूर्णता और बेटी का सुहाग!"

प्रोफेसर पुण्डरीक हार नहीं मानना चाहते थे, किन्तु परिस्थितियाँ उन्हें हार मानने को विवश कर रही थीं। जीवन-संग्राम में सदा आगे बढ़ जूझना ही सीखा था, उन्होंने, किन्तु आज उनकी इच्छा पीठ दिखाकर भाग जाने की हो रही थी। पुत्र को कर्मवीर, दृढ़व्रती और सत्यप्रतिज्ञ बनाने में कुछ उठा नहीं रखा था उन्होंने, किन्तु आज स्वयं उसका विश्वास डाँवाडोल हो रहा था। जिसके माथे पर कभी किसी ने चिन्ता की शिकन तक नहीं देखी थी, वह ही आज अपने उसी पुत्र के सामने, दोनों हाथों से मुख ढाँप फूट-फूटकर सिसकने लगे।

अपनी सबल भुजाओं के घेरे में, माँ को गोद में उठा, अरविन्द कमरे से बाहर निकल गया; कि बाद में उन्हें पश्चात्ताप न हो सके, कि पुत्र के सामने उनके मन की कमजोरी प्रकट हो गई थी।

कुँवर-कलेवे के लिये चलते समय सुधांशु ने अरविन्द का हाथ पकड़ लिया। कहा—"चलो।"

अरविन्द ने हाथ छुड़ा लिया अपना। कहा—"तुम चलो, मैं अभी आता हूँ थोड़ी देर में।"

"क्यों?"

"ऐसे ही। कुछ काम था तुम्हारे पिताजी से।"

"पिताजी से! सवेरे ही सवेरे। थोड़ी देर में कर लेना न।"

"नहीं, अभी करना है।"

"वाह रे हठी! अच्छा चलो, करो अभी। तुम्हारे संग ही चलूँगा मैं। अकेले मुझे भय लगता है।"

अरविन्द को हँसी आई। कहा—"इतने डरपोक कब से हो गये तुम?"

"जब से तुम्हारी बहन का हाथ पकड़ा।"

एकाएक अरविन्द गम्भीर हो गया। कहा—"अच्छा, अभी आता हूँ मैं। इतने तुम चलो।"

रोष-मिश्रित तिरस्कार का, कुछ ऐसा गम्भीर भाव था, उसके मुख पर कि सुधांशु सहम गया। क्या हो गया है आज, सदा के हँसमुख, चंचल, चपल इस अरविन्द को! कहा—"खड़ा हूँ मैं। हो आओ तुम पिताजी के पास। वहाँ बैठे हैं, ताऊजी के पास।"

और कुछ न कह अरविन्द तत्क्षण चला गया। सुधांशु चाहता तो उसके संग जा सकता था, किन्तु न जाने क्या सोच वह वहीं खड़ा रह गया, उसके लौटने की प्रतीक्षा में।

दान-दहेज के अतिरिक्त बीस हजार रुपये नकद लाने वाली बहू को देखने के लिये, पड़ोसियों की भीड़ उमड़ पड़ी। पुलकित गृहस्वामिनी ने अवसर पाते ही सेठजी को बुलवा भेजा। उन्हें एक एकान्त कोने में ले जाते हुए बोलीं—"कहाँ हैं रुपए, देखूँ जरा?"

पत्नी की उत्तेजना और औत्सुक्य देख गृहस्वामी हँस पड़े। कहा—"इतनी बेचैन क्यों होती हो? अब तो घर में आ ही गये।"

पत्नी ने रुष्ट होकर कहा—"दिखा दोगे तो क्या कुछ घिस जायँगे।"

सेठजी ने लाड़पूर्वक कहा—"तो नाराज क्यों होती हो, सेठानी! उठा लाओ वह कोट। उसी की जेब में रखे हैं।"

सेठानी एकदम क्रुद्ध हो उठीं। बोलीं—"क्यों बेवकूफ बना रहे हो मुझे? बीस हजार रुपए तो होते हैं पोटली-भर। वे क्या इस कोट की नन्ही-सी जेब में आ जायँगे भला। मैं भी कोई दूध-पीती नन्ही-सी बच्ची हूँ, जो मुझे यूँ बुद्धू बना रहे हो!"

सेठ रेवतीशरण जोर से हँस पड़े। कहा—"तुम सच में ही बड़ी भोली हो, सेठानी। जमाने के साथ जरा भी नहीं बदलीं तुम। जानती नहीं, पहले चलते थे चाँदी के रुपए, फिर चलने लगे कागज के नोट और अब चलते हैं चैक।"

"चैक?" सेठानी ने विस्मय से पूछा—"कैसा चैक!"

"लो देखो, अभी दिखाता हूँ।" सेठजी ने अपने कोट की जेब में से एक लिफाफा निकालते हुए कहा—"देखो, इस छोटे से कागज में कितनी शक्ति है। लाखों का कारबार किया जाता है, इसी से।"

सेठजी ने लिफाफे के अन्दर हाथ डाला, किन्तु बहुत टटोलने पर भी, एक छोटी-सी पुड़िया के अतिरिक्त और कुछ हाथ न लगा। वह अत्यन्त विस्मित हो उठे। लिफाफा वही था। उन्हें ठीक याद था, कि उसे जेब में रखने से पहले, उन्होंने चैक बाहर निकालकर, उसे भली-भाँति परख लिया था। तब से वह कोट उनकी आँखों से ओझल नहीं हुआ था, यह भी उन्हें भली-भाँति याद था।

अरविन्द ने उनके हाथ में लिफाफा दिया। उन्होंने लिफाफा खोल, चैक निकालकर देखा, अरविन्द तत्क्षण मुड़कर चला गया। लिफाफा जेब में रख, उन्होंने कोट खूँटी पर टाँग दिया। वही कोट था, वही लिफाफा। तब फिर कहाँ गया वह चैक? भूल से किसी दूसरी जेब में तो नहीं रख दिया—सोचते-सोचते उन्होंने कोट की सब जेबें उलट डालीं। किन्तु, चैक का कहीं पता न लगा।

सेठानी अधीर हो उठी थीं। बोलीं, "उलट-पुलट क्या कर रहे हो? दिखाओ न वह चैक।"

सेठजी स्वयं ही व्यग्र हो रहे थे। बोले—"दिखाऊँ क्या? कहीं मिले तभी तो

दिखाऊँ। न जाने कहाँ रख दिया है कि···”

सेठानी ने कुछ हँसकर कहा—“खा गये न धोखा! तभी कह रही थी मैं। इस पुड़िया में क्या है? हीरे, मोती?”

हाँ, इस पुड़िया में क्या है? इस लिफाफे में यह आई कहाँ से? सेठजी ने पुड़िया खोलकर देखी, तो अवाक् रह गये। उसमें थी केवल चुटकी-भर राख।

सेठजी के माथे पर बल पड़ गये। वह मानो सब-कुछ समझ गये। आँख बचाकर किसी तरह उन लोगों ने वह चैक चुरा लिया, और बदले में रख दी यह राख की पुड़िया। उनके रोम-रोम में असंख्य काँटे आ बिंधे।

पुड़िया लपेटते हुए उन्होंने गरजकर कहा—“विश्वासघाती, धोखेबाज, बेईमान! उस प्रोफेसर की दुम का इतना साहस कि मुझसे भी चालबाजी करे! ऐसा पाठ पढ़ाऊँगा बच्चू को, कि जन्म-भर याद रखेगा कि किसी सेठ से पाला पड़ा था। उसकी यह हिम्मत! बुलाना तो जरा सुधांशु को!”

सेठ की मुद्रा देख, सेठानी अत्यन्त भयभीत हो उठी थीं। वास्तव में हुआ क्या, यह वह समझ न सकी थीं। किन्तु कहीं कुछ बेईमानी अवश्य हुई है, और इसका बदला बहू से ले लेना होगा।

किन्तु, अभी तो पतिदेव पुत्र के लिए चीख-पुकार मचा रहे हैं। पहले उनकी आज्ञा का पालन करना आवश्यक है।

वह लपककर सुधांशु को बुला लाईं।

उसे देखते ही सेठजी बोल उठे—“सुधांशु, जरा एक तार तो भेज दे उस प्रोफेसर के नाम, कि फौरन पहली ट्रेन से ही यहाँ आ जायें।”

“किसलिए, पिताजी?”

“किसलिए से तुझे क्या मतलब? जो मैंने कहा वह कर डाल चुपके से।”

“ठीक है, पिताजी। किन्तु अभी घण्टे-भर पहले ही तो, हम ट्रेन से उतरे हैं, जिसमें कि कल रात ही बैठे थे, उनके घर से विदा होकर। इतने ही समय में, ऐसा क्या आवश्यक कार्य आ पड़ा, कि उन्हें यूँ बुलाना पड़ रहा है—केवल यही पूछना चाहता था मैं।”

“पूछना चाहता था, पूछना चाहता था, न जाने क्या करेगा पूछकर! आजकल के लड़कों की यही आदत तो मुझे भाती नहीं। मुझसे क्या पूछता है! जब वह आयेगा, तो पूछना उस प्रोफेसर से, कि कैसा जादू का चैक दिया था, जो रातोंरात राख में बदल गया।”

सुधांशु को हँसी आने लगी थी। किन्तु सयत्न उसे दबा, गम्भीर भाव धारण करते हुए उसने कहा—“इस जादू का रहस्य मैं जानता हूँ, पिताजी।”

“तू! तू क्या जानता है?”

“अभी बताता हूँ। परन्तु बताने से पहले मैं एक बात स्पष्ट कह देना चाहता हूँ पिताजी, कि शुभा आपकी पुत्रवधू हो चुकी है अब। अब इस घर में उसका और

मेरा स्थान बराबर है। और यदि मेरी बात सुनकर आपको क्रोध आये, तो वह क्रोध मेरे ऊपर उतारना ही उचित होगा।"

सेठजी के मन में एक नया ही सन्देह पनपने लगा—'क्या लड़के ने स्वयं ही चैक उड़ा लिया है, बहू के सिखाने पर, किन्तु···नहीं!···ऐसा कैसे हो सकता है! अभी तो इन दोनों की भेंट भी नहीं हुई होगी।' कहा—"बात दो-चार पैसे की नहीं, बीस हजार रुपये की है। और इतनी रकम उड़ाने वाले को उसके अपराध की सजा दी ही जायेगी।"

सुधांशु ने कहा—"उस चैक को आप अपना कदापि नहीं कह सकते, पिताजी, क्योंकि वह जबर्दस्ती लिया गया था। प्रोफेसर साहब से लूट का माल यदि कोई उड़ाकर ले जाये, तो आप उसे कदापि सजा नहीं दे सकते, क्योंकि आप भी उसी अपराध के अपराधी हैं। रही बीस हजार की बात, सो बीस हजार तो क्या बीस लाख की कीमत पर भी, मैं अपने ऊपर कुछ अत्याचार न होने दूँगा।"

"सुनो लड़के की बातें!" सेठानी ने हाथ मटकाकर कहा, "तेरे ऊपर अत्याचार कौन कर रहा है रे, बड़बोले! लगता है बहू ने वह चैक उड़ा लिया है; किन्तु उसे तो इस कमरे में आने का अवसर भी नहीं मिला।"

"तुम चुप रहो न।" सेठजी बिगड़कर बोले—"यदि···"

"चुप क्यों रहूँ?" सेठानी ने भी उसी तेजी से कहा, "यदि तूने ले लिये हैं वे रुपए, तो कह क्यों नहीं देता रे। आखिर तेरे लिए ही तो माँगा था उन्होंने। जैसे तेरे पास रहे, वैसे हमारे पास।"

"तुम चुप होती हो या नहीं!" सेठजी ने तीव्र गर्जना करते हुए कहा—"सीधे से कह दे, सुधांशु जो कुछ जानता है।"

"सीधे शब्द ही मुझे भी पसन्द हैं, पिताजी। लुकाछिपी करना मुझे आता नहीं।" सुधांशु ने तनकर कहा—"उस दिन रात को मैंने आपको प्रोफेसर साहब से चोरी-चोरी बातें करते देखा था। अगले दिन सवेरे मैंने अरविन्द की चिन्तित मुख-मुद्रा देखी थी···"

"यह सीधी-सी बात है," सेठजी रोषपूर्वक बोले—"तूने क्या-क्या देखा अपनी उस ससुराल में, मैं यह नहीं जानना चाहता, तू इस चैक के विषय में क्या जानता है, केवल यही पूछना चाहता हूँ।"

"ठहरिये पिताजी, अभी मेरी बात पूरी नहीं हुई। बचपन की एक बात मुझे अभी तक याद है। उस दिन मैंने आपसे रुपए माँगे थे। आपने दिये नहीं, तो मैंने आपके कोट की जेब में से निकाल लिये थे। पता चल जाने पर, आपने पीट-पीटकर मेरा कचूमर निकाल डाला था, और गरज-गरजकर कहा था—'मूर्ख, अभागे, सत्यानाशी! जानता नहीं चोरी पाप है। बड़ा होकर चोर बनेगा क्या? क्या माता-पिता के कुल में कलंक लगायेगा? नीच, पापी, बेशरम, चोरी की रकम को राख के समान समझना चाहिये, जिसका स्पर्श करने से ही तन-मन काला हो जाता है।' बचपन

का वह पाठ मैं अभी भूला नहीं हूँ, पिताजी।"

सेठजी का धैर्य सीमा पार कर चुका था। उन्होंने कड़ककर कहा—"बचपन की बातें याद करने का समय नहीं है यह। जो मैं पूछ रहा हूँ, वह बता।"

"मैं भी वही बताने का प्रयत्न कर रहा हूँ, पिताजी!" सुधांशु के स्वर में आक्रोश फूट रहा था—"मुझे उत्सुकता थी···चोरी से दिये गये उस लिफाफे को खोलकर मैंने देखा कि उसमें केवल एक कागज था, जो चीख-चीखकर कह रहा था—नीच, पाजी, मूर्ख, अभागे, तू सच में ही लज्जाहीन है। लुटेरे का बेटा है। किसी गरीब का घर लूटकर, अपने घर की दीवारों को सोने से मढ़ना चाहता है। नहीं जानता कि लूट का यह धन, पापकर्म द्वारा कमाई गई यह सम्पत्ति, तेरे सोने के घर को जलाकर राख कर देगी। किसी दुःखिया के दुःखते हृदय से इतनी आहें निकलेंगी, कि वह राख चारों दिशाओं में उड़-उड़कर तुझे अन्धा बना देगी।

"मेरे मन में आग जल रही थी, पिताजी! मुझे होश नहीं था, कि मैं क्या कर रहा हूँ। सामने ही मेज पर दियासलाई पड़ी थी। अनजाने ही मैंने दियासलाई जला ली। दूसरे ही क्षण मैंने देखा कि मेरे हाथ में थी केवल थोड़ी-सी राख। मैंने घबराकर, झटपट उसकी पुड़िया बना लिफाफे में रख दी और वहाँ से अन्यत्र खिसक गया, चुपके से।"

सेठानी स्तम्भित हो उठी थीं। रोष में आकर न जाने क्या कर बैठें सेठजी? कैसे बचायें वह अपने पुत्र को, यही सोच रही थीं वह, कि सेठजी आगे बढ़े। घबराकर वह पुत्र के सामने आ खड़ी हुईं, किन्तु पति के मुख से निकलते करुण स्वर को सुन, उन्हें विस्मय का दूसरा आघात लगा।

"बचपन का वह पाठ तू नहीं भूला था, सुधांशु, किन्तु मैं भूल गया। इसी पाप का दण्ड मिला यह मुझे, कि पिता होकर पुत्र की ताड़ना सहन करनी पड़ी। यह राख की पुड़िया ऐसी धरोहर होगी आज से, जो नित्य मुझे सुपथ पर चलने की प्रेरणा देती रहेगी।" पत्नी के हाथ से पुड़िया ले, उसे अपने माथे से लगाते हुए उन्होंने कहा।

३१

जन्म-कुण्डली

अस्त-व्यस्त बालों की लटें माथे पर बिखर आई थीं। हाथ आटे में सने थे, और कान गुसलखाने में छल-छल बहती जलधार पर लगे थे। मन-ही-मन सोच रही थी कालिन्दी—जब तक नल की धारा बह रही है, तब तक आटा गूँधना समाप्त हो ही जाना चाहिये।

पति वस्त्र पहनेंगे, तब तक चूल्हे पर से दाल की पतीली उतार उस पर तवा रख देना होगा। सामने पटरा बिछाकर, उसके निकट पानी का गिलास रख, थाली-कटोरी ठीक कर लेनी होगी।

जल का नेतृत्व मान, आटे के बिखरे-बिखरे कण मिल-मिलकर एक हो गये। हाथ जल्दी-जल्दी चल रहे थे। आँखें बार-बार पतीली पर फुदकती तश्तरी की ओर उठ-उठ जाती थीं। साँस लेने का भी अवकाश नहीं था कालिन्दी को, कि किसी ने द्वार खटखटाया—खट-खट-खट······

साथ ही छल-छल करता पानी का वह स्वर भी बन्द हो गया।

कालिन्दी ने गुँधे हुए आटे पर थाली ढक दी। पतीली नीचे उतार, चूल्हे पर तवा रखते हुए वह पुकार उठी, "शुभा! अरी, ओ शुभा···"

शुभा की गोद में नन्हा सो रहा था, नेत्र हाथ में थमी पुस्तक में गड़े थे। चाची की उस पुकार की उपेक्षा कर, उसने मन-ही-मन कहा—"आधा घण्टा तक घुटना हिलाने पर सोया है, शैतान! जरा भी हिलूँगी तो फिर घण्टे-भर कसरत करनी पड़ेगी।"

उसके नेत्र पुनः काली-काली पंक्तियों पर दौड़ने लगे थे कि चाची की पुकार फिर से कानों में गूँज उठी—"शुभा! अरी ओ शुभा!"

इस स्वर में कुछ रोष था, कुछ खीझ थी। शुभा ने पुस्तक एक ओर पटक दी।

सावधानी से नन्हे को पालने में लिटाते वह बोल उठी—"जी, अभी आई।"

पालने को एक झोंका दे, वह रसोई की ओर चली, तो राह में ही चाची के स्वर कानों में पड़ने लगे—"कानों में तेल डालकर बैठती है, नासपीटी! आध घण्टे से कोई द्वार खटखटा रहा है। इतना तक नहीं होता इससे कि···"

शुभा ने आगे नहीं सुना। दौड़कर आँगन के द्वार खोल दिये। सामने ही एक युवक खड़ा था। शुभा एकाएक सकपका गई—उसकी कल्पना का साथी, सजीव देह

धर, सम्मुख मूर्त्तिमान हो उठा है क्या !

भोला-भाला-सा मुख, प्रशान्त गम्भीर नेत्र, सिल्क का कुरता, मक्खन-सी स्वच्छ श्वेत धोती; और उसके कण्ठ से जो स्वर फूटा, वह भी था उतना ही मधुर, उतना ही प्रशान्त—"आपके पिताजी हैं ?"

कल्पना के संसार में विचर रही थी शुभा। एकाएक धरती को छू न सकी। बोली—"जी नहीं।"

पल-भर, केवल एक पल युवक ने उसे देखा और मुड़कर लौट चला।

शुभा मानो आसमान से धरती पर आ गिरी। एकदम से बोल उठी—"सुनिये।"

युवक के पैर ठिठक गये, पर उसने मुड़कर न देखा।

शुभा ने पूछा, "किसे चाहते हैं आप !"

"वकील साहब को।"

"ओह ! वह तो हैं। आइये, अन्दर आइये।" शुभा ने कहा। फिर मानो अपने पूर्व कथन की सफाई देते हुए बोली—"वह मेरे चाचा हैं।"

युवक ने उसकी बात सुनी या नहीं, सुनकर समझी या नहीं, यह शुभा समझ न सकी। पीछे मुड़कर देखने की इच्छा होते हुए भी, वह पीछे मुड़कर देख न सकी।

रसोई के सम्मुख पहुँचे वे दोनों तो विस्मित-सी कालिन्दी आनन्दित हो पुकार उठी, "अरे, अतुल, तू ! आ, बेटा, आ। सरस्वती दीदी अच्छी तो हैं न ? तेरी पढ़ाई कैसी चल रही है, रे ? परीक्षा कब से होंगी ?"

अतुल ने संकोच-भरे स्वर में कहा—"गाँव से मामा आये हैं। माँ ने कहा है कि यदि चाचाजी को फुरसत मिले तो एक बार उधर आ जायें। कुछ सलाह-मशविरा करना है।"

मुख का कौर कण्ठ के नीचे उतार रेवतीशरण झटपट बोल उठे—"अवश्य, बेटा, अवश्य। अपनी माँ से कह देना, सन्ध्या को कचहरी से लौटते समय मैं पहले उधर ही आऊँगा।"

एक फिसलती-सी दृष्टि, समीप खड़ी आनतमुखी किशोरी के मुख पर डाल, दोनों हाथ जोड़ प्रणाम करते हुए अतुल झट से खिसक गया।

रेवती बाबू खा चुके थे। चकला-बेलन छोड़ कालिन्दी उठ खड़ी हुई।

शुभा ने झटपट चार पटरे पास-पास बिछा दिये। पानी के गिलास भर-भर कर रखे। तब तक कोलाहल मचाते सब बच्चे आ पहुँचे।

रोटी बनाने, खिलाने, परसने में शुभा उस युवक को भूल-सी गई। खा-पीकर, अपने-अपने बस्ते सँभाल, सब बच्चे स्कूल भाग गये। अकेली रह गई शुभा, तो वह सौम्य मुखड़ा पुनः उसके नयनों के आगे झूल उठा। खोई-खोई-सी बैठी थी कि सुरेश ने चुपके से आकर उसके कान में कू-ऊ-ऊ कर दिया।

शुभा चौंक उठी। भाई के शरारत-भरे मुख पर दृष्टि पड़ते ही वह मुसकरा उठी।

सुरेश ने पटरे पर बैठते हुए कहा—"मालूम होता है आज भूखे ही कालेज जाना पड़ेगा।"

चटपट कटोरी में दाल परसते हुए, शुभा ने बनावटी रोष से कहा—"एक दिन भूखे भी चले जाओगे, तो क्या?"

सुरेश ने हँसकर कहा—"भूखे रहने को हम तैयार हैं। परन्तु यह तो पता चले कि किसके सम्मान में हमें भूख-भवानी का आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा। उस 'परिणीता' 'ललिता' का 'शेखर' लौट आया है, या 'आँख की किरकिरी' को उसका खोया 'बिहारी' आ मिला है?"

शुभा ने चिढ़कर कहा—"दिल्लगी के सिवा, तुम्हें कभी कुछ और भी सूझता है, भैया! इधर तीन दिन से तुमने मुझे एक भी अक्षर नहीं पढ़ाया है। अच्छा है, फेल हो जाऊँगी, तब बैठकर कोसना मुझको!"

सुरेश ने अनुतप्त होकर कहा—"सच, याद नहीं रहा, बहन! परन्तु तू भी तो पढ़ने की चोर है! क्यों नहीं स्वयं ही आकर याद दिला दिया तूने?"

"हाँ! मैं आकर याद दिलाऊँगी! न-जाने कौन-कौन तो भरे रहते हैं, हर समय तुम्हारे कमरे में!"

"भरे रहते हैं तो क्या? खा जायेंगे वे तुझे? हे राम! माँ ने तुझे कैसी छुई-मुई बना डाला है! जानती है, विदेश में तुझ-जितनी बड़ी लड़कियाँ मिलों और फैक्टरियों में तरह-तरह के काम करती हैं? एक तू है कि कभी अकेली सड़क पर भी नहीं निकल सकती!"

"तुम्हारे देश की सड़कें इस योग्य हैं न, कि लड़कियाँ अकेली घूम सकें! जहाँ आँचल का छोर दिखा नहीं कि सीटियाँ बजने लगीं; आवाजें कसी जाने लगीं। अपने को फैशनेबिल समझने वाले ये मनचले छोकरे यह क्यों भूल जाते हैं कि उनके घर में भी माँ हैं, बहनें हैं।" सरोष कहा शुभा ने।

"माँ और बहनें तड़ से उनके गाल पर तमाचा जड़कर, उन्हें यह बात स्मरण क्यों नहीं दिला देतीं? अँग्रेज लड़कियों पर क्यों नहीं कसी जातीं आवाजें? अपने ही आँचल में सिकुड़कर, गालों पर लज्जा की लाली बिखरा और अपने संग चलने वाले संरक्षक की छाया में छिपकर, वे स्वयं ही तो इन सीटियों को आमंत्रण देती हैं।" सुरेश को भी क्रोध आ गया था।

तभी कालिन्दी ने चौके में झाँककर देखा। कहा, "खाने की थाली सामने रखकर बैठा बातें बना रहा है! झटपट खाकर कालिज क्यों नहीं जाता तू?"

विवाद भूल, शुभा सिर नीचा कर रोटी बेलने लगी। माँ चली गई तो सुरेश ने थाली खिसका दी।

विस्मित शुभा ने दृष्टि उठाकर देखा, मानो पूछ रही हो—"क्यों? खाओगे नहीं!"

उस अव्यक्त प्रश्न के उत्तर में सुरेश उठ खड़ा हुआ। धीमे स्वर में कहा, "जिस देश में भाई-बहनों को भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है, उस देश की सन्तानों के चरित्र का विकास होना नितान्त असम्भव है।"

धम-धम पैर पटकते हुए सुरेश चला गया। आँचल में मुख छिपाकर शुभा फूट-फूटकर रो दी।

परीक्षा के दिन सिर पर आ रहे थे। केवल बैठकर रोने से ही काम नहीं चल सकता था। झटपट शेष रोटियाँ सेंककर, शुभा ने खाने का सामान जाली में बन्द कर दिया। बर्तन सब नल के नीचे खिसका दिये और रसोई की कुण्डी चढ़ा अपनी कोठरी में आ बैठी।

एकाग्र-चित्त हो वह कुछ देर पढ़ लेना चाहती थी, कि कालिन्दी आ खड़ी हुई सामने। बोली, "फिर किताबों में आ घुसी! चल, पहले खाना खा ले। फिर जरा चुन्नी का वह फ्राक पूरा कर डालना। मेरे सिर में दर्द हो रहा है।"

शुभा ने कहा, "मुझे भूख नहीं है, चाची। अभी कुछ देर पढ़ लूँ। फ्राक शाम को बैठकर पूरा कर दूँगी।"

चाची ने तीखे स्वर में कहा, "तू बोलती बहुत है, शुभा! यह तेरी पढ़ाई तो दिन-रात चलती ही रहती है। कभी तो घर के काम में हाथ बँटा दिया कर।"

एक तीखा उत्तर शुभा के कण्ठ से आ टकराया। उसकी जलन से उसके नयनों में नीर छलछला आया। बोली, "परीक्षा आरम्भ होने में केवल महीना-भर ही शेष है, चाची। मैं विनती करती हूँ, इस समय मुझे पढ़ लेने दो। शाम को फ्राक अवश्य सीकर तैयार कर दूँगी।"

"न-जाने क्या करेगी इतना पढ़कर! मुहल्ले में और भी कोई लड़की है, जिसने मैट्रिक के बाद आगे भी पढ़ा हो? पर तुझे तो मानो पढ़ने का रोग है। अच्छा तो देख, मैं जरा सरस्वती दीदी के घर जा रही हूँ। आँगन की कुण्डी चढ़ा ले; और मुन्ना यदि रोये तो उठा लेना उसे। कहीं ऐसा न हो कि तू पढ़ाई में भूली रहे और वह पालने में पड़ा रोता रहे।"

यंत्रचालित-सी शुभा उठी और आँगन बन्द कर लौट आई, किन्तु पढ़ने का उसका उत्साह तिरोहित हो चुका था—सच तो है! क्या करेगी इतना पढ़कर? चाचा-चाची ने उसके जीवन का जो लक्ष्य निर्धारित कर दिया है, उसके आगे उसके अपने लक्ष्य का क्या मूल्य है? कुछ भी तो नहीं।

उसका विवाह होगा। आज नहीं तो कल, उसे किसी-न-किसी गृहस्थ के घर में बाँध दिया जायेगा।

फिर रखी रह जायेगी यह एम. ए. की डिग्री। पी-एच. डी. की वह साधना!

चूल्हे-चक्की में फँसकर, सास-ननदों के ताने सुन-सुनकर, हारे-थके पति के कड़वे बोल पी-पीकर ही जीवन के शेष दिन कट जायेंगे।

न-जाने कैसी एक क्लान्ति का भाव भर गया था शुभा के मन में। तकिये पर सिर रख उसने चाहा कि रो दे। रो-रोकर मन के इस भार को हलका कर डाले। परन्तु अश्रु भी तो रूठकर न-जाने कहाँ खो गये थे। उनके स्थान पर नयनों में आ झूली थीं—पुरानी स्मृतियाँ··

यदि उन्हें स्मृतियाँ कहा जा सके, तो ?

चाची के मुख से ही उसने सुना था कि सबकी तरह उसकी भी माँ थी एक, जो उसको जन्म देते ही मृत्यु की गोद में सो गई थी।

उसके पिता भी थे कभी, जो अपनी दस महीने की अबोध बिटिया के लिये चालीस हजार की इंश्योरेंस और एक पक्का मकान छोड़, अपनी पत्नी से जा मिले थे।

चालीस हजार रुपए की स्वामिनि है वह, और एक पक्के मकान की मालकिन। रूप और गुण का भी अभाव नहीं है। फिर भी जो आज तक उसका विवाह नहीं हो सका है, वह केवल इसी कारण कि शिक्षा प्राप्त करने की उसकी इच्छा अभी तक पूरी नहीं हो पाई है।

मकानों के इस दुष्काल में, उस विशाल भवन पर अधिकार जमाये बैठीं चाची भी, केवल जब-तब, उसके विवाह की कुछ चर्चा करके ही चुप रह जाती हैं। मुख से वह भले ही न कहें परन्तु मन-ही-मन वह खूब जानती हैं कि इस नन्ही-सी शुभा के घर में रहने से, उन्हें कितना आराम है।

अपने आठ बच्चों का सारा काम करना तो दूर, वह कभी किसी एक का मुख तक नहीं धो सकतीं। खिलाने, सुलाने, नहलाने का सारा भार शुभा को सौंप वह पूर्णतः निश्चिन्त हो गई हैं।

बस, केवल एक ओर से ही वह निश्चिन्त नहीं हो सकी हैं—और वह है शुभा का आचरण, उसकी पूरी देख-रेख।

तेरह वर्ष की अवस्था में ही शुभा ने मैट्रिक पास कर लिया था। तभी से उन्होंने उसे घर की सीमाओं में बाँध दिया है। वर्ष में केवल एक बार जब कि वह परीक्षा देने जाती है, वह वकील साहब को विवश कर देती हैं कि वह स्वयं उसे परीक्षा-भवन में छोड़ आयें और वापस ले आयें।

आज के इस प्रगतिशील युग में, जबकि अधिकांश नगरों की महिलाएँ हँसती-खिलखिलाती नगर की सभी संस्थाओं और उत्सव-महोत्सवों में भाग लेती हैं; वह अपने घर की दीवारों में बन्द पड़ी रहती है। भाई-बहनों को छोड़, उसका कोई भी संगी-साथी नहीं। हैं तो केवल वे प्रौढ़ महिलाएँ जो जब-तब उसकी चाची के पास आ बैठती हैं, और पर-निन्दा करने में अपने समय की सद्गति किया करती हैं।

सोचने का अवकाश मिल पाता है कभी, तो शुभा आँखों पर हाथ रखकर सोचने लगती है, कि आखिर क्यों हुआ उसका जन्म ? किसलिए ? क्यों भगवान् ने उसकी देह और मन की रचना की ?

यदि वह न होती तो चाची को वे चालीस हजार रुपए मिल जाते, जिन्हें पाने को वह सदा लालायित रहती हैं, परन्तु चाचा के भय से जिनके विषय में वह बोल तक नहीं पातीं। वह मकान मिल जाता चाची को, जिसके न होने की आशंका से ही, वह पड़ोसिनों के ताने सहन करके भी उसके विवाह के प्रति कुछ विशेष उत्सुकता नहीं दिखातीं···और···और···यदि वह न होती तो सुरेश का जीवन भी अपने ही घर में यों दूभर न हो उठता।

क्या करेगी वह उन रुपयों का ? इस मकान का ? उस धन के लोभ में कोई लोभी भँवरा फँस जायेगा। वह रुपया उस गृहस्थ की बहनों के विवाह में लग जायेगा। शुभा को कब मिली इतनी स्वतन्त्रता या कब मिल सकेगी कि वह उसमें से एक पैसा भी इच्छानुसार खर्च कर सके !

*　　　*　　　*

किसी ने द्वार खटखटाया। विचारों की लड़ी टूट गई। शुभा उठ बैठी।

शिथिल डगों से वह जलते-तपते आँगन की ओर बढ़ गई। द्वार खोलने पर सुरेश को सम्मुख खड़ा देख, सिर पर आँचल ढाँक, वह एक ओर को खिसक गई।

सुरेश ने हाथ बढ़ा उसके सिर पर से धोती खींच ली। कहा, "मेरे सामने तुम्हें दादी माँ बनने की जरूरत नहीं, बहन। मुझे तो तुम्हारे काले बालों भरा यह सिर ही अच्छा लगता है।"

शुभा ने सुरेश के हाथ से पुस्तकें छीन लीं। बोली, "तो जब मैं बूढ़ी हो जाऊँगी, मेरे सिर के ये बाल सफेद हो जायेंगे, तब तुम मुझे प्यार करना छोड़ दोगे ?"

सुरेश ने हाथ बढ़ा उसकी पीठ पर झूलती हुई दोनों चोटियाँ खींच लीं। कहा, "तब तक तो मेरे सिर के बाल भी सफेद हो जायेंगे न। अच्छा, चल, झटपट खाने को दे, बड़ी भूख लगी है।"

हाथ-मुँह धोकर आया चौके में, तो एक थाली देख, सुरेश ने विस्मित होकर कहा, "यह क्या ! तेरा खाना कहाँ है ?"

"मैं···मैं तो···"

सुरेश ने उसे बात पूरी नहीं करने दी। खीझकर कहा, "मैं तो···क्या ! क्या तेरी समझ में मुझे मालूम नहीं कि तू भूखी ही बैठी होगी ! झटपट परस अपनी भी थाली, नहीं तो मैं भी छोड़कर उठ जाऊँगा।"

हँसती हुई शुभा ने बर्तनों की ओर जाते हुए कहा, "भोजन पर क्रोध उतारने में बड़े तेज हो तुम। भाभी आयेगी जब, तो उस बेचारी की तो मुसीबत ही आ जायेगी !"

परन्तु सुरेश ने उसकी बात सुनी ही नहीं। क्रुद्ध हो बोल उठा, "यह क्या ! थाली माँजेंगी अब आप ? जी नहीं, इतनी प्रतीक्षा करना मेरे वश की बात नहीं। आइये, आज मेरे साथ ही खा लीजिये।"

उसे असमंजस करते देख, सुरेश ने उठकर हाथ पकड़कर खींचते हुए, उसे

अपने समीप ला बैठाया। कहा, "सच है, माँ का डर ही ऐसा है कि उनकी अनुपस्थिति में भी तू कोमल पत्ते-सी काँपती रहती है।"

शुभा को मुसकराते देख, वह स्वयं खिलखिलाकर हँस पड़ा। रोटी का कौर मुख में रखते हुए कहा, "अच्छा, शुभा, एक बात कहूँ। पर पहले तू वादा कर कि उठकर नहीं भागेगी।"

शुभा ने कनखियों से भाई के मुख की ओर देखा। न जाने यह नटखट क्या कह बैठे! बोली, "तुम्हारी यही बातें सुन-सुनकर तो माँ नाराज होती हैं।"

"होने दो नाराज!" सुरेश लापरवाही से बोला, "उनकी नाराजगी के डर से तेरी तरह, मैं हँसना तो छोड़ नहीं सकता। अच्छा सुन, आज सुबह मैंने तुझे 'ललिता' और 'शेखर' का नाम लेकर चिढ़ाया था, वह यूँ अकारण ही नहीं।"

शुभा ने भी लापरवाही से कहा, "चिढ़ाते रहो, क्या मैं चिढ़ती हूँ!"

सुरेश ने गम्भीर होते हुए कहा, "मैं सच कहता हूँ, शुभा, हमारे पड़ोस में भी एक 'शेखर' बसता है, जिसकी 'ललिता' को पता ही नहीं कि वह उस पर अपने प्राण तक न्योछावर कर देने को प्रस्तुत है। जानती है, वह 'ललिता' कौन है?"

शुभा ने भोलेपन से अस्वीकृति में सिर हिला दिया।

सुरेश ने उसका आँचल अपनी मुट्ठी में कसकर पकड़ते हुए कहा, "तू स्वयं।"

शुभा का मुख आरक्त हो उठा। उसने उठकर भागना चाहा, पर भाग न सकी। बोली, "हटो, भैया! मुझे तुम्हारी बातें अच्छी नहीं लगतीं।"

"अच्छा, तब जिसकी बातें अच्छी लगेंगी, आज सन्ध्या को उसे ही बुला लाऊँगा।"

शुभा ने सिर झटककर कहा, "बड़े आये बुलाने वाले! चाची ने तुम दोनों को ही घर से न निकाल दिया तो कहना।"

सुरेश ने गम्भीरता का नाट्य करते हुए कहा, "माँ भले ही तेरी ओर से बेखबर हो जायें, पर मैं तो नहीं हो सकता। देखता हूँ, नारद मुनि बनकर, तेरे दूल्हे को तुझसे ला मिलाने का काम मुझको ही करना होगा।"

रोष भूल शुभा हँसने लगी। बैठकर खाने में मन लगाते हुए बोली, "यह क्यों नहीं कहते कि मेरा घर में रहना, अब भार लगने लगा है तुम्हें।"

सुरेश ने उसके गाल पर हलके-से एक चपत जड़ दिया। कहा, "मोर के बिना मयूरी शोभा नहीं देती, पगली। ऐसा अच्छा दूल्हा खोजा है मैंने तेरे लिये कि तू सात जन्म बैठकर भैया के गुण गायेगी। छः वर्ष से वह मन-ही-मन केवल तेरी ही आराधना कर रहा है, समझी!"

हँसते नयन ऊपर उठा, शरारत से कहा शुभा ने, "ऐसा कौन विरही यक्ष अवतीर्ण हो गया कलियुग में, इस धरती पर?

सुरेश ने आनन्दपूर्वक सिर हिलाते हुए कहा, "न, बताऊँगा नहीं। सामने आकर खड़ा हो जायेगा, तो तू स्वयं ही समझ··"

पहले भी वह ट्यूशन पढ़ी थी, परन्तु सदा उसे अध्यापिकाओं ने ही पढ़ाया था।

मन में लाज थी, परन्तु कौतूहल भी कम न था—भैया ने जो-कुछ कहा था, वह सच था, या निरा परिहास?

छिपी-छिपी नजरों से उसने देखा—युवक की दृष्टि मेज के कोने पर गड़ी हुई थी। शुभा के अधरों पर हास झलमला उठा। पुस्तक एक स्थान पर से खोलते हुए उसकी ओर खिसकाकर बोली, "पढ़ाइये।"

अतुल ने पुस्तक अपनी ओर खींच ली। कहा, "देखिये, पढ़ाई प्रारम्भ करने से पूर्व, मैं आपसे दो-एक प्रश्न पूछ लेना चाहता हूँ—बी० ए० में आपने कौन-कौन से विषय लिये थे?"

"देखिये, मैं भी आपसे एक बात कह देना चाहती हूँ, आज तक मैं भी बहुत-सी अध्यापिकाओं से पढ़ चुकी हूँ। सभी ने सदा मुझे तुम कहकर ही पुकारा है, और तनिक-सी भी भूल हो जाने पर जो भरकर धमकाया है।"

एकाएक अतुल की दृष्टि उठी और शुभा के मुख पर स्थिर हो गई। शुभा के नयनों में शरारत झलक रही थी। उसने अपनी दृष्टि झुका ली।

हठात् अतुल हँस पड़ा। कहा, "शुभा, तुम्हें तुम कहने में मुझे भी कुछ संकोच नहीं, क्योंकि मैं तुम्हें आज से नहीं, वर्षों पहले से जानता हूँ। उस दिन प्रथम बार जब मैंने तुम्हें देखा, तुमने हलके आसमानी रंग का फ्राक पहन रखा था, तुम्हारे बालों में बँधा रिबन कुछ ढीला हो गया था, और घुँघराले बाल उड़-उड़कर तुम्हारे माथे पर आ रहे थे, तुम्हारे पैरों में......"

सहसा किसी हाथ ने अतुल का मुख बन्द कर दिया।

शुभा और अतुल दोनों ने ही चौंककर सिर उठाया—देखा कि अतुल के पीछे खड़ा सुरेश मन्द-मन्द मुसकरा रहा है।

सुरेश घूमकर शुभा के समीप आ खड़ा हुआ। मेज पर दोनों कोहनियाँ टिका उसने मुसकराकर कहा, "यह पढ़ाने का समय है, मित्र। कविता सुनाने का नहीं।"

मित्र के नेत्रों में नेत्र डाल, अतुल मुसकरा उठा। शुभा का जो थोड़ा-सा संकोच भाग गया था, वह पुनः लौट आया।

वहाँ से हट, सुरेश अपने पढ़ने की मेज पर जा बैठा। शुभा की पढ़ाई भी प्रारम्भ हो गई।

रात को शुभा सुरेश को दूध देने गई। पुस्तक पर से दृष्टि उठाये बिना ही सुरेश ने पूछा, "कहो, शुभा?"

समझकर भी अनजान-सी वह बोली, "क्या?"

पुस्तक बन्द कर सुरेश ने अँगड़ाई ली। कहा, "सुनना चाहती हो, मेरे मुँह से?"

"नहीं।" शुभा ने कहा और उसके सामने मेज पर दूध का गिलास रख झट से भाग गई।

पहले भी वह ट्यूशन पढ़ी थी, परन्तु सदा उसे अध्यापिकाओं ने ही पढ़ाया था।

मन में लाज थी, परन्तु कौतूहल भी कम न था—भैया ने जो-कुछ कहा था, वह सच था, या निरा परिहास?

छिपी-छिपी नजरों से उसने देखा—युवक की दृष्टि मेज के कोने पर गड़ी हुई थी। शुभा के अधरों पर हास झलमला उठा। पुस्तक एक स्थान पर से खोलते हुए उसकी ओर खिसकाकर बोली, "पढ़ाइये।"

अतुल ने पुस्तक अपनी ओर खींच ली। कहा, "देखिये, पढ़ाई प्रारम्भ करने से पूर्व, मैं आपसे दो-एक प्रश्न पूछ लेना चाहता हूँ—बी० ए० में आपने कौन-कौन से विषय लिये थे?"

"देखिये, मैं भी आपसे एक बात कह देना चाहती हूँ, आज तक मैं भी बहुत-सी अध्यापिकाओं से पढ़ चुकी हूँ। सभी ने सदा मुझे तुम कहकर ही पुकारा है, और तनिक-सी भी भूल हो जाने पर जी भरकर धमकाया है।"

एकाएक अतुल की दृष्टि उठी और शुभा के मुख पर स्थिर हो गई। शुभा के नयनों में शरारत झलक रही थी। उसने अपनी दृष्टि झुका ली।

हठात् अतुल हँस पड़ा। कहा, "शुभा, तुम्हें तुम कहने में मुझे भी कुछ संकोच नहीं, क्योंकि मैं तुम्हें आज से नहीं, वर्षों पहले से जानता हूँ। उस दिन प्रथम बार जब मैंने तुम्हें देखा, तुमने हलके आसमानी रंग का फ्राक पहन रखा था, तुम्हारे बालों में बँधा रिबन कुछ ढीला हो गया था, और घुँघराले बाल उड़-उड़कर तुम्हारे माथे पर आ रहे थे, तुम्हारे पैरों में......"

सहसा किसी हाथ ने अतुल का मुख बन्द कर दिया।

शुभा और अतुल दोनों ने ही चौंककर सिर उठाया—देखा कि अतुल के पीछे खड़ा सुरेश मन्द-मन्द मुसकरा रहा है।

सुरेश घूमकर शुभा के समीप आ खड़ा हुआ। मेज पर दोनों कोहनियाँ टिका उसने मुसकराकर कहा, "यह पढ़ाने का समय है, मित्र। कविता सुनाने का नहीं।"

मित्र के नेत्रों में नेत्र डाल, अतुल मुसकरा उठा। शुभा का जो थोड़ा-सा संकोच भाग गया था, वह पुनः लौट आया।

वहाँ से हट, सुरेश अपने पढ़ने की मेज पर जा बैठा। शुभा की पढ़ाई भी प्रारम्भ हो गई।

रात को शुभा सुरेश को दूध देने गई। पुस्तक पर से दृष्टि उठाये बिना ही सुरेश ने पूछा, "कहो, शुभा?"

समझकर भी अनजान-सी वह बोली, "क्या?"

पुस्तक बन्द कर सुरेश ने अँगड़ाई ली। कहा, "सुनना चाहती हो, मेरे मुँह से?"

"नहीं।" शुभा ने कहा और उसके सामने मेज पर दूध का गिलास रख झट से भाग गई।

मन में न-जाने कैसा एक अज्ञात, अव्यक्त-सा संगीत भर उठा, चाल में नृत्य की-सी थिरकन आ समाई। अधरों पर अनजाने गीत उमड़ने लगे, सोते-जागते स्वप्न दीखने लगे किसी के। नयनों में उसकी ध्वनि आ समाई। कानों में गूँजने लगे, उसके मधुर बोल। अन्तर जो आलोड़ित हो उठा तो धरती स्वर्ग का रूप रच आई।

कालिन्दी की अनुभवी आँखों से शुभा के ये भाव छिप न सके। कपाल पर हाथ मार उन्होंने अपनी किस्मत को ठोक लिया। कहा वकील साहब से, "और लगाओ मास्टर ! घर से भागकर उसने नाक न कटवा दी तुम्हारी, तो मेरा नाम कालिन्दी नहीं !"

उन्होंने विस्मित हो पूछा, "कौन ! कौन भाग रहा है घर से !"

"वही, तुम्हारी लाड़ली बिटिया शुभा और कौन !"

"भाग रही है ! कब ! मैंने तो नहीं सुना !"

"हाय रे भाग्य !" पति की निर्बुद्धिता पर कालिन्दी ने माथा ठोक लिया, "भागेगी तो जैसे तुमसे कहकर ही ! देख नहीं रहे हो उसके लच्छन ! इस अतुल का घर में आना बन्द कर दो, नहीं तो···"

"ओह !" वकील साहब मानो सोते-से जागे, "अतुल और शुभा की बात कह रही हो तुम ? क्या उसने तुमसे कहा है कि वह अतुल से विवाह करना चाहती है !"

पति की बात सुन, कालिन्दी का धैर्य टूट-टूट, सहन-शक्ति की सीमा पार कर जाता है। बिगड़कर बोलीं, "मुझसे कहेगी ? सुनने से पहले जबान नहीं काटकर फेंक दूँगी उसकी !"

"अरे ! अरे ! तो इसमें इतना रुष्ट होने की क्या बात है ! उसे इतना अवसर ही क्यों दिया जाये कि वह भाग सके। इससे पहले ही विवाह कर दो न झटपट उसका।"

"यह भी मानो हँसी-खेल है ! सुनूँ तो सही कि तुमने उसके लिये कौन-सा लड़का खोज रखा है कि मैं चटपट विवाह रचा दूँ उसका !"

"अतुल।"

कालिन्दी को सहसा अपने कानों पर विश्वास न हुआ, "अतुल ?"

"हाँ, वही। तुम्हारी सखी का बेटा।" रेवती बाबू ने शान्त स्वर में कहा।

"सखी है तो क्या !" कालिन्दी ने बिगड़कर कहा, "उसके घर चक्की पीसने भेज दूँ अपनी बेटी को ? न घर है न बार। जब जमींदार था, तब था। अब न जमींदारी है, न वे उसके मालिक। विधवा का बेटा ! ट्यूशन कर-करके तो किसी तरह उसने अपनी पढ़ाई पूरी की है, और···"

"देखो, कालिन्दी," वकील साहब ने दृढ़ स्वर में कहा, "ट्यूशन करके भी यदि वह इंजीनियर बन गया है, तो यह उसकी योग्यता का प्रमाण है, न कि अयोग्यता का। रही और बातें, सो यदि उन दोनों ने एक दूसरे को पसन्द कर लिया है, तो

उन सब बातों का कुछ मूल्य नहीं।"

कालिन्दी ने तिनके का सहारा थामते हुए कहा, "और यदि सरस्वती न मानी तो ?"

"चिराग लेकर खोजेगी सरस्वती, तब भी उसे शुभा-सी वधु न मिलेगी। और वह मना कर ही कैसे सकती है! अब वह हमारा-तुम्हारा जमाना नहीं रहा, जब नाई-पुरोहित रिश्ता तय कर आते थे और लड़का-लड़की सिर झुका मण्डप में बैठ जाते थे। अतुल के विषय में जो-कुछ मैंने सुना है, यदि वह सच है, तो इकलौते बेटे की बात के आगे सरस्वती बोल भी न सकेगी।"

व्यावहारिक जगत् में पति की सफलता के इतने प्रत्यक्ष प्रमाण थे कि और कुछ न कह कालिन्दी चुप रह गई। मौन मुख अपनी सम्मति प्रकट कर वह वहाँ से उठ आई। रेवती बाबू के मन पर से भारी भार उतर गया। उन्हें विश्वास नहीं था कि वह ऐसे सहज में पत्नी को मना सकेंगे।

* * *

सन्ध्या बीत रही थी। शुभा की उत्कण्ठा का पार न था। अभी कुछ देर पहले सुरेश आया था। चुपके से शुभा के कान में उसने कुछ कहा था तो शुभा ने लजाकर अपना मुख अपने दोनों हाथों में छिपा लिया था। हँसते हुए, एक बार उसकी दोनों चोटियाँ खींचकर ही वह भाग गया था।

तभी से शुभा व्याकुल थी। विवश-सी वह कभी बैठ जाती, कभी जाकर खिड़की के सामने खड़ी हो जाती। खिड़की, जिसकी सलाखों के बीच में से हाथ डाल, सामने खड़ी बीस फुट ऊँची दीवार को छुआ जा सकता था, या दृष्टि नीची कर बीच में बहती गन्दी नाली की सुन्दरता को परखा जा सकता।

फिर भी निष्क्रिय बैठे रहने की अपेक्षा, उन सलाखों को पकड़कर खड़े रहना कहीं अधिक अच्छा था। अपने दौड़ते-भागते विचारों को भी वह इसी मजबूती से थाम लेना चाहती थी···किन्तु वे वश में ही नहीं आ रहे थे।

आज··

हाँ, आज उसके भाग्य का निपटारा होने वाला था।

फैसला उसके मन के अनुकूल ही होगा, इसमें उसे तनिक भी सन्देह नहीं था।

फिर भी उसके मन में द्वन्द था, आकुलता थी।

विश्वास और अविश्वास के भँवर में डूब-डूबकर वह छटपटा रही थी।

अतुल का घर अधिक दूर नहीं, और सुरेश को गये घण्टे-भर से भी अधिक हो गया—शुभा के कान आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे, उन लौटते कदमों की।

बाहर भारी बूटों की चाप सुनाई दी।

ओह! अब भैया आकर चिढ़ायेगा, खिझायेगा! दोनों हाथों से मुख ढाँप, तकिये में मुख गड़ा लिया शुभा ने।

पग-ध्वनि सिरहाने आकर रुक गई।

शुभा का हृदय जोर-जोर से धड़कने लगा।

कि एकाएक एक गरम-गरम बूँद उसकी गर्दन पर आ गिरी।

चौंककर शुभा ने सिर उठाया। देखा कि सुरेश की दोनों आँखें भरे ताल-सी छलछला रही हैं।

"भैया!" विस्मित-सी बोल उठी शुभा।

उसके सामने एक पत्र डाल लड़खड़ाते कदमों से सुरेश बाहर निकल गया।

काँपते हाथों से शुभा ने लिफाफा खोलकर देखा—पत्र? अतुल का? शुभा के नाम?

"शुभा! नहीं, क्या कहकर पुकारूँ आज मैं तुम्हें, मैं समझ नहीं पाता। आज तुम्हारा नाम लेना भी मेरे लिये अपराध हो चुका है। आज मैं विवश हूँ। हृदय को शरीर से बाहर निकालना सम्भव होता, तो उसे टुकड़े-टुकड़े कर, मैं माँ के चरणों पर डाल देता। शायद तब वह जान पातीं कि मेरे साथ वह कितना बड़ा अन्याय कर रही हैं।

"फिर भी वह मेरी माँ हैं। इस विश्व में मेरे अतिरिक्त उनका और कोई नहीं। उनकी प्रसन्नता के आगे मेरे प्राणों का तनिक भी मूल्य नहीं। उनके अन्धविश्वास को पूर्ण करने के लिये मुझे अपने सुख की, तुम्हारे सौभाग्य की, अपने जीवन की, प्राणों की बलि देनी ही होगी।

"जो न कहने की बात है, जो कभी सोचा भी नहीं था, वही आज मैं तुमसे कैसे कह दूँ, शुभा!

"फिर भी कहे विना निस्तार नहीं।

"उस मूर्ख ज्योतिषी ने कह दिया माँ से कि हमारी-तुम्हारी जन्म-कुण्डली मेल नहीं खाती···और···और···ढकेल दिया उसने मुझे एक ऐसे संसार में, जहाँ अन्धकार, निराशा और पीड़ा के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं···रौरव नरक से भी बढ़कर भयानक है जो···

"विदा, विदा, शु···भे···

अभागा,
अतुल।"

शुभा का माथा खट से धरती से जा टकराया।

भग्न-स्वप्न

अँधेरा ही अँधेरा ! चारों ओर अँधेरा ! प्रकृति में ही नहीं, तन में भी, मन में भी, देह की रग-रग में, हृदय के कोने-कोने में, कैसा अन्धकार व्याप गया है यह, कि दिशा का भान नहीं रहा !

रोना चाहे पर रो न सके, हँसना चाहे पर हँस न सके। कुछ ऐसी ही दशा हो उठी थी श्रीधर की। पहले कभी नहीं लगा था उसे कि वह इतना अकेला है, कि अपने मन की प्रफुल्लता के लिये, वह दूसरों पर इतना निर्भर है, इतना आश्रित है।

क्लब जा नहीं सकता, क्योंकि वहाँ घुसते ही अरुणा याद आती है। घर में मन नहीं लगता क्योंकि माँ का अभाव खटकता है, वातावरण में बहन की हास-भरी किलकारियों का अभाव गूँज-गूँज उठता है। काम में चित्त नहीं जमता, खेल में मन नहीं लगता, सूनी-सूनी शामें काटे नहीं कटतीं, पिछली स्मृतियाँ आलोड़ित हो-हो, हृदय में नित नये घाव कर जाती हैं।

कालिज के वे दिन ! अरुणा का वह परिहास-भरा चंचल मुखड़ा !

बहन के व्यंग्य—माँ के आँसू—पिता का दुर्दमनीय क्रोध और···और अरुणा का विवाह !

मधुर रात्रि की वह सूनी-सूनी रात—उदास, विमन, सम्पूर्ण विश्व से रुष्ट, शुष्क श्रीधर और बन्द द्वार की सन्धि से लहराता आता, किसी का मृदु, सुकोमल वीणा-विनिन्दित स्वर—'चलो भाभी, चलो, बड़ी नींद आ रही है मुझे।'

माँ के आँसू, बहन के आँसू, भाभी के आँसू और···और स्वयं उसके अपने आँसू ! वह जोर-जोर से नहीं रोता, अश्रु उसके गालों पर ढुलक नहीं आते, तो इसका यह अर्थ तो नहीं, कि उसकी व्यथा उनकी पीड़ा से कुछ कम है। उसका रुदन ही तो यथार्थ में रुदन है। गालों पर बहते आँसू हृदय को धोकर स्वच्छ कर डालते हैं, पर हृदय में ढुलकते आँसू उसमें नित नये छिद्र बना जाते हैं।

श्रीधर की प्रेयसी थी अरुणा, पर उसकी पत्नी है सिन्धु। बात कुछ अटपटी-सी अवश्य है, पर असम्भव नहीं।

श्रीधर और अरुणा संग-संग पढ़ते थे यूनिवर्सिटी में। श्रीधर का विचार था कि अरुणा उससे स्नेह रखती है। उसे अनेक पत्र लिखे थे उसने। उत्तर में पाई थी, केवल एक मोहक मुसकान।

जब उसे पता लगा था कि उसके सारे प्रयत्न निष्फल हुए कि उसकी अरुणा का विवाह किसी और के संग सम्पन्न होने वाला है, तो उसे लगा था कि फूट-फूटकर रो दें। बिलख-बिलखकर समाज की शीर्ण दीवारों में दरारें डाल दे। चलती ट्रेन के आगे कूद पड़े, या कुँए में डूब मरे।

मन की बातें पूरी न हो पाई थीं, तब उसने सोचा था कि उसे भूख लगनी बन्द हो जायेगी। उसका मुख पीला पड़ता जायेगा, उसे क्षय रोग हो जायेगा। उसे मूर्छाएँ आने लगेंगी। उसका हृदय कमजोर होता जायेगा। उसके मुख से ढेर-सा रक्त गिरने लगेगा।

जब अरुणा की डोली चलेगी, संग-संग उसकी अर्थी भी चलेगी।

पर कहाँ! कुछ भी तो नहीं हुआ। उसकी आँखों के सामने ही, अरुणा किसी अपरिचित का दामन थामे चल दी और कदली-थम्भ की ओट में खड़ा, वह देखता ही रह गया। न उसके हृदय से रक्त की धार बही, न उसके नयनों से नीर झरा, अपितु जलते हृदय से उसने सोचा था—अरुणा कितनी कायर निकली, उसने एक भी विनती-भरा पत्र नहीं लिखा, एक बार भी उसकी सहायता नहीं माँगी। भीगी बिल्ली की तरह दुबक कर चल दी। समझा होगा कि वह उसकी स्मृति में कुढ़-कुढ़कर रोयेगा। जल-जल मरेगा। पर वह पुरुष है, उसमें इतनी क्षमता है कि उस गर्विता को यथार्थ दण्ड दे सके। किसी से भी विवाह कर दिखा देगा वह अरुणा को, कि उसकी दृष्टि में वह कितनी नगण्य थी!

पुत्र की भीष्म प्रतिज्ञा टूटती देख माँ आह्लाद से विह्वल हो उठी थी। उसका विचार बदल सके, इससे पूर्व ही, उन्होंने चटपट उसका विवाह रचा दिया था।

सिन्धु का आँचल थाम वह घर ले आया। कुलदेवता की पूजा के उपरान्त अपने कमरे में घुसा, तो सामने ही शृंगार-मेज पर अरुणा का मुसकराता चित्र दीख पड़ा।

कमर पर दोनों हाथ रख, वह चित्र के समक्ष जा खड़ा हुआ। पूछा—"अरुणा, अब कहो दिल का हाल!"

किन्तु अरुणा पूर्ववत मुसकरा रही थी।

सहसा अनुताप की आँधी उसके सर्वाङ्ग को झकझारकर बह गई थी। उसे लगा था कि यह विवाह कर उसने भूल की है, भयंकर भूल। नारी की रीति-नीति आज तक कौन समझ सका है। कौशलपूर्वक पति को तलाक दे, यदि अरुणा आज उसके पास लौट आये? तब!

अपनी मुक्ति की सब राहें उसने अपने ही हाथों बन्द कर दीं।

उसके असफल प्रेम का सम्पूर्ण निष्फल रोष बेचारी सिन्धु पर उबल पड़ा। सरेशाम से ही वह द्वार की चटखनी चढ़ा, शैया में पड़ रहा।

भाभी के परिहास-वचन, बहन के अनुरोध, माँ की मिन्नतें सभी बन्द द्वार से टकरा-टकराकर लौट आये।

नवागता वधु का यह अपमान ! रोष से माँ के नेत्र छलक उठे। बहन उस रुद्ध द्वार को अपनी कोमल मुट्ठियों द्वारा तोड़ने में जुट पड़ी।

सिन्धु ने उद्विग्न जेठानी का हाथ पकड़कर खींचा। कहा, "चलो भाभी, चलो। बड़ी नींद आ रही है मुझे।" गिने-चुने शब्द, पर कितना अपार प्रपीड़न था स्वर में। भाभी ने दृष्टि उठा, उस परिणीता की ओर देखा। उसके नयनों में झलकते हठ, और मन में छिपे अभिमान को समझा। ननद का हाथ पकड़ वह उसे अपने कमरे में घसीट ले गयी। उनके पीछे-पीछे गई सिन्धु।

नाते-रिश्तेदार गये। भैया-भाभी गये और एक दिन जाना श्रीधर ने कि माँ भी जा रही है। लाख कहा उसने, पर माँ थी कि मानी ही नहीं, घर की कुंजियाँ उसे सौंप, बेटी को साथ ले, वह अपने बड़े बेटे के पास चली गयीं।

माँ के यूँ चले जाने का श्रीधर को दुःख था, पर साथ ही कुछ सन्तोष भी। अब नहीं सुनने पड़ेंगे माँ के ताड़नामय उपदेश, न बहन की झिड़कियाँ।

पर शीघ्र ही उसे पता लग गया था कि उसकी यह धारणा कितनी गलत थी। नौकर स्वेच्छाचारी हो उठे थे, घर की सुव्यवस्थित व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी थी।

माँ के अनुरोध, बहन के आदेश सुनने को उसके कान आतुर हो उठे थे। एक-एक कर तीन-चार पत्र माँ को लिखे थे उसने, किन्तु एक का भी उत्तर नहीं मिला था। उसकी सहन-शक्ति अब जवाब देने लगी थी।

कक्ष में अन्धकार उत्तरोत्तर गहन होता जा रहा था। किसी ने बिजली का बटन दबाया, चारों ओर आलोक विकीर्ण हो उठा। कोहनियों के बीच में से सिर उठा श्रीधर ने पूछा—"कौन ?"

पीछे खड़ी थी रमिया। बोली, "भोजन तैयार है, सा'ब।"

"भेजो।" श्रीधर ने कहा।

भोजन की थाली आई। आलू में नमक नहीं था। पराँठा जला हुआ था। टे में किरकिराहट थी। उसने थाली उठाकर फेंक दी।

भयभीत चन्दन हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। उसने गरज कर कहा—"ले ओ यह सब ! ऐसे खाने से न खाना अच्छा !"

स्थिति जब असह्य हो उठती है, तो उचित-अनुचित का ज्ञान लोप-सा होने ता है। रोष में भरा, दनदनाते हुए, वह अन्दर सब कमरों में चक्कर काटने लगा। े खोज रहा था, वह मिली एक छोटी-सी कोठरी में, धरती पर चटाई बिछाये बैठी पढ़ रही थी।

कमरे में घुसते ही वह गरज उठा, "तुमसे इतना भी नहीं होता कि यही देख कि नौकर निरे रेत की रोटी तो न बनायें।"

पति को देख सिन्धु हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई थी। मृदु स्वर में बोली—"वह रहा था कि साहब ने बाजार से पिसा-पिसाया आटा लाने को कहा है।"

ही नहीं !"

उसका भाव तत्क्षण बदल गया। वह खिन्न हो उठा। धीरे से हाथ बढ़ा, उसने वे कोमल अंगुलियाँ अपने माथे पर से हटा दीं।

जल की एक बूँद उसके माथे पर चू पड़ी। उसने नेत्र खोलकर देखा, निःशब्द ही जो आई थी, निःशब्द ही वह चली जा रही थी।

तैयार होने में कुछ देर हो गई थी। शीशे के सामने खड़ा श्रीधर ... टाई की गाँठ बाँधने का प्रयत्न कर रहा था, कि शीशे में किसी की प्रतिच्छाया आ पड़ी। उसका हृदय जोर-जोर से बज उठा। टाई टेढ़ी हो गई। क्रुद्ध हो उसने उसे गले से खींच निकाला। पूछा—"क्या है ?"

सिन्धु आगे बढ़ी। हाथ का पत्र उसके सामने रख दिया। बोला—"भैया का पत्र आया है।"

"तो ?" श्रीधर ने पूछा।

"कुछ नहीं, उन्होंने कुछ दिन के लिए मुझे बुलाया है।"

श्रीधर ने पलटकर उस आनतमुखी रमणी की ओर देखा। उसका यह संकोच ही तो उसके हृदय को चीरे डालता है। स्वर को यथासम्भव रुक्ष बनाते हुए कहा—"तुम जाना चाहती हो ?"

"मैं नौकरों को अच्छी तरह समझा जाऊँगी। आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा।" सिन्धु ने कहा।

"अच्छा ! तो सब प्रोग्राम पहले से ही तय कर लिया है !" उसका पिघलता हृदय कठोर हो उठा। कहा—"कष्ट की मुझे परवाह नहीं, पर तुम अभी न जा सकोगी।"

"कारण जान सकूँगी ?" सिन्धु ने पूछा।

उसका रोष-युक्त स्वर सुन श्रीधर को और बल मिला। गरजकर कहा—"नहीं !" और हाथ की टाई पलंग पर फेंक बाहर निकल गया।

सिन्धु ने चाहा था कि रो दे, किन्तु वह हँस पड़ी। न जा पाने का दुःख था, परन्तु मन में अभिमान कुलाचें भर रहा था। पति की दृष्टि में उसका मान घटा या बढ़ा ? क्या वह सही अनुमान लगा सकी थी ! शीशे के सम्मुख खड़े हो उसने स्वयं को निहारा, अपनी प्रतिछवि की ओर मुँह बिरा वह खिलखिलाकर हँस दी। पलंग पर से टाई उठा, आलमारी में रखते समय, उसके अन्तर का उल्लास गीत बन, उसके अधरों पर फूट पड़ा था।

होली आने में अभी भी तीन-चार दिन रहते थे, किन्तु घर-घर आयोजन प्रारम्भ हो गये थे। उड़ती सुगन्ध का अनुसरण कर श्रीधर रसोई में जा पहुँचा। पैरों की खटपट सुन सिन्धु ने दृष्टि ऊपर उठाई।

नयनों से दो नयन मिले। हाथों ने बढ़ आँचल सिर पर खींच लिया। लाज निमिलित दो नयन पूछ उठे—क्या है ?

सदा की तरह वे दो रतनारे नयन उसे मोहान्वित न कर सके। उसकी दृष्टि

उलझी हुई थी, सिर के उस भाग पर, जहाँ फटी धोती के नीचे से काले-काले केश झाँक रहे थे।

जो कुछ बहाने सोचकर आया था, वे सब न-जाने कहाँ खो गये। याद रहा केवल यह कि सामने बैठी नारी उसकी पत्नी है, और वह फटे वस्त्र पहने उसकी उदर-पूर्त्ति के लिए साधन जुटा रही है, बैठी-बैठी चूल्हे के आगे तप रही है।

पूछा—"तुमने यह फटी धोती क्यों पहन रखी है?"

सिन्धु चौंकी। चौंककर उसने पल्ला ऐसे खिसका लिया कि फटा भाग दीखना बन्द हो गया। बोली—"मेरी मर्जी!"

पैर पटकते हुए वह तुरन्त लौट आया। उसके कमरे में जा सन्दूक का ढक्कन उठाकर देखा तो वह अवाक् रह गया। उसमें गिने-चुने केवल दो-चार कपड़े रखे थे। उसके हाथ से ढक्कन छूट गया।

एक उच्च न्यायाधीश की बेटी, सिविल सर्जन की पुत्र-वधू, एक डिप्टी कलक्टर की पत्नी—आज वह एक साधारण नौकरानी के समान फटे वस्त्र पहने घूमती है, जिससे कि दुनिया देख सके कि उसका पति उसमें अनुरक्त नहीं।

यह निर्लज्जता, यह ढोंग, ये ढकोसले! श्रीधर का रक्त खौल उठा। उसने पुकारा—"रामी! मालकिन को यहाँ भेजो!"

सिन्धु आई, देखा कि श्रीधर हाथ में सौ-सौ के नोट लिये खड़ा है। उसे देखते ही बोला—"चलो, बाजार चलें।"

सिन्धु ने कहा—"नहीं।"

"नहीं?" श्रीधर अवाक् रह गया। पूछा—"क्यों?"

"मेरी मर्जी!"

सिन्धु लौट रही थी कि देखा श्रीधर नोट फाड़ने का उपक्रम कर रहा है। उसने लपककर फुर्ती से दोनों नोट उसके हाथ से छीन लिये। कहा—"ऐसे ही फालतू हैं तो लाओ मुझे दे दो।"

हलकी हँसी की लहर बिखेरती वह चली गई। हतबुद्धि-सा श्रीधर उस ओर ताकता खड़ा-का-खड़ा रह गया। क्या वह समझ सका कि सिन्धु को पति की दया का पुरस्कार नहीं, प्रेम का उपहार चाहिए!

पत्र था सिन्धु के नाम किन्तु हस्तलिपि लग रही थी किसी पुरुष की-सी। श्रीधर का मन हुआ कि खोलकर देख ले। दूसरे ही क्षण उस अदम्य इच्छा को वहीं दबा, उसने पुकारा—"सिन्धु!"

सिन्धु आई, निर्विकार हो बोली—"क्या?"

श्रीधर ने उसकी ओर देखे बिना ही पत्र आगे बढ़ा दिया। पति के प्रथम आवाहन ने कैसी उथल-पुथल मचा दी थी उसके नन्हे-से मन में, इसका तनिक भी आभास उसके मुख पर न था। हाथ में पत्र पकड़ चुपके से लौट चली, तो श्रीधर ने पूछ ही लिया—"किसका है?"

सिन्धु के नयनों में हास की रेखाएँ उभर आईं। बोली—"क्यों बताऊँ ?"

वह भाग रही थी, पर भाग न सकी। श्रीधर ने लपककर पत्र उसके हाथ से छीन लिया। कहा, "न बताओ, मैं स्वयं ही देखे लेता हूँ।"

मानो अत्यधिक निरुपाय हो, सिन्धु ने बनावटी रोष से कहा—"अनुमति लिये बिना, किसी के प्रिय-जन का पत्र पढ़ने से पाप लगता है।"

श्रीधर के मन में छिपा चोर उछलकर सिर ऊपर आ बैठा। उबलकर पूछा—"कौन है यह भाग्यशाली ?"

मजाक में कही बात को जो सच समझ बैठे, उससे मजाक करने से बढ़कर मूर्खता और नहीं, परन्तु सिन्धु पर तो आज नशा-सा छाया था। पति के साथ आज पहली बार उसकी इतनी बातें हुई थीं। इस सुवर्ण अवसर को वह यूँ ही नहीं गँवा देना चाहती थी। बोली तो स्वर में उपहास छलक रहा था—"नाम सुनकर ही क्या करोगे ! तुम उसे पहचानोगे नहीं। उसका नाम है—कुमार अरुण चौधरी।"

श्रीधर ने चर्र से लिफाफे के दो टुकड़े कर डाले। क्रोध से उफनकर कहा—"निर्लज्जा ! परपुरुष से नाता जोड़ने से पहले तुझे मौत क्यों नहीं आई !"

सिन्धु हँसी। कहा—"परपुरुष कौन है ? वह या तुम ?"

श्रीधर कुछ समझ न सका। पूछा—"इसका अर्थ !"

धरती पर पड़े फटे टुकड़ों को समेटते हुए सिन्धु ने कहा, "इस सीधी-सी बात का भी अर्थ न समझ सको, इतने मूर्ख तो नहीं हो तुम। बताओगे जरा ? क्या है परपुरुष की परिभाषा ?"

श्रीधर ने हतबुद्धि के समान प्रश्न किया—"परिभाषा !"

"हाँ परिभाषा !" सिन्धु तनकर बोली—"परपुरुष कहते हैं किसी अन्य नारी के स्नेह-धन को। किसी अन्य नारी में अनुरक्त पुरुष को। उसको नहीं जो स्वयं कुमार हो और किसी कुमारिका से नेह जोड़ना चाहता हो।"

श्रीधर का माथा चकरा गया। उद्विग्न हो कह बैठा, "तुम कहना क्या चाहती हो, सिन्धु !"

"क्या चाहती हूँ, यह भी मुझे बताना होगा !" सिन्धु ने व्यंग्य किया, "तुम पुरुषों का पौरुष शायद इसी में है कि असहाय बालिकाओं को अथक प्रयत्नों से अन्धकूप में ढकेल देने के पश्चात् उनके विषय में सब-कुछ भूल जायें। लानत है तुम्हारे इस निर्बल प्रेम पर ! तुम-जैसे मेरे भी अनेक प्रेमी थे। कालिज तक पहुँचना कठिन हो जाता था। एक महाशय थे, जो नित्य एक खास मोड़ पर मिलते थे और मुझे देखते ही खीसें निकाल, गुलाब का एक फूल मेरे ऊपर फेंक दिया करते थे। एक और थे, जो आगे-पीछे से निकलते थे, तो मेरी आँखों पर, मेरी अँगुलियों पर शेर पढ़ा करते थे।"

श्रीधर के हृदय में ईर्ष्या जाग उठी। बहुत चाहा कि न पूछे, किन्तु अधर बोल ही उठे, "उन दोनों में से किसके स्नेह का प्रतिपादन किया था तुमने ?"

सिन्धु ने देखी उसकी विह्वल-सी दृष्टि, जो उसकी सुकोमल देह-यष्टि का

परिभ्रमण कर रही थी। खिलखिलाकर कहा—"प्रतिदान ! जी मैं इतनी मूर्ख नहीं थी कि व्यर्थ की क्षणिक भावुकता में पड़, अपना सम्पूर्ण जीवन नष्ट कर डालती। मैं और मेरी सखी मिलकर हम खूब हँसा करते थे तुम्हारे पागलपन पर ! देखोगे वे प्रेम-पत्र जो आज भी मेरे पास सुरक्षित रखे हैं ? अभी लाई।"

श्रीधर कुछ कह सके, इससे पूर्व ही फाड़े जा चुके पत्र के टुकड़े नीचे गिरा, वह जा चुकी थी।

अवाक् श्रीधर, प्रस्तर-प्रतिमा के समान अचल हो, उसी ओर ताकता, खड़ा-का-खड़ा रह गया।

सिन्धु ? सिन्धु ? वही सिन्धु जिसके कण्ठ-स्वर से निकले एक शब्द को सुनने के लिये हफ्तों कान लगाने पड़ते थे, आज कैसे इतनी मुखर हो उठी थी। इतनी निर्लज्ज ! उफ !

परन्तु हतभागे युवकों की भावुकता की हँसी उड़ाना क्या वास्तव में निरी निर्लज्जता है ! उसका अन्तर्मन रह-रहकर उससे पूछ रहा था।

पैरों के पास पत्रों की एक गड्डी आ गिरी तो उसकी समाधि टूटी। श्रीधर ने दृष्टि उठाई, पर वह केवल उसकी पीठ पर लहराती केश-राशि ही देख सका, पत्र उसके सामने फेंक सिन्धु भाग गई थी।

असीम व्यंग्य से उसका तन फूल-फूल उठा। कितनी ही ढीठ क्यों न बने, पर नारी की निर्लज्जता की एक सीमा होती है—प्रेमी के पत्र, अपनी आँखों के सामने, पति द्वारा पढ़े जाना, वह गवारा नहीं कर सकी।

पल-भर की ऊहापोह के उपरान्त उसने प्रथम पत्र उठाया, प्रथम पंक्ति पर दृष्टि पड़ते ही उसके हाथ से पत्र छूट गया। आँखों के आगे अँधेरा-सा छाने लगा। चकराकर वह, धम्म से वहीं नंगी धरती पर बैठ गया। उसका हृदय भय और संशय से डोल उठा। पत्र की गड्डी में से, उसने अनेक पत्र खोल-खोलकर देख डाले। उसका संशय ठीक ही निकला। लाज, भय, आतंक से उसका सर्वांग प्रकम्पित हो उठा

ये सब पत्र वही थे, जो उसने कभी अरुणा को लिखे थे।

पहाड़ की चोटी पर से कोई फिसल जाये और सहायता के लिये हाथ बढ़ाय, कुछ ऐसे ही भाव से उसके हाथ फैले, किन्तु मुट्ठी में आया केवल एक खण्डित पत्र। पत्र था अरुणा का। लिखा था उसने—

"सखी मेरी एकाकिनी, तुझे लाख-लाख प्यार।"

३२

धरती की बेटी

चित्रा को गये दो घण्टे से अधिक हो चुके थे। नित्य तो वह इतनी देर नहीं लगाती थी। फिर आज इतनी देर क्यों हुई ? कान्ता का हृदय व्याकुल-सा हो उठा था। सोच रही थी—पत्थर पड़ें इस अक्ल पर ! क्यों उसे अकेले जाने दिया ? पढ़ी-लिखी है तो क्या, है तो नारी ही। पुरुष की शारीरिक शक्ति के आगे कैसे पार पायेगी ? और फिर विशेषकर मन्दिर में—गुंडों के क्रीड़ास्थल···

इस-उस कमरे में चक्कर काट, बाहर-भीतर झाँक, जब किसी प्रकार भी उसका समय नहीं बीत रहा था, उसे सामने से शोभा की दादी जाती दिखाई दीं।

डूबते हृदय को आधार मिला। उसने पुकारा, "शोभा की दादी ! अरे, सुनो तो !"

शोभा की दादी ने ऐसा भाव दिखाया मानो वह कतराकर निकल जाना चाहती थीं, पर जबरन पकड़ ली गईं। वहीं खड़े-खड़े बोलीं, "कहो, क्या काम है ?"

कान्ता चकित रह गई। कहा, "अरे ! वाह, बहन ! गंगाजी से लौटते समय मुझसे दो बात किये बिना तुम्हारे पैर इस घर के आगे से नहीं बढ़ते थे, और आज दो दिन हो गये सूरत तक नहीं दिखाई। राह चलते पकड़ लिया आज तो कहती हो, काम बताओ। आओ, बैठो न थोड़ी देर।"

शोभा की दादी मानो कुछ कहते-कहते रुक गईं। चारों ओर से धोती समेट, एक लम्बे डग से चौखट लाँघ वह अन्दर आ पहुँचीं। नाक चढ़ाकर बोलीं, "बहन, ये किवाड़ बन्द तो कर लो। कहीं किसी ने मुझे यहाँ बैठे देख लिया तो गजब ही हो जायेगा।"

कान्ता चिनगारी-सी चिटख उठी, "क्यों ? मेरे घर में कौन-से प्रेत की छाया आ पड़ी कि यहाँ खड़ा देखकर ही कोई तुम्हें बदनाम कर देगा ?"

भोला-सा मुख बना शोभा की दादी ने कहा, "मैं क्या जानूँ, बहन ! मुहल्ले की बात ठहरी। जिसके जो मन में आता है, बकता है। दस उलटी तो दस सीधी। पर तुम जानो, मुहल्ले में रहना हो तो उनकी बात मानकर चलना ही पड़ता है।"

कान्ता मन-ही-मन डर गई थी, पर उसके मनोभाव मुख पर प्रकट न हो पाये। यथासम्भव कठोर स्वर में पूछा, "क्या कहते हैं मुहल्ले वाले ?"

शोभा की दादी ने मुँह बिचकाकर कहा, "अरे, दुनिया की बातें ! किस-किस

की सुनोगी ! बहुरानी कहाँ है ?"

वात्सल्य की मधुरिमा से कान्ता का मुख दीप्त हो उठा। कहा, "मन्दिर गई थी। आती ही होगी।"

* * *

शोभा की दादी का मुँह हँसी से कानों तक फैल गया—"वही तो, वही तो। अच्छा, तो अब चलूँ, बहन।"

एक फुट ऊँची छलाँग मार चौखट पार कर, छोटी-छोटी तीन सीढ़ियाँ उतरते ही वह ठिठककर खड़ी हो रहीं। समेटी हुई धोती नीचे छोड़ते हुए बोलीं, "और भी कभी गई थी बहू पूजा करने या आज ही गई है ?"

कान्ता ने गर्व से पुलककर कहा, "रोज जाती है।"

"तुम्हारे तो घर में ठाकुरजी की मूर्ति है, फिर बहू को मन्दिर जाने की जरूरत क्यों पड़ी ?"

कान्ता पल-भर को दुविधा में पड़ी, पर तुरन्त सँभलकर कहा, "उसने बचपन से मन्दिर में ही पूजा की है। वह अपना नेम नहीं तोड़ना चाहती थी।"

गरदन हिलाकर शोभा की दादी आगे बढ़ी ही थीं कि सामने से ठकुराइन आती दिखाई दीं। बोलीं, "कहो, पुरोहितानी, क्या कह रही थीं सेठानी ?"

शोभा की दादी ने मुँह बिचकाकर कहा, "कह रही थीं कि बहुरानी मन्दिर गई हैं पूजा करने।"

द्वार पर खड़ी कान्ता ने उन दोनों के प्रश्नोत्तर सुने। साथ ही सुनी उनकी खिलखिलाहट। अत्यन्त क्रुद्ध हो वह आँगन का दरवाजा बन्द कर ही रही थी कि ठकुराइन ने पलटकर कहा, "तुम भी कल बहुरानी के साथ मन्दिर हो आना, बहन। तुम्हारे लोक-परलोक दोनों सुधर जायेंगे।"

धमाके से दरवाजा बन्द कर कान्ता चली तो आई, पर न-जाने कैसी एक अव्यक्त आशंका से उसकी देह थर-थर काँपने लगी।

आदर्श कहे जाने वाले उसके घर के बारे में यह कैसी दबी-दबी-सी ज्वाला सुलग उठी है मुहल्ले में ! अनुकूल हवा पा भड़क उठने से पहले ही इसे शान्त कर देना होगा।

पर बात क्या है—यह किससे पूछे ! कैसे पता लगाये ?

नहीं, वह किसी से क्यों पूछे ! उसकी चित्रा चरित्रभ्रष्ट कदापि नहीं हो सकती। उसके आते ही सब बातें स्पष्ट हो जायेंगी। मन्दिर न जाकर यदि वह और कहीं जाती भी होगी तो छिपायेगी कदापि नहीं। झूठ बोलना उसका स्वभाव नहीं।

कुछ दिन हुए, जब उसका छोटा बेटा देवेन बीमार पड़ा था—तब यही तो थी वह चित्रा, जिसने दिन को दिन नहीं जाना और रात को रात नहीं समझा। उसका बेटा यदि आज हँसता-खेलता घूमता है, तो यह इसी चित्रा की अथक सेवा-सुश्रूषा का परिणाम है।

जिस चित्रा ने अपने देवर की चिन्ता में दो दिन अपने मुख में जल तक नहीं डाला था, वही चित्रा ऐसा कोई काम नहीं कर सकती, जिससे कि उसके उसी देवर को मुहल्ले में मुख छिपाना पड़े।

चित्रा आई। उसके थके हुए व्यथित मुख की ओर देख, न जाने क्यों कान्ता की आँखें भर आईं। क्या कहना है, क्या पूछना है—वह सब भूल गई। पूछा, "क्या तबीयत ठीक नहीं है, बिटिया?"

अपनी दोनों आँखों पर हथेलियाँ रख, दबाते हुए, चित्रा ने कहा, "नहीं, माँ! विशेष कुछ नहीं। तनिक सिर में दर्द है।"

"तू भी तो, बेटी, बात मानती नहीं! कहाँ मन्दिर, कहाँ हमारा घर! नित्य धूप में आना-जाना। कैसी जिद है तेरी, कि नित्य पैदल ही जाती है। गरमी के दिन ठहरे। चल, थोड़ा लेट जा चलकर। मैं शिकंजवी बना लाती हूँ।"

चित्रा हठात् हँस पड़ी। सास के गले में अपने दोनों हाथ डालते हुए बोली, "कौन कहेगा, माँ, कि तुम वास्तव में मेरी माँ नहीं हो।"

भावना के अतिरेक से कान्ता का गला भर आया। कहा, "चल, हट। बातें बनाने चली है! मेरी बातें न मानने का यह अच्छा ढंग निकाला है तूने, पर आज इतनी देर कहाँ हुई?"

चित्रा के हँसते मुख पर उदासी बिखर गई। बोली, "मन्दिर के द्वार पर एक रोगी मिल गया था, माँ। सच कहती हूँ, यदि तुम उसकी दशा देख पातीं तो रोए बिना न रहतीं। उसी को डॉक्टर के पास ले गई थी।"

"अरी, दयामयी!" सास ने उसका चिबुक पकड़ जरा ऊपर को उठाते हुए कहा, "संसार में लाखों-करोड़ों दीन-दुखी हैं। तू किस-किसका दुख दूर करेगी, बिटिया? आगे से कभी देर न करना। मन्दिर से सीधे घर आया कर।"

"अच्छा, माँ।" भली लड़की के समान चित्रा ने बात मान सिर हिला दिया।

* * *

दिन के उजाले में पुत्रवधु का करुण मुख देख कान्ता की सब आशंकाएँ दूर हो गई थीं। किन्तु रात्रि की नीरवता में सुबह की वही घटना उसके समस्त शरीर को जड़ीभूत कर बैठी। सारी रात वह सो न सकी। सैकड़ों करवटें बदलकर भी ठकुराइन और पुरोहितानी की बातों का कारण वह समझ न सकी।

बहुत-कुछ सोच-समझकर उन्होंने यही निश्चय किया कि कल चुपके से बहू का पीछा कर, इस रहस्य का पता लगाना होगा। व्यर्थ की लज्जा में पड़ इस गृहस्थी को मँझधार में नहीं बहाया जा सकता।

पति परलोकगामी हो चुके हैं। पुत्र विदेश में अध्ययन के लिये गया हुआ है। देवेन अभी बहुत छोटा है। उससे कुछ नहीं कहा जा सकता। उन्हें स्वयं ही पता लगाना होगा। पहले कभी उन्होंने अकेले घर के बाहर पैर नहीं निकाला यह सच है, परन्तु कुलवधु होकर यदि वह कुल की रक्षा का भार न उठा सकें तो उनका कुलवधु

हलाना ही व्यर्थ है।

निश्चय ही, उनकी वे समस्त आशंकाएँ निर्मूल निकलेंगी ही, और तब सारे हल्ले को आड़े हाथों लिया जा सकेगा—यह सोच वह पुलकित हो उठीं।

* * *

निधड़क भाव से चित्रा बढ़ी चली जा रही थी। उसके पीछे-पीछे जो एक हिला, रेशमी चादर में अपना सर्वांग लपेटे और कमर तक घूँघट लटकाये चली आ ही थी, उसकी ओर उसका ध्यान भी नहीं गया।

वह और कोई नहीं, कान्ता ही थी। ज्यों-ज्यों मन्दिर की राह पीछे छूटती जा ही थी, उनके हृदय की धड़कन बढ़ती जा रही थी।

आखिर चित्रा एक आलीशान इमारत के पिछवाड़े जा रुकी। कान्ता का हृदय भय से काँप उठा—'तो क्या सच ही चित्रा आचरणहीन है?'

लकड़ी का एक छोटा-सा चरमर करता द्वार खोल चित्रा अन्दर प्रवेश कर चुकी थी। दो पल की दुविधा के बाद कान्ता ने भी उसका अनुसरण किया।

सहसा उसके पैर ठिठक गये। नयनों से ज्वाला फूट पड़ी। मन ने कहा—'यह दृश्य देखने से पहले तू मर क्यों न गई!'

सामने ही एक साढ़े तीन टाँग की टूटी खटिया पर, जिसके काले चीकट बान धरती को छूने का प्रयत्न कर रहे थे, एक जीर्ण-शीर्ण काया पड़ी कराह रही थी। उसके मुख पर झुकी चित्रा उससे न-जाने क्या पूछ रही थी।

घूँघट जरा और ऊपर उठा, कान्ता ने दृष्टि ऊँची उठाई। खाट के पास एक बुढ़िया मटमैली धोती पहने खड़ी थी, जिसमें स्थान-स्थान पर पचासों पैबन्द लगे थे। उसके समीप ही खड़ी थी एक और नारी। वह युवती है, या किशोरी, अथवा बाला—यह कान्ता की अभ्यस्त आँखें भी न पहचान सकीं। माथे तक सरक आये घूँघट में से जितना भी उसका मुख दिखाई दे रहा था, उस पर अमिट अश्रुओं द्वारा वेदना, निराशा और टूटे अरमानों की गुप्त कहानी अंकित हो उठी थी।

जरा आगे बढ़ कान्ता ने देखा—क्वार्टरों की यह पंक्ति दोनों ओर दूर तक चली गई थी। जिधर भी दृष्टि उठती थी, काले-काले चूल्हों के पास, टीन के एक-द टूटे-फूटे डिब्बे और पिचके हुए दो-चार बरतनों के अतिरिक्त कुछ दिखाई न पड़ता था।

कमर में केवल एक-एक लँगोटा भर लपेटे, नाक से बहकर आते पानी को कभी पोंछते और कभी चाटते, जो बालक धूल में खेल रहे थे, उनसे अधिक स्वच्छ स्वस्थ और आकर्षण कान्ता के घर में पलने वाला कुत्ता था।

मानो सम्पूर्ण विश्व की दरिद्रता, साकार रूप रच, यहाँ भीषण ताण्डव कर रही थी।

भय, विस्मय, आशंका और उत्तेजना से कान्ता को मानो लकवा मार गया

*   *   *

उधर चित्रा बेचैन हो बार-बार अपनी घड़ी पर दृष्टि डाल रही थी। तभी सामने से एक लड़का भागता आया। चित्रा ने लपककर उसके हाथ से बैग ले लिया।

हठात् कान्ता को स्मरण हो आया कि चित्रा डाक्टर है। साथ ही उस विवाद की स्मृति भी उसका मस्तिष्क झकझोर गई, जिसमें उसने स्पष्ट रूप से चित्रा को चिकित्सा न करने का आदेश दे डाला था। अनजाने ही उसके पैर आगे बढ़ चले। अनजाने ही उसका आँचल सिर तक खिसक आया।

बरामदे के नीचे, सामने एक अपरिचित, सम्भ्रान्त महिला को खड़े देख वह युवती चीख-सी उठी। साथ ही उसने अपनी सास को कोहनी से जरा-सा ठेल दिया। विस्मय-विस्फारित नयनों से वृद्धा ने देखा—सिल्क की साड़ी में सज्जित कान्ता को, जिसके हाथों में सोने के कड़े थे, कानों में हीरे के कुण्डल दमक रहे थे और माथे पर चन्दन चमचमा रहा था।

चित्रा और वृद्धा को मानो एक साथ ही होश आया। वृद्धा आगे बढ़ी, और चित्रा पीछे हटी। उसके हाथ से दवा की शीशी छूट पड़ी। भय-विजड़ित कण्ठ से वह बोल उठी, "माँ, तुम !"

कान्ता के मन में छिपा शैतान हर्ष से फूल उठा। गर्व ने पुलककर कहना चाहा, "हाँ, मैं ! देख लिये तुम्हारे गुण, तुम्हारी पूजा-अर्चना ! इसीलिए नित्य घर से भागकर आती थीं; झूठ बोल-बोलकर इन्हीं चमारों और भंगियों से मेल बढ़ाने ? नीच की बेटी कमीनों में नहीं घुले-मिलेगी तो क्या ब्राह्मणों से मेल करेगी !"

वृद्धा आगे बढ़ आई। धरती पर माथा टेक, उसने कान्ता को प्रणाम किया। कहा, "आप ही डाक्टरनी साहबा की माँ हैं, माँजी ? धन्य भाग्य हमारे कि आपने ऐसी सीता-सी सती बहू पाई। मेरी इस गरीबनी दुखिया बहू के माथे का सिन्दूर, आपके ही पुण्य प्रताप से बचा है, माँजी।"

कान्ता कुछ कटु वचन कहने ही जा रही थी, पर उसने विस्मित होकर देखा कि उसके चारों ओर भीड़ जमा हो गई है।

उस भीड़ में से किसी स्त्री ने एक छोटे से अर्धनग्न बालक को आगे ढकेलते हुए कहा, "चल रे, माँजी के आगे माथा टेक। यह आपका ही सेवक है, माँजी। डाक्टरनी साहबा इसे साक्षात् यमराज के हाथों से छीन लाई हैं। हैं, हैं, क्या करता है, पगले ! पीछे हट ! कहीं माँजी को छू न लेना।"

कान्ता सहसा चौंक उठी। उस चंचल बालक की निष्पाप आँखों में उन्हें अपने देवेन की भोली आँखें झाँकती दिखाई दीं। चित्रा के निर्मल नयनों में उन्हें दीख पड़ा एक अपूर्व भक्ति-भाव—कुछ वैसा ही, जैसा वह आतुर हृदय से अपने प्रभु को अर्पण करने का प्रयास किया करती थीं।

उन अगणित अधनंगे-अधभूखे शरीरों में उन्हें मौत की छाया झलकती दिखाई दी। दिखाई दिया कि कलियुग का कान्हा दूध, दही और गोरस से वंचित होकर दुःख, दारिद्रय और रोगों का ही आकण्ठ पान कर लेने को आतुर हो उठा है।

न जाने कैसी एक वेदना से उनका हृदय आलोडित हो उठा। उनके कानों में कोई चुपके से बोल उठा—"मृत्यु के आगे कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। मृत्यु के लिये कोई अस्पृश्य नहीं। मृत्यु ही इस लोक और परलोक की मिलन-भूमि है। इस सन्धिस्थल पर खड़े होकर ही मानव को अपना सच्चा मूल्य पता चलता है। पता चलता है कि इन अछूतों की देह की रचना भगवान् ने अपने उन्हीं हाथों से, उसी मिट्टी से की है, जिससे उसकी अपनी देह की।"

उनकी आँखों में आँसू छलक आये। अपराधी के समान चित्रा की ओर देख वह मुसकरा उठीं। आतुर से उनके दोनों हाथ, धरती पर माथा टेक प्रणाम करते हुए उस बालक की ओर बढ़ गये।